भ्यश्च यः क्तो विहितः स कर्त्तरि भवति, चकाराद् यथाप्राप्तं भावकर्मणोर्भवति ॥
उदा०—गत्यर्थेभ्यः—गतो देवदत्तो ग्रामम्, गतो देवदत्तेन ग्रामः, गतं देवदत्तेन। व्रजितो देवदत्तो ग्रामम्, व्रजितो देवदत्तेन ग्रामः, व्रजितं देवदत्तेन। अकर्मकेभ्यः—ग्लानो देवदत्तः, ग्लानं देवदत्तेन। आसितो देवदत्तः, आसितं देवदत्तेन। श्लिष—उपश्लिष्टा कन्यां माता, उपश्लिष्टा कन्या मात्रा, उपश्लिष्टं भवता। शीङ्—उपशयितो गुरुं देवदत्तः, उपशयितो गुरुर्देवदत्तेन, उपशयितं भवता। स्था—उपस्थितो गुरुं देवदत्तः, उपस्थितो गुरुर्देवदत्तेन, उपस्थितं भवता। आस—उपासितो गुरुं देवदत्तः, उपासितो गुरुर्देवदत्तेन, उपासितं भवता। वस—अनूषितो गुरुं देवदत्तः, अनूषितो गुरुर्देवदत्तेन, अनूषितं भवता। जन—अनुजातः पुत्रः कन्याम्, अनुजाता पुत्रेण कन्या, अनुजातं पुत्रेण। रुह—आरूढो वृक्षं देवदत्तः, आरूढो वृक्षो देवदत्तेन, आरूढं देवदत्तेन। जॄ—अनुजीर्णो देवदत्तो वृषलम्, अनुजीर्णो देवदत्तेन वृषलः, अनुजीर्णं देवत्तेन ॥

भाषार्थः—[गत्यर्था जीर्यतिभ्यः] गत्यर्थक, अकर्मक, एवं श्लिष, शीङ्, स्था, आस, वस, जन, रुह तथा जॄ धातुओं से विहित जो क्त प्रत्यय वह कर्त्ता में होता है, [च] चकार से यथाप्राप्त भाव कर्म में भी होता है ॥ श्लिष आदि धातुयें उपसर्ग-सहित होने पर सकर्मक हो जाती हैं। अतः सूत्र में उन का पाठ किया गया है। उदाहरणों में इन धातुओं के सोपसर्ग उदाहरण दिखाये गये हैं ॥ उदा० —गत्यर्थकों से— गतो देवदत्तो ग्रामम् (देवदत्त गांव को गया)। कर्म में—गतो देवदत्तेन ग्रामः (देवदत्त के द्वारा ग्राम को जाया गया)। भाव में—गतं देवदत्तेन (देवदत्त के द्वारा जाया गया)। अकर्मकों से—ग्लानो देवदत्तः (देवदत्त ने ग्लानि की), ग्लानं देवदत्तेन देवदत्त के द्वारा ग्लानि की गई)। आसितो देवदत्तः (देवदत्त बैठा), आसितं देवदत्तेन (देवदत्त के द्वारा बैठा गया)। श्लिष—उपश्लिष्टा कन्यां माता (माता ने कन्या का आलिङ्गन किया)। उपश्लिष्टा कन्या मात्रा (माता के द्वारा कन्या का आलिङ्गन किया गया)। उपश्लिष्टं भवता (आपके द्वारा आलिङ्गन किया गया)। शीङ्—उपशयितो गुरुं देवदत्तः (देवदत्त गुरु जी के पास रहा)। उपशयितो गुरुर्देवदत्तेन (देवदत्त के द्वारा गुरुजी के पास रहा गया)। उपशयितं भवता (आपके द्वारा रहा गया)। स्था—उपस्थितो गुरुं देवदत्तः (देवदत्त गुरु के पास उपस्थित हुआ)। कर्म एवं भाव में उदाहरण संस्कृतभाग में देख लें। आगे से यहाँ अर्थप्रदर्शनार्थ कर्तृ-वाच्य ही दिखायेंगे। आस—उपासितो गुरुं देवदत्तः (देवदत्त ने गुरु की उपासना की)। वस—अनूषितो गुरुं देवदत्तः (देवदत्त गुरु के पास रहा)। जन—अनुजातः पुत्रः कन्याम् (कन्या के पश्चात् पुत्र पैदा हुआ)। रुह—आरूढो वृक्षं देवदत्तः (देवदत्त पेड़ पर चढ़ा)। जॄ—अनुजीर्णो देवदत्तो वृषलम् (देवदत्त ने वृषल=नीच को मार-मार कर क्षीण कर दिया) ॥

दाशगोघ्नौ संप्रदाने ॥३।४।७३॥

दाशगोघ्नौ १।२॥ सम्प्रदाने ७।१॥ स०—दाशश्च गोघ्नश्च दाशगोघ्नौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अर्थः**—दाश गोघ्न इत्येतौ कृदन्तौ शब्दौ सम्प्रदाने कारके निपात्येते ॥ कृत्संज्ञकत्वात् कर्त्तरि प्राप्तौ, सम्प्रदाने निपात्येते ॥ 'दाशृ दाने' अस्माद् धातोः पचाद्यच् (३।१।१३४)। दाशन्ति तस्मै इति दाशः। गोघ्न इति टक्प्रत्ययान्तो निपात्यते। गां=दुग्धादिकं[1] घ्नन्ति=प्राप्नुवन्ति[1] यस्मै स गोघ्नोऽतिथिः ॥

भाषार्थः—[दाशगोघ्नौ] **दाश तथा गोघ्न कृदन्त शब्द** [सम्प्रदाने] **सम्प्रदान कारक में निपातन किये जाते हैं ॥ कृदन्त होने से कर्त्तरि** कृत् (३।४।६७) **से कर्त्ता में प्राप्त थे, सम्प्रदान में निपातन कर दिया है ॥ दाशः में दाशृ धातु से पचादि अच् सम्प्रदान कारक में हुआ है। तथा गोघ्नः में गो पूर्वक हन् धातु से टक प्रत्यय निपातन से हुआ है, जो कि प्रकृत सूत्र से सम्प्रदान में हुआ। हन् के 'ह' को कुत्व हो** हन्तेर्जि० (७।३।५४) **से, तथा उपधा का लोप** गमहनजनखनघसां० (६।४।९८) **से हुआ है ॥**
उदा०—**दाशः (जिसके लिये दिया जाता है)। गोघ्नः (गौ का विकार दूध आदि जिसके लिये प्राप्त किया जाता है, ऐसा अतिथि) ॥**

भीमादयोऽपादाने ॥३।४।७४॥

भीमादयः १।३॥ अपादाने ७।१॥ स०—भीम आदिर्येषां ते भीमादयः, बहुव्रीहिः **अर्थः**—भीमादयः शब्दा औणादिकाः, तेऽपादाने कारके निपात्यन्ते ॥ **उदा०**—बिभ्यति जना अस्मात् स भीमः, भीष्मो वा। बिभेत्यस्मादिति भयानकः ॥

भाषार्थः—[भीमादयः] **भीमादि उणादिप्रत्ययान्त शब्द** [अपादाने] **अपादान कारक में निपातन किये जाते हैं ॥ पूर्ववत् कर्त्ता में प्राप्त होने पर अपादान में निपातन हैं ॥** भियः षुग् वा (उणा० १।१४८) **इस उणादिसूत्र से 'ञिभी भये' धातु से मक् प्रत्यय, तथा विकल्प से षुक् आगम होकर भीमः (जिससे लोग डरते हैं), भीष्मः बना है। भयानकः में पूर्ववत् 'भी' धातु से** आनकः शीङ् भियः (उणा० ३।८२) **इस उणादिसूत्र से आनक प्रत्यय हुआ है। गुण अयादेश होकर भयानकः बना ॥**

ताभ्यामन्यत्रोणादयः ॥३।४।७५॥

ताभ्याम् ५।२॥ अन्यत्र अ० ॥ उणादयः १।३॥ स०—उण् आदिर्येषां ते उणादयः, बहुव्रीहिः ॥ **अनु०**—प्रत्ययः ॥ **अर्थः**—उणादयः प्रत्ययास्ताभ्याम्=सम्प्रदाना-

---

१. यहाँ 'हन हिंसागत्योः' धातुपाठ में पढ़े होने से घ्नन्ति का अर्थ प्राप्त करना है। क्योंकि गति के ज्ञान गमन और प्राप्ति तीन अर्थ होते हैं। गौ का अर्थ भी यहाँ निरुक्त के प्रमाण से (नि० २।५) गौ का विकार दूध या चमड़ा आदि है ॥

पादानाभ्यामन्यत्र कारके भवन्ति ।। कृत्संज्ञकत्वात् कर्त्तर्येव प्राप्ते कर्मादिष्वपि विधीयन्ते ।। **उदा०**—कृष्यतेऽसौ=कृषिः । तन्यते इति तन्तुः । वृत्तमिति वर्त्म । चरितमिति चर्म ।।

भाषार्थः—'ताभ्याम् पद' से यहाँ उपर्युक्त सम्प्रदान और अपादान लिये गये हैं ।। [उणादयः] उणादि प्रत्यय [ताभ्याम्] संप्रदान तथा अपादान कारकों से [अन्यत्र] अन्यत्र कर्मादि कारकों में भी होते हैं ।। उणादि प्रत्यय कृदतिङ् (३।१। ९३) से कृत्संज्ञक होते हैं । सो कर्त्ता में ही प्राप्त थे, अन्य कारकों में भी विधान कर दिया ।। उदा०—कृषिः (खेती) में इगुपधात् कित् (उणा० ४।१२०) इस उणादिसूत्र से कृष धातु से इन् प्रत्यय तथा इन् को कित्वत् कार्य हुआ है, जो कि प्रकृत सूत्र से कर्त्ता में हुआ । तन्तुः (धागा) में तन् धातु से सितनिगमि० (उणा० १।६९) से तुन् प्रत्यय हुआ है, जो कि प्रकृत सूत्र से कर्म में हुआ है । चर्म वर्त्म की सिद्धि ३।३।२ सूत्र पर देखें ।।

क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः ।।३।४।७६।।

क्तः १।१।। अधिकरणे ७।१।। च अ० ।। ध्रौव्य···र्थेभ्यः ५।३।। स०—ध्रौव्यञ्च गतिश्च प्रत्यवसानञ्च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानानि, तान्यर्था येषां ते ध्रौव्य···र्थाः, तेभ्यः, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ।। **अनु०**—धातोः, प्रत्ययः ।। **अर्थः**—ध्रौव्यार्थाः=स्थित्यर्थकाः (अकर्मकाः), प्रत्यवसानार्थाः=अभ्यवहारार्थाः । स्थित्यर्थेभ्यः (अकर्मकेभ्यः) गत्यर्थेभ्यः प्रत्यवसानार्थेभ्यश्च धातुभ्यो यः क्तो विहितः सोऽधिकरणे कारके भवति, चकाराद् यथाप्राप्तं भावकर्मकर्त्तृषु ।। **उदा०**—अकर्मकेभ्योऽधिकरणे—इदमेषामासितम्, इदमेषां स्थितम् । भावे—आसितं तेन, स्थितं तेन । कर्त्तरि—आसितो देवदत्तः, स्थितो देवदत्तः । गत्यर्थेभ्योऽधिकरणे—इदमेषां यातम्, इदमेषां गतम् । कर्मणि—यातो देवदत्तेन ग्रामः, गतो देवदत्तेन ग्रामः । भावे—यातं देवदत्तेन, गतं देवदत्तेन । कर्त्तरि—यातो देवदत्तो ग्रामं, गतो देवदत्तो ग्रामम् । प्रत्यवसानार्थेभ्योऽधिकरणे—इदमेषां भुक्तम् । कर्मणि भुक्त ओदनो देवदत्तेन । भावे—देवदत्तेन भुक्तम् ।।

भाषार्थः—[ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः] ध्रौव्यार्थक=स्थित्यर्थक (अकर्मक) गत्यर्थक तथा प्रत्यवसानार्थक धातुओं से विहित जो [क्तः] क्त प्रत्यय वह [अधिकरणे] अधिकरण कारक में होता है, [च] तथा चकार से यथाप्राप्त भाव कर्म कर्त्ता में भी होता है।। पूर्ववत् ही यहाँ भी अकर्मक धातुओं से क्त कर्त्ता एवं भाव में होगा, तथा सकर्मक धातुओं से कर्त्ता एवं कर्म में होगा, ऐसा जानें ।। गत्यर्थाकर्मकश्लिष० (३।४।७२) से गत्यर्थक तथा अकर्मक धातुओं से विहित क्त कर्त्ता में भी होता है, सो आसितो देवदत्तः, यातो देवदत्तो ग्रामम् आदि कर्त्ता के उदाहरण भी दिये हैं ।

सकर्मक धातुओं से जब कर्म वा सम्बन्ध नहीं होगा, तब वे अकर्मक ही मानी जायंगी, तो भाव में क्त होगा। जैसे कि 'यातं देवदत्तेन' में है॥ ध्रौव्य अकर्मक धातुओं के उपलक्षण के लिये है, प्रत्यवसानार्थ अभ्यवहारार्थ (खाने-पीने योग्य) को कहते हैं॥ इदमेषाम् आसितम् (यह इनके बैठने का स्थान), इदमेषां स्थितम् (यह इनके ठहरने का स्थान) यहाँ 'एषां' में अधिकरणवाचिनश्च (२।३।६८) से षष्ठी विभक्ति हुई है॥

लस्य ॥३।४।७७॥

लस्य ६।१॥ अर्थः—इतोऽग्रे आतृतीयाध्यायपरिसमाप्तेः (३।४।११७) वक्ष्यमाणानि कार्याणि लकारस्यैव स्थाने भवन्ति, इत्यधिकारो वेदितव्यः॥ लस्येति उत्सृष्टानुबन्धस्य लकारसामान्यस्य निर्देशः। तेन धातोर्विहितस्य लकारमात्रस्य ग्रहणं भवति —लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ् इत्येते दश लकारा॥ अग्र उदाहरिष्यामः॥

भाषार्थः—[लस्य] 'लस्य' यह अधिकारसूत्र है, पादपर्यन्त जायेगा। यहाँ से आगे जो कार्य कहेंगे, वे लकार के स्थान में हुआ करेंगे, ऐसा जानना चाहिये॥ 'लस्य' यहां 'ल' का सामान्यनिर्देश है। अतः लस्य से लकारमात्र (दसों लकारों) का ग्रहण होता है॥

तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ् ॥३।४।७८॥

तिप्त..... महिङ् १।१॥ स०—तिप्तस्झि० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः॥ अनु०—लस्य, धातोः, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—धातोः तिप्-तस्-झि, सिप्-थस्-थ, मिप्-वस्-मस् (परस्मैपदम्), त-आताम्-झ, थास्-आथाम्-ध्वम्, इट्-वहि-महिङ् (आत्मनेपदम्) इत्येते अष्टादश आदेशाः लस्य=लकारस्य स्थाने भवन्ति। तत्र नव आदेशाः परस्मैपदिनां धातूनां, नव च आत्मनेपदिनाम्॥ उदा०—परस्मैपदिभ्यः—पठति पठतः पठन्ति, पठसि पठथः पठथ, पठामि पठावः पठामः। आत्मनेपदिभ्यः—एधते एधेते एधन्ते, एधसे एधेथे एधध्वे, एधे एधावहे, एधामहे। एवमन्येषु लकारेषूदाहार्यम्॥

भाषार्थः—लकार=लट्, लिट् आदि के स्थान में [तिप्···महिङ्] तिप् तस् झि आदि १८ प्रत्यय होते हैं। इनमें ९ तिप् तस् आदि परस्मैपदी धातुओं से, तथा शेष ९ आत्मनेपदी धातुओं से होते हैं॥ पठ् शप् तिप्=पठति बना। पठन्ति की सिद्धि परि० १।१।२ के पचन्ति के समान जानें। पठामि आदि में अतो दीर्घो यञि (७।३।१०१) से दीर्घ होगा। एध् शप् त=एधते बना। यहां सर्वत्र टित आत्म० (३।४।७९) से टिभाग को एत्व होता है। एधेते, एधेथे की सिद्धि परि० १।१।११

के पचेते के समान जानें। एधन्ते में पठन्ति के समान शप् को पररूप होगा। 'एध् अ थास्=यहाँ थास: से(३।४।८०)से थास् को 'से' होकर एधसे बना है। एधावहे में भी अतो दीर्घो यञि(७।३।१०१)से दीर्घ होगा॥ ये सब आदेश यहाँ लट् के स्थान में हुए हैं। इसी प्रकाश अन्य दसों लकारों के स्थान में भी ये आदेश होंगे, सो जानें॥

टित आत्मनेपदानां टेरे ॥३।४।७९॥

टित: ६।१॥ आत्मनेपदानाम् ६।३॥ टे: ६।१॥ ए लुप्तप्रथमान्तनिर्देश:॥ अनु०—लस्य, धातो:, प्रत्यय:, परश्च॥ अर्थ:—टितो लकारस्य य आत्मनेपदादेशास्तेषां टे: एकारादेशो भवति॥ उदा०—एधते, एधेते॥

भाषार्थ:—[टित:] टित् अर्थात् लट् लिट् लुट् लृट् लेट् लोट् इन छः लकारों के जो [आत्मनेपदानाम्] आत्मनेपद आदेश 'त आताम् झ' आदि, उनके [टे:] टि भाग को [ए] एकार आदेश हो जाता है॥ टि संज्ञा अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३) से होती है॥

यहाँ से 'टित:' की अनुवृत्ति ३।४।८० तक जायेगी॥

थासस्से ॥३।४।८०॥

थास: ६।१॥ से लुप्तप्रथमान्तनिर्देश:॥ अनु०—टित:, लस्य॥ अर्थ:—टितो लकारस्य य: 'थास्' आदेश: तस्य स्थाने 'से' आदेशो भवति॥ उदा०—एधसे, पचसे॥

भाषार्थ:—टित् ६ लकारों के स्थान में जो[थास:]थास् आदेश, उसके स्थान में [से]'से' आदेश होता है॥ यहां लट् लकार का ही उदाहरण दिया है। ऐसे ही टित् छहों लकारों में 'से' आदेश होगा, ऐसा जानें॥ एधसे की सिद्धि ३।४।७८ सूत्र में देख लें॥

लिटस्तझयोरेशिरेच् ॥३।४।८१॥

लिट: ६।१॥ तझयो: ६।२॥ एशिरेच् १।१॥ स०—तझ० इत्यत्रेतरेतरयोग-द्वन्द्व:। एश् च इरेच् च एशिरेच्, समाहारो द्वन्द्व:॥ अर्थ:—लिडादेशयोस्तझयो: स्थाने यथासङ्ख्यम् एश् इरेच् इत्येतावादेशौ भवत:॥ उदा०—त—पेचे, लेभे। झ—पेचिरे, लेभिरे॥

भाषार्थ:—[लिट:] लिट् के स्थान में जो [तझयो:]त और झ आदेश, उनको यथासङ्ख्य करके [एशिरेच्] एश् तथा इरेच् आदेश होते हैं॥ लिट् लकार में सिद्धि परि० १।२।६ के समान जानें। केवल यहाँ यही विशेष है कि अत एकहल्-मध्ये० (६।४।१२०) से अभ्यास का लोप एवं धातु के 'अ' को एत्व हो जाता है॥

यहाँ से 'लिट:' की अनुवृत्ति ३।४।८२ तक जायेगी॥

परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः ॥३।४।८२॥

परस्मैपदानाम् ६।३। णलतु... माः १।३॥ स०—णल० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अनु०**—लिटः ॥ **अर्थः**—लिडादेशानां परस्मैपदसंज्ञकानां तिबादीनां स्थाने यथासंख्यं णल्, अतुस्, उस्, थल्, अथुस्, अ, णल्, व, म इत्येते नव आदेशा भवन्ति ॥ **उदा०**—पपाठ पेठतुः पेठुः, पेठिथ पेठथुः पेठ, पपाठ-पपठ, पेठिव, पेठिम ॥

भावार्थः—लिट् लकार के [परस्मैपदानाम्] परस्मैपदसंज्ञक जो ६ तिबादि आदेश, उनके स्थान में यथासंख्य करके [णल...माः] णल् अतुस् आदि ६ आदेश हो जाते हैं ॥ पेठतुः पेठुः आदि में पूर्ववत् अत एकहल्मध्ये अना० (६।४।१२०) से अभ्यासलोप तथा एत्व होगा ॥ शेष पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धियों के अनुसार ही जानें। णलुत्तमो वा (७।१।६१) से उत्तम पुरुष का णल् विकल्प से णित्वत् माना जाता है। अतः णित् पक्ष में अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि होकर पपाठ, और अणित् पक्ष में वृद्धि न होकर पपठ बन गया है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ३।४।८४ तक जायेगी ॥

विदो लटो वा ॥३।४।८३॥

विदः ५।१॥ लटः ६।१॥ वा अ० ॥ **अनु०**—परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमा, धातोः ॥ **अर्थः**—'विद ज्ञाने' इत्यस्माद्धातोः परो यो लट् तस्य परस्मैपदसंज्ञकानां तिबादीनां स्थाने यथासंख्यं णलादयो नव आदेशा विकल्पेन भवन्ति ॥ **उदा०**—वेद विदतुः विदुः, वेत्थ विदथुः विद, वेद विद्व विद्म। पक्षे लडेव—वेत्ति वित्तः विदन्ति, वेत्सि वित्थः वित्थ, वेद्मि विद्वः विद्मः ॥

भाषार्थः—[विदः] 'विद ज्ञाने' धातु से [लटः] लडादेश (तिप् आदि) जो परस्मैपदसंज्ञक उनके स्थान में क्रम से णल् अतुस् आदि ६ आदेश [वा] विकल्प से होते हैं, अर्थात् वर्त्तमानकाल में वेद वेत्ति दोनों प्रयोग होंगे ॥ वेत्ति में खरि च (८।४।५४) से द् तो त् हुआ है ॥ शेष पूर्ववत् ही जानें ॥ उदा०—वेद (जानता है), विदतुः (दोनों जानते हैं), विदुः (जानते हैं)। पक्ष में—वेत्ति (जानता है), वित्तः, विदन्ति ॥

यहाँ से 'लटो वा' की अनुवृत्ति ३।४।८४ तक जायेगी ॥

ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः ॥३।४।८४॥

ब्रुवः ५।१॥ पञ्चानाम् ६।३॥ आदितः अ० ॥ आहः १।१॥ ब्रुवः ६।१॥ **अनु०**—लटो वा, परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः, धातोः ॥ **अर्थः**—ब्रूञ्धातो-

रुत्तरो यो लट् तस्यादिभूतानां परस्मैपदसंज्ञकानां पञ्चानां तिबादीनां स्थाने यथाक्रमं पञ्चैव णलादय आदेशा विकल्पेन भवन्ति, तत् सन्नियोगेन च ब्रुवः स्थाने आह इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—आह आहतुः आहुः, आत्थ आहथुः । पक्षे तिबादय एव—ब्रवीति ब्रूतः ब्रुवन्ति, ब्रवीषि ब्रूथः ॥

भाषार्थः—[ब्रुवः] ब्रू धातु से परे जो लट् लकार, उसके स्थान में जो परस्मैपदसंज्ञक [आदितः] आदि के [पञ्चानाम्] पाँच आदेश (तिप् तस् झि सिप् थस्), उनके स्थान में क्रम से पाँच ही णल्, अतुस्, उस्, थल्, अथुस् ये आदेश विकल्प से हो जाते हैं, तथा उन आदेशों के साथ-साथ [ब्रुवः]ब्रूञ् धातु को [आहः] आह आदेश भी हो जाता है ॥ उदाहरण संस्कृतभाग में देखें ॥

लोटो लङ्वत् ॥३।४।८५॥

लोटः ६।१॥ लङ्वत् अ० ॥ लङ इव लङ्वत्, षष्ठ्यन्तात् तत्र तस्येव (५।१।११५) इति वतिः ॥ अर्थः—लोट्लकारस्य लङ्वत् कार्यं भवति ॥ अतिदेशसूत्रमिदम्॥ उदा०—पचताम्, पचतम्, पचत, पचाव, पचाम ॥

भाषार्थः—यह अतिदेशसूत्र है । [लोटः] लोट् लकार को [लङ्वत्] लङ् के समान कार्य हो जाते हैं ॥ लङ्वत् अतिदेश होने से ङित् लकारों को कहे हुए तस्थस्थमिपां० (३।४।१०१) से ताम् तम् त अम् आदेश लोट् को भी हो जाते हैं । सो लोट के तस् को ताम् होकर पचताम्, लोट के थस् को तम् होकर पचतम्, तथा थ को त होकर पचत बना है । इसी प्रकार लङ्वत् अतिदेश होने से पचाव पचाम में नित्यं ङितः (३।४।९९) से ङित् सकारों को कहा हुआ सकारलोप यहाँ भी हो जाता है । पच् शप् व, यहाँ आडुत्तमस्य पिच्च (३।४।९२) से आट् आगम होकर पच् अ आट् व=पचाव, पचाम बन गया ॥

यहाँ से 'लोटः' की अनुवृत्ति ३।४।९३ तक जायेगी ॥

एरुः ॥३।४।८६॥

एः ६।१॥ उः १।१॥ अनु०—लोटः ॥ अर्थः—लोडादेशानाम् इकारस्य स्थाने उकारादेशो भवति ॥ उदा०—पचतु, पचन्तु ॥

भाषार्थः—लोट् लकार के जो तिप् आदि आदेश, उनके [एः] इकार को [उः] उकार आदेश होता है ॥ ति तथा अन्ति (झि) लोडादेश हैं, सो इनके इ को उ हो गया है ॥ लोडादेश सिप् तथा मिप् के इकार को उकार नहीं होता, क्योंकि इन्हें 'हि' और 'नि' आदेश विधान किये हैं ॥

सेर्ह्यपिच्च ॥३।४।८७॥

सेः ६।१॥ हि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अपित् १।१॥ च अ० ॥ स०—न पित् अपित्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—लोटः ॥ अर्थः—लोडादेशस्य सिपः स्थाने 'हि' इत्ययमादेशो भवति, अपिच्च भवति स आदेशः ॥ उदा०—लुनीहि, पुनीहि, राध्नुहि, तक्ष्णुहि ॥

भाषार्थः—लोडादेश जो [सेः] सिप् उसके स्थान में [हि] हि आदेश होता है, [च] और वह [अपित्] अपित् भी होता है ॥ सिप् पित् है, सो उसके स्थान में हुआ आदेश 'हि' भी स्थानिवद्भाव से पित् माना जाता, अतः अपित् कर दिया है ॥

यहाँ से 'सेर्ह्यपित्'' की अनुवृत्ति ३।४।८८ तक जायेगी ॥

वा छन्दसि ॥३।४।८८॥

वा अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—सेर्ह्यपित, लोटः ॥ अर्थः—पूर्वसूत्रेण सिपः स्थाने यो हिर्विधीयते, स वेदविषये विकल्पेनाऽपिद् भवति ॥ पूर्वेण नित्यमपित्ति प्राप्ते विकल्प्यते ॥ उदा० —युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः (यजु०४।१६)। जुहोधि, जुहुधि । प्रीणाहि, प्रीणीहि ॥

भाषार्थः—पूर्व सूत्र से जो लोट् को हि विधान किया है, उसको [छन्दसि] वेदविषय में [वा] विकल्प से अपित् होता है ॥ पूर्वसूत्र से नित्य अपित् प्राप्त था, विकल्प कर दिया है ॥ युयोधि में व्यत्ययो बहुलम् (३।१।८५) से व्यत्यय होने से शप् को श्लु हो गया है । अतः श्लौ (६।१।१०)से द्वित्व भी हो जायेगा । जुहुधि की सिद्धि परि० ३।३।१६६ में देखें । पित् पक्ष में जुहोधि युयोधि गुण होकर बनेगा, तथा अपित् पक्ष मे जुहुधि बनेगा । प्रीणीहि में अपित् पक्ष में ङित्वत् (१।२।४) होने से ई हल्यघोः (६।४।११३) से ईत्व हुआ है । पित् पक्ष में ईत्व न होकर प्रीणाहि बनेगा ॥

मेर्निः ॥३।४।८९॥

मेः ६।१॥ निः १।१॥ अनु०—लोटः ॥ अर्थः—लोडादेशस्य मिपः स्थाने 'निः' इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—पठानि, पचानि ॥

भाषार्थः—लोडादेश जो [मेः] मिप् उसके स्थान में [निः] नि आदेश हो जाता है ॥ आडुत्तमस्य० (३।४।९२) से आट् आगम होकर सिद्धि जानें ॥

आमेतः ॥३।४।९०॥

आम् १।१॥ एतः ६।१॥ अनु०—लोटः ॥ अर्थः—लोटसम्बन्धिन एकारस्य स्थाने 'आम्' आदेशो भवति ॥ लोटष्टित्वात् टित आत्मनेपदा० (३।४।७९) इति सूत्रेण यदेत्वं भवति, तस्येह 'आम्' विधीयते ॥ उदा०—पचताम्, पचेताम्, पचन्ताम् ॥

भाषार्थः—लोट् सम्बन्धी जो [एतः] एकार उसे [आम्] आदेश होता है ॥ लोट् के टित् होने से टित आत्मनेपदा० (३।४।७९) से जो टि भाग को एत्व प्राप्त था, उसी को यह सूत्र आम् करता है ।

यहाँ से 'एतः' की अनुवृत्ति ३।४।९१ तक जायेगी ॥

सवाभ्यां वामौ ॥३।४।९१॥

सवाभ्यां ५।२॥ वामौ १।२॥ स०—सश्च वश्च सवौ, ताभ्याम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ वश्च अम् च वामौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—एतः, लोटः ॥ अर्थः—सकारवकाराभ्यामुत्तरस्य लोटसम्बन्धिन एकारस्य स्थाने यथासंख्यम् व अम् इत्येतावादेशौ भवतः ॥ उदा०—पचस्व । पचध्वम् ॥

भाषार्थः—[सवाभ्याम्] सकार वकार से उत्तर लोट् सम्बन्धी एकार के स्थान में यथासङ्ख्य करके [वामौ] व और अम् आदेश हो जाते हैं ॥ पच् शप् थास्, यहाँ थासः से (३।४।८०) से थास् को 'से' होकर 'पचसे' बना । उस स् से उत्तर ए को व होकर पचस्व (तू पका) बन गया । 'पच् शप् ध्वम्', यहाँ टित आत्मने० (३।४।७९) से टि भाग को ए होकर पचध्वे बना । अब व् से उत्तर ए को इस से अम् होकर पचध्वम् बन गया ॥

आडुत्तमस्य पिच्च ॥३।४।९२॥

आट् १।१॥ उत्तमस्य ६।१॥ पित् १।१॥ च अ० ॥ अनु०—लोटः ॥ अर्थः—लोट्सम्बन्धिन उत्तमपुरुषस्याडागमो भवति, स चोत्तमपुरुषः पिद् भवति ॥ उदा०—करवाणि, करवाव, करवाम ॥

भाषार्थः—लोट् सम्बन्धी [उत्तमस्य] उत्तम पुरुष को [आट्] आट् का आगम हो जाता है, [च] और वह उत्तम पुरुष [पित्] पित् भी माना जाता है ॥

यहाँ से 'उत्तमस्य' की अनुवृत्ति ३।४।९३ तक जायेगी ॥

एत ऐ ॥३।४।९३॥

एतः ६।१॥ ऐ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अनु०—उत्तमस्य, लोटः ॥ अर्थः—लोटसम्बन्धिन उत्तमपुरुषस्य य एकारस्तस्य स्थाने 'ऐ' इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—करवै, करवावहै, करवामहै ॥

भाषार्थः—लोट् लकार सम्बन्धी उत्तम पुरुष का जो [एतः] एकार, उसके स्थान में [ऐ] 'ऐ' आदेश होता है ॥ परि० ३।४।९२ के समान सब कार्य होकर 'करव् आट् इट्' रहा। टित आत्म० (३।४।७९) से एत्व, तथा उस 'ए' को प्रकृतसूत्र से 'ऐ' एवं आटश्च (६।१।८७) से वृद्धि एकादेश होकर करवै आदि की सिद्धि जानें ॥

लेटोऽडाटौ ॥३।४।९४॥

लेटः ६।१॥ अडाटौ १।२॥ स०—अडाटौ इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अर्थः—लेटोऽट् आट् इत्येतौ आगमौ पर्यायेण भवतः ॥ उदा०—जीवाति शरदः शतम्। भवति, भवाति, भविषति, भविषाति ॥

भाषार्थः—[लेटः] लेट् लकार को [अडाटौ] अट् आट् का आगम पर्याय से होता है ॥ सिद्धि परि० ३।१।३४ में देखें ॥

यहाँ से 'लेटः' की अनुवृत्ति ३।४।९८ तक जायेगी ॥

आत ऐ ॥३।४।९५॥

आतः ६।१॥ ऐ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अनु०—लेटः ॥ अर्थः—लेट्सम्बन्धिन आकारस्य स्थाने ऐकारादेशो भवति ॥ आत्मनेपदेषु 'आताम् आथाम्' इत्यत्र आकारो विद्यते, तस्येह कार्यमुच्यते ॥ उदा०—एधिषैते एधिषैते, एधैते एधैते । एधिषैथे एधिषैथे, एधैथे एधैथे ॥

भाषार्थः—लेट् सम्बन्धी जो [आतः] आकार उसके स्थान में [ऐ] ऐकारादेश होता है ॥ आत्मनेपद के आताम् आथाम् में आकार है, उसी आकार को यहां ऐ होता है ॥

यहाँ से 'ऐ' की अनुवृत्ति ३।४।९६ तक जायेगी ॥

वैतोऽन्यत्र ॥३।४।९६॥

वा अ० ॥ एतः ६।१॥ अन्यत्र अ० ॥ अनु०—ऐ, लेटः ॥ अर्थः—लेट्सम्बन्धिन एकारस्य स्थाने वा ऐकारादेशो भवत्यन्यत्र, अर्थात् 'आत ऐ' इत्येतत्सूत्रविषयं वर्जयित्वा ॥ उदा०—एधतै एधातै एधते एधाते । एधिषतै एधिषातै एधिषते एधिषाते । एधन्तै एधान्तै एधन्ते एधान्ते एधिषन्तै एधिषान्तै एधिषन्ते एधिषान्ते । एधसै एधासै एधसे एधासे । एधिषसै एधिषासै एधिषसे एधिषासे । एधध्वै एधाध्वै एधध्वे एधाध्वे । एधिषध्वै एधिषाध्वै एधिषध्वे एधिषाध्वे । एधै, एधे । एधिषै, एधिषे । एधवहै एधावहै, एधवहे एधावहे । एधिषवहै एधिषावहै एधिषवहे एधिषावहे । एधमहै एधामहै एधमहे एधामहे । एधिषमहै एधिषामहै एधिषमहे एधिषामहे । अहमेव पशूनामीशै, सप्ताहानि शयै, मदग्र एव वो ग्रहा गृह्यान्तै, मद्देवतान्येव वः पात्राणि उच्यान्तै । न च भवति—यत्र क्व च ते मनो दक्षं दधस उत्तरम् ॥

भाषर्थ:——लेट् सम्बन्धी जो [एत:] एकार उसके स्थान में ऐकारादेश [वा] विकल्प से होता है।[अन्यत्र]अन्यत्र अर्थात् आत ऐ(३।४।९५)सूत्र के विषय को छोड़ कर ॥ प्रक्रिया दर्शाने के लिए संस्कृतभाग में 'एध' धातु के सब रूप दे दिये गये हैं ॥

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ३।४।९८ तक जायेगी ॥

इतश्च लोपः परस्मैपदेषु ॥३।४।९७॥

इत: ६।१॥ च अ० ॥ लोप: १।१॥ परस्मैपदेषु ७।३॥ अनु०—वा, लेट: ॥ अर्थ:—परस्मैपदविषयस्य लेट्सम्बन्धिन इकारस्य वा लोपो भवति ॥ उदा०— भविषत् भविषात्, भाविषत् भाविषात्, भवत् भवात्। प्रचोदयात्। जोषिषत्। तारिषत्। पक्षे—भविषति भविषाति, भाविषति भाविषाति, भवति भवाति। पताति विद्युत्॥

भाषार्थ:—[परस्मैपदेषु] परस्मैपद विषय में लेट् लकार सम्बन्धी [इत:]इकार का [च]भी विकल्प से [लोप:]लोप हो जाता है॥ सिद्धि परि० ३।१।३४ में देखें ॥

यहाँ से 'लोप:' की अनुवृत्ति ३।४।१०० तक जायेगी ॥

स उत्तमस्य ॥३।४।९८॥

स: ६।१॥ उत्तमस्य ६।१॥ अनु०—लोप:, लेट:, वा ॥ अर्थ:—लेट्सम्बन्धिन उत्तमपुरुषस्थस्य सकारस्य वा लोपो भवति ॥ उदा०——भविषाव, भविषाम। पक्षे—भविषाव:, भविषाम: ॥

भाषार्थ:—लेट् सम्बन्धी [उत्तमस्य] उत्तम पुरुष के [स:] सकार का लोप विकल्प से हो जाता है॥ विस्तार से लेट् के रूप सूत्र ३।१।३४ पर दर्शाये हैं, वहीं देख लें। सिद्धि भी परि० ३।१।३४ में देखें ॥

यहाँ से 'स उत्तमस्य' की अनुवृत्ति ३।४।९९ तक जायेगी ॥

नित्यं ङितः ॥३।४।९९॥

नित्यम् १।१॥ ङित: ६।१॥ अनु०—स उत्तमस्य, लोप:, लस्य ॥ अर्थ:—ङित्लकारसम्बन्धिन उत्तमपुरुषस्य सकारस्य नित्यं लोपो भवति ॥ उदा०—अपचाव, अपचाम ॥

भाषार्थ:—[ङित:] ङित् लकार सम्बन्धी उत्तम पुरुष के सकार का [नित्यम्] नित्य ही लोप हो जाता है॥ लङ् लिङ् लुङ् लृङ् ये चार ङित् लकार हैं। वस् मस् के सकार का नित्य लोप होकर लङ् लकार में 'अट् पच् अ व' रहा। अतो दीर्घो यञि (७।३।१०१) से दीर्घ होकर अपचाव अपचाम बना है॥

यहाँ से 'नित्यम्' की अनुवृत्ति ३।४।१०० तक, तथा 'ङित:' की अनुवृत्ति ३।४।१०१ तक जायेगी ॥

इतश्च ॥३।४।१००॥

इतः ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—नित्यं ङितः, लोपः, लस्य ॥ अर्थः—ङित्-लकारसम्बन्धिन इकारस्य नित्यं लोपो भवति ॥ उदा०—अपचत्, अपचन्, अपचम् । अपठीत् ॥

भाषार्थः—ङित् लकार सम्बन्धी [इतः] इकार का [च] भी नित्य ही लोप हो जाता है ॥ अन्ति के इकार का लोप होकर 'अन्त्' रहा । पुनः संयोगान्तस्य० (८।२।२३) से तकार लोप होकर 'अपचन्' लङ् लकार में बना है । अपठीत् की सिद्धि परि० १।१।१ में देखें ॥

तस्थस्थमिपां तांतंतामः ॥३।४।१०१॥

तस्थस्थमिपाम् ६।३॥ तांतंतामः १।३॥ स०—तश्च थश्च थश्च मिप् च तस्थस्थमिपः, तेषां, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । ताम् च तम् च तश्च अम् च तांतंतामः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—ङितः, लस्य ॥ अर्थः—ङित्लकारसम्बन्धिनां तस् थस् थ मिप् इत्येतेषां स्थाने यथासंख्यं ताम् तम् त अम् इत्येते आदेशा भवन्ति ॥ उदा०—अपचताम्, अपचतम्, अपचत, अपचम् ॥

भाषार्थ—ङित् लकार सम्बन्धी [तस्थस्थमिपाम्] तस्, थस्, थ, मिप् के स्थान में यथासंख्य करके [तांतंतामः] ताम्, तम्, त और अम् आदेश होते हैं ॥ लङ् लकार में अपचताम् आदि बने हैं । सिद्धियों में कुछ विशेष नहीं है ॥

लिङः सीयुट् ॥३।४।१०२॥

लिङः ६।१॥ सीयुट् १।१॥ अर्थः—लिङादेशानां सीयुड् आगमो भवति ॥ उदा०—पचेत, पचेयाताम्, पचेरन् ॥

भाषार्थः—[लिङः] लिङ् के आदेशों को [सीयुट्] सीयुट् आगम होता है ॥ पच् शप् सीयुट् सुट् त=पच् अ सीय् स् त, इस अवस्था में लिङः सलोपो० (७।२।७९) से दोनों सकारों का लोप होकर—पच ईय् त रहा । आद् गुणः (६।१।८४) तथा लोपो व्योः० (६।१।६४) लगकर पचेत बन गया । पचेरन् में झस्य रन् (३।४।१०५) से झ के स्थान में रन् आदेश हो गया है । शेष पूर्ववत् हैं ॥

यहां से 'लिङः' की अनुवृत्ति ३।४।१०८ तक जायेगी ॥

यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च ॥३।४।१०३॥

यासुट् १।१॥ परस्मैपदेषु ७।३॥ उदात्तः १।१॥ ङित् १।१॥ च अ० ॥ अनु०—लिङः ॥ अर्थः—परस्मैपदविषयस्य लिङो यासुडागमो भवति, स चोदात्तो भवति ङिच्च ॥ उदा०—कुर्यात् कुर्याताम् कुर्युः ॥

भाषार्थः—[परस्मैपदेषु] परस्मैपदविषयक लिङ् लकार को [यासुट्] यासुट् का आगम होता है, [च] और वह [उदात्तः] उदात्त तथा [ङित्] ङित्वत् भी माना जाता है ॥ आगम अनुदात्त होते हैं, अतः यासुट को अनदात्त प्राप्त था। सो उदात्त कहा है ॥

यहाँ से 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तः' की अनुवृत्ति ३।४।१०४ तक जायेगी ॥

किदाशिषि ॥३।४।१०४॥

कित् १।१॥ आशिषि ७।१॥ अनु०—यासुट् परस्मैपदेषूदात्तः, लिङः ॥ अर्थः—आशिषि विहितस्य परस्मैपदविषयस्य लिङो यासुड् आगमो भवति, स किदुदात्तश्च भवति ॥ उदा०—उच्यात् उच्यास्ताम् । इज्यात् इज्यास्ताम् । जागर्यात् जागर्यास्ताम् ॥

भाषार्थः—[आशिषि] आशीर्वाद में विहित परस्मैपदसंज्ञक लिङ् को यासुट् आगम होता है, वह [कित्] कित् और उदात्त होता है ॥ कित् तथा ङित् दोनों में गुणप्रतिषेध कार्य समान हैं। किन्तु यहाँ कित् करने के विशेष प्रयोजन ये हैं कि—कित् परे रहते संप्रसारण तथा जागृ धातु को गुण हो जावे। वच् तथा यज् धातु को यासुट् के कित् होने से वचिस्वपियजा० (६।१।१५) से सम्प्रसारण होकर उच्यात् इज्यात् बनता है। तथा जागर्यात् में यासुट् के कित् करने से जाग्रोऽविचि० (७।३।८५) से गुण हो जाता है। क्योंकि वहाँ ङित् परे रहते गुणनिषेध कहा है, सो कित् परे रहते हो ही जायेगा। उच्यास्ताम् आदि में तस्थस्थमिपां० (३।४।१०१) से तस् को ताम् हुआ है ॥

झस्य रन् ॥३।४।१०५॥

झस्य ६।१ रन् १।१॥ अनु०—लिङः ॥ अर्थः—लिङादेशस्य झस्य 'रन्' आदेशो भवति ॥ उदा०—पचेरन्, यजेरन् ॥

भाषार्थः—लिङादेश जो [झस्य] झ उसको [रन्] रन् आदेश होता है ॥

इटोऽत् ॥३।४।१०६॥

इटः ६।१॥ अत् १।१॥ अनु०—लिङः ॥ अर्थः—लिङादेशस्य इटः स्थाने 'अत्' इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—पचेय, यजेय, कृषीय ॥

भाषार्थः—लिङ् आदेश [इटः] 'इट्' (उत्तमपुरुष का एकवचन) के स्थान में [अत्] 'अत्' आदेश होता है ॥ 'पच् शप् सीय् इट्' पूर्ववत् होकर लिङः सलोपो० (७।२।७९) से सकार लोपः, तथा प्रकृत सूत्र से इट् के स्थान में अत् आदेश होकर—पच ईय् अ = पचेय बन गया ॥ आशीर्लिङ् में कृ सीय् इट = कृ सीय् अ = कृषीय बना। यहाँ 'अत्' के 'त्' की इत्संज्ञा का निषेध नहीं होता ॥

सुट् तिथोः ॥३।४।१०७॥

सुट् १।१॥ तिथोः ६।२॥ स०—तिश्च थ च तिथौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—लिङः ॥ अर्थः—लिङ्सम्बन्धिनोस्तकारथकारयोः 'सुड्' आगमो भवति ॥ उदा०—एधिषीष्ट, एधिषीष्ठाः । भूयात्, भूयास्ताम् । पचेत ॥

भाषार्थः— लिङ् सम्बन्धी [तिथोः] तकार और थकार को [सुट्] सुट् का आगम होता है ॥ ति में इकार उच्चारणार्थ है । परस्मैपद के थस् एवं थ को तस्थस्थमिपां० (३।४।१०१) से क्रम से तम् त आदेश हो जाते हैं । अतः परस्मैपद के थकार के आगम का उदाहरण नहीं देखा जा सकता ॥ सुट् आगम तकार थकार मात्र को कहा है । अतः विधिलिङ् एवं आशीर्लिङ् में आत्मनेपदी परस्मैपदी सभी धातुओं से सुट् होता है । पर विधिलिङ् के सार्वधातुक होने से लिङः सलोपो० (७।२।७९) से सकार लोप होकर श्रवण नहीं होता, आशीर्लिङ् में श्रवण होता है ॥ एधिषीष्ट की सिद्धि परि० १।२।११ के भित्सीष्ट के समान जानें । एधिषीष्ठाः थास् में बनेगा । भूयात् में 'स्कोः संयोगाद्यो० (८।२।२९) से यासुट् के सकार का लोप होगा । तथा पुनः इसी सूत्र से सुट् के सकार का लोप भी हो जायेगा ॥ पचेत् की सिद्धि परि० ३।१। ६८ के पठेत् के समान जानें ॥

झेर्जुस् ॥३।४।१०८॥

झेः ६।१॥ जुस् १।१॥ अनु०—लिङः ॥ अर्थः—लिङादेशस्य झेः स्थाने जुस् आदेशो भवति ॥ उदा०—पचेयुः, पच्यासुः । भवेयुः, भूयासुः ॥

भाषार्थः—लिङादेश [झेः] 'झि' (परस्मैपद में) को [जुस्] जुस् आदेश हो जाता है ॥ विधिलिङ् आशीर्लिङ् दोनों में ही झि को जुस् हो जायेगा ॥ पचेयुः भवेयुः में सूत्र ३।४।१०२ के समान सारे कार्य होकर प्रकृत सूत्र से झि को जुस् हो जायेगा ॥ आशीर्लिङ् में पच् यास् झि=पच् यास् उस्=रुत्व विसर्गादि होकर पच्यासुः बन गया । विधिलिङ् में सार्वधातुक होने से शप् प्रत्यय होता है । पर आशीर्लिङ् लिङाशिषि (३।४।११६) से आर्धधातुकसंज्ञक होता है । अतः यहाँ शप् विकरण नहीं होता ॥

यहाँ से 'झेर्जुस्' की अनुवृत्ति ३।४।११२ तक जायेगी ॥

सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च ॥३।४।१०९॥

सिजभ्यस्तविदिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ स०—सिच् च अभ्यस्तञ्च विदिश्च सिजभ्यस्तविदयः, तेभ्यः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—झेर्जुस्, लस्य, मण्डूकप्लुतगत्या ङित इत्यप्यनुवर्त्तते, नित्यं ङितः (३।४।९९) इत्यतः ॥ अर्थः—सिचः परस्य, अभ्यस्तसंज्ञके-

भ्यो वेत्तेश्चोत्तरस्य ङितो झेर्जुसादेशो भवति ॥ उदा०—सिच्—अकार्षुः, अहार्षुः । अभ्यस्तसंज्ञकेभ्यः—अबिभयुः, अजुहवुः, अजागरुः । वेत्तेः-अविदुः ॥

भाषार्थः—[सिजभ्यस्तविदिभ्यः] सिच् से उत्तर, अभ्यस्तसंज्ञक से उत्तर, तथा विद् धातु से उत्तर [च] भी झि को जुस् आदेश होता है ॥ अभ्यस्त और विदि का ग्रहण सिच् परे न रहने पर, अर्थात् लङ् में भी झि को जुस् हो जावे इसलिए है ॥ यहाँ प्रश्न यह है कि लट् लकार में झि को जुस् क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि यहाँ 'ङितः' की अनुवृत्ति मण्डूकप्लुतगति से आती है। सो ङित् लकार (लङ्) के ही झि को जुस् होगा ॥

यहाँ से 'सिचः' की अनुवृत्ति ३।४।११० तक जायेगी ॥

आतः ॥३।४।११०॥

आतः ५।१॥ अनु०—झेर्जुस्, सिचः ॥ अर्थः—पूर्वेणैव प्राप्ते नियमार्थमिदं सूत्रम् । सिचः=सिज्लुकि आकारान्तादेव झेर्जुस् भवति ॥ उदा०—अदुः । अधुः । अस्थुः ॥

भाषार्थः—पूर्वसूत्र से ही झि को जुस् प्राप्त था, पुनः यह सूत्र नियमार्थ है ॥ सिच् से उत्तर (सिच्लुगन्त से उत्तर) यदि झि को जुस् हो, तो [आतः] आकारान्त धातु से उत्तर ही हो ॥ यहाँ 'सिचः' एवं 'आतः' दोनों में पञ्चमी है। सो दोनों से अनन्तर झि सम्भव नहीं, अतः सिचः से यहाँ सिच्लुगन्त अर्थात् जहाँ सिच् का लुक् हो जावे, वहीं का ग्रहण होता है। प्रत्ययलक्षण से वहाँ सिच् से उत्तर 'झि' होगा। तथा श्रुति से आकारान्त धातु से उत्तर भी हो ही जायेगा ॥ दा धा स्था इन धातुओं के सिच् का लुक् गातिस्थाघुपाभूभ्यः० (२।४।७७) से हुआ है ॥

यहाँ से 'आतः' की अनुवृत्ति ३।४।१११ तक जायेगी ॥

लङः शाकटायनस्यैव ॥३।४।१११॥

लङः ६।१॥ शाकटायनस्य ६।१॥ एव अ० ॥ अनु०—आतः, झेर्जुस् ॥ अर्थः—आकारान्तादुत्तरस्य लङादेशस्य झेर्जुस् आदेशो भवति, शाकटायनस्याचार्यस्य मतेन ॥ उदा०—अयुः, अवुः । अन्येषां मते—अयान्, अवान् ॥

भाषार्थः—आकारान्त धातुओं से उत्तर [लङः] लङ् के स्थान में जो झि आदेश उसको जुस् आदेश होता है, [शाकटायनस्य] शाकटायन आचार्य के मत में [एव] ही ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ३।४।११२ तक जायेगी ॥

द्विषश्च ॥३।४।११२॥

द्विषः ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—लङः शाकटायनस्यैव, झेर्जुस् ॥ अर्थः—द्विष्-धातोरुत्तरस्य लङादेशस्य झेर्जुस् आदेशो भवति, शाकटायनस्यैवाचार्यस्य मतेन ॥ उदा०—अद्विषुः । अन्येषां मते—अद्विषन् ॥

भाषार्थः—[द्विषः] द्विष् धातु से परे [च] भी लङादेश झि के स्थान में जुस् आदेश होता है, शाकटायन आचार्य के ही मत में ॥ अन्यों के मत में नहीं होगा, सो अद्विषन् (उन्होंने द्वेष किया) बनेगा ॥

तिङ्शित् सार्वधातुकम् ॥३।४।११३॥

तिङ्शित् १।१॥ सार्वधातुकम् १।१॥ स०—श् इत् यस्य स शित्, बहुव्रीहिः ॥ तिङ् च शित् च तिङ्शित्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः,प्रत्ययः,परश्च ॥ अर्थः—धातोर्विहिताः तिङः शितश्च प्रत्यया सार्वधातुकसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—भवति, नयति । स्वपिति, रोदिति । पचमानः, यजमानः ॥

भाषार्थः—धातु से विहित [तिङ्शित्] तिङ् तथा शित्=शकार जिनका इत्संज्ञक हो, उन प्रत्ययों की [सार्वधातुकम्] सार्वधातुक संज्ञा होती है ॥ शप् के शित् होने से सार्वधातुक संज्ञा होकर सार्वधातुकाश्रित सार्वधातु० (७।३।८४) से 'भू' 'नी' को गुण होता है । स्वपिति रोदिति में तिप् की सार्वधातुक संज्ञा होने से रुदादिभ्यः सार्वधातुके (७।२।७६) से इट् आगम हो गया है । स्वप् इट् ति=स्वपिति, रुद् इट् ति=रोदिति बना । अदिप्रभृतिभ्यः०(२।४।७२)से शप् का लुक् हो ही जायेगा ॥ पचमानः की सिद्धि परि० ३।२।१२४ में देखें । यजमानः में भी इसी तरह जानें, केवल यहाँ पूङ्यजोः शानन् (३।२।१२८) से शानन् प्रत्यय होता है ॥

आर्धधातुकं शेषः ॥३।४।११४॥

आर्धधातुकम् १।१॥ शेषः १।१॥ अनु०—धातोः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—धातोर्विहिताः शेषाः (तिङ्शिद्भिन्नाः)प्रत्यया आर्धधातुकसंज्ञका भवन्ति ॥ तिङ्शितं वर्जयित्वाऽन्यः प्रत्ययः शेषः ॥ उदा०—लविता, लवितुम्, लवितव्यम् ॥

भाषार्थः—[शेषः] शेष अर्थात् तिङ्शित् से शेष बचे, धातु से विहित जो प्रत्यय, उनकी [आर्द्धधातुकम्] आर्द्धधातुक संज्ञा होती है ॥ तृच् तुमुन् तव्य प्रत्यय तिङ्शित् से शेष हैं, सो आर्द्धधातुसंज्ञक हैं । आर्धधातुक संज्ञा होने से सार्वधातु० (७।३।८४) से गुण, तथा आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५) से इट् आगम हो जाता है ।

यहाँ से 'आर्द्धधातुकम्' की अनुवृत्ति ३।४।११७ तक जायेगी ॥

लिट् च ॥३।४।११५॥

लिट् १।१॥ च अ० ॥ अनु०—आर्द्धधातुकम् ॥ अर्थः—लिडादेशा ये तिबादयस्ते आर्द्धधातुकसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—पेचिथ, शेकिथ । जग्ले, मम्ले ॥

भाषार्थः—[लिट्] लिडादेश जो तिबादि उनकी [च] भी आर्द्धधातुक संज्ञा होती है ॥

लिङाशिषि ॥३।४।११६॥

लिङ् १।१॥ आशिषि ७।१॥ अनु०—आर्द्धधातुकम् ॥ अर्थः—आशिषि विषये यो लिङ् स आर्धधातुकसंज्ञको भवति ॥ उदा०—लविषीष्ट, एधिषीष्ट ॥

भाषार्थः—[आशिषि] आशीर्वाद अर्थ में जो [लिङ्] लिङ् वह आर्धधातुकसंज्ञक होता है ॥ परि० १।२।११ के समान सिद्धि जानें । पूर्ववत् यहाँ भी आर्धधातुक संज्ञा होने से इट् आगम होता है ॥

छन्दस्युभयथा ॥३।४।११७॥

छन्दसि ७।१॥ उभयथा अ० ॥ अर्थः—छन्दसि विषये उभयथा सार्वधातुकम् आर्धधातुकं च भवति । अर्थात् यस्य सार्वधातुकसंज्ञा विहिता तस्यार्द्धधातुकसंज्ञाऽपि भवति, यस्यार्द्धधातुकसंज्ञा कृता तस्य सार्वधातुकसंज्ञाऽपि भवति ॥ उदा०—वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयः (ऋ० ७।९९।७) । स्वस्तये नावमिवारुहेम । लिट् सार्वधातुकम्—ससृवांसो विशृण्विरे । सोममिन्द्राय सुन्विरे । लिङ् उभयथा भवति—उपस्थेयाम शरणं बृहन्तम् ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में [उभयथा] दोनों सार्वधातुक आर्धधातुक संज्ञायें होती हैं । अर्थात् जिसकी सार्वधातुक संज्ञा कही है, उसकी आर्धधातुक संज्ञा भी होती है । तथा जिसकी आर्धधातुक संज्ञा कही है, उसकी सार्वधातुक संज्ञा भी होती है । अथवा एक ही स्थान में दोनों संज्ञायें हो जाती हैं ॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

परिशिष्टम्

परि० वृद्धिरादैच् (१।१।१)

(१) सूत्र-प्रयोजन—'भाग:' इस उदाहरण में वृद्धिरादैच् सूत्र का इतना ही कार्य है कि जब अत उपधायाः (७।२।११६) सूत्र से भज् के उपधा अकार को वृद्धि प्राप्त हुई, तो प्रकृत सूत्र ने बताया कि वृद्धि किसे कहते हैं ॥

(१) भाग: (भजन=सेवन करना)

'भज सेवायाम्' (भ्वा० पर०) — भूवादयो धातवः (१।३।१) से भू से लेकर चुरादिगण के अन्त तक जो धातुपाठ में पढ़े क्रियावाची शब्द हैं, उनकी धातु संज्ञा होती है। सो 'भज' धातुसंज्ञक हुआ। उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१। ३।२) से उपदेश[1] में जो अनुनासिक अच् उसकी, अर्थात् जँ के अँ की इत् संज्ञा हो गई। मुखनासिकावचनोऽनुनासिक: (१।१।८) से मुख और नासिका से बोले जानेवाले 'अँ' की अनुनासिक संज्ञा हो गई। अब अँ की इत्संज्ञा होने से तस्य लोप: (१।३।६) से उसका लोप हुआ। अदर्शनं लोप: (१।१।५६) ने अदर्शन=न दिखाई पड़ने की लोप संज्ञा कही। सो शेष रहा—

भज् — धातो: (३।१।६१) यह अधिकारसूत्र है। भावे (३।३।१८), प्रत्यय: (३।१।१) परश्च (३।१।२) इनसे भाव अर्थ में धातु से घञ् प्रत्यय परे (भज् से परे) होकर—

भज् घञ् — हलन्त्यम् (१।३।३) से अन्तिम हल् 'ञ्' की इत् संज्ञा, तथा लशक्वतद्धिते (१।३।८) से प्रत्यय के आदि 'घ्' की इत् संज्ञा होकर, तस्य लोप: (१।३।९), अदर्शनं लोप: (१।१।५६) से दोनों (ञ्, घ्) का लोप हुआ। अब—

भज् अ — यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (१।४।१३) से भज् की अङ्ग संज्ञा हुई। क्योंकि जिससे प्रत्यय का विधान करें उस प्रत्यय के

---

१. उपदेश ५ हैं—अष्टाध्यायी, धातुपाठ, उणादिसूत्र, गणपाठ तथा लिङ्गानुशासनम्। भज वास्तव में 'भजँ' था, पर लगभग गत २०० वर्षों से ये अनुनासिक चिह्न सर्वथा लुप्त हो गये हैं, जो अब बताने ही पड़ते है ॥

परे रहने पर, उससे पहले-पहले जितना भाग है, उसकी अङ्ग संज्ञा होती है। अङ्गस्य (६।४।१) यह अधिकारसूत्र है। अब इस अङ्गाधिकार में वर्त्तमान अत उपधायाः (७।२।११६) सूत्र से अङ्ग के उपधा अकार को वृद्धि प्राप्त हुई। उपधा किसे कहते हैं? यह अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा (१।१।६४) ने बताया कि अन्त्य अल् से पूर्व (वर्ण) की उपधा संज्ञा होती है। सो भज् के अ की उपधा संज्ञा हुई। प्रकृत सूत्र वृद्धिरादैच् ने आ ऐ औ तीनों वर्णों की वृद्धि संज्ञा की। अतः अकार के स्थान में तीनों वृद्धिसंज्ञक आ ऐ औ प्राप्त हुए। तीनों में से एक करना है, तो कौनसा वर्ण हो? इसका निर्णय स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) परिभाषासूत्र ने किया कि—स्थान में स्थानी का अन्तरतम=सदृशतम हो। सो 'अ' का सदृशतम[1] 'आ' है, अतः 'आ' वृद्धि होकर—

भाज् अ पुनः अङ्गाधिकार में वर्त्तमान चजोः कु घिण्ण्यतोः (७।३।५२) से घित् (घ् इत् संज्ञावाले) अ के परे रहते ज् को कवर्ग आदेश प्राप्त हुआ। स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से ज् को ग् हुआ।

भाग् अ=भाग अब कृदतिङ् (३।१।९३) से घञ् की कृत् संज्ञा है। अतः 'भाग' के कृदन्त होने के कारण कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६) से उस की प्रातिपदिक संज्ञा हुई। ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१) यह अधिकारसूत्र है। स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसियाम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् (४।१।२), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) प्रातिपदिक से २१ प्रत्यय परे प्राप्त हुये। हमें एक ही लाना है। तब सुपः (१।४।१०२) से इन प्रत्ययों के तीन-तीन के जुट की क्रम से एकवचन द्विवचन तथा बहुवचन संज्ञा हुई। विभक्तिश्च (१।४।१०३) से सब (२१ प्रत्ययों) की विभक्ति संज्ञा हुई। अब प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा (२।३।४६) से प्रथमा विभक्ति के एकवचन, द्विवचन, बहुवचनसंज्ञक ३ प्रत्यय प्राप्त हुवे, शेष १८ हट गये। द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (१।४।२२) ने कहा कि एकवचन की विवक्षा (=कहने की इच्छा) में एकवचन का प्रत्यय हो। सो 'भाग' से परे एकवचन का प्रत्यय 'सु' आया, शेष दो हट गये।

---

१. वर्णों का सादृश्य उनके स्थान और प्रयत्न की समानता के अनुसार होता है, जिनको वर्णोच्चारणशिक्षा से जान लेना चाहिये।

भाग सुँ   मुखनासिकावचनो० (१।१।८), उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२) से 'उँ' की इत् संज्ञा होकर तस्य लोपः (१।३।६), अदर्शनं लोपः (१।१।५६) से लोप हो गया।

भाग स्   अब सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४) से सुप् अन्तवाले 'भागस्' की पद संज्ञा हुई। पदस्य (८।१।१६) यह अधिकारसूत्र है। सो अब पदाधिकार में वर्त्तमान ससजुषो रुः (८।२।६६) से पद के अन्त के स् को 'रुँ' हो गया।

भाग रुँ   तथा पूर्ववत् रुँ के उँ की इत् संज्ञा होकर लोप हो गया।

भाग र्   विरामोऽवसानम् (१।४।१०६) से विराम की अवसान संज्ञा होकर, खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८।३।१५) से अवसान में वर्त्तमान 'र्' को विसर्जनीय होकर—

भागः   बन गया॥

भागः के समान ही यज धातु से यागः (यज्ञ करना), त्यज से त्यागः (त्याग करना) की सिद्धि भी समझनी चाहिये। पठ से पाठः, तप से तापः, पत से पातः, इत्यादि सैकड़ों शब्दों की सिद्धि भी इसी प्रकार जान लेनी चाहिये।

विशेषः—सिद्धि समझने के पश्चात् उपरिनिर्दिष्ट 'सूत्र प्रयोजन' पुनः समझना चाहिये, ताकि बुद्धि में दृढ़ हो जावे॥

---

(२) सूत्र-प्रयोजन—'नायकः' इस उदाहरण में जब 'नी' अङ्ग को अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि होने लगी, तो वृद्धिरादैच् सूत्र ने बताया कि वृद्धि कहते किसे हैं। बस इस सूत्र का इस उदाहरण में इतना ही कार्य है॥

(२) नायकः (ले चलनेवाला, नेता)

णीञ् प्रापणे   हलन्त्यम् (१।३।३) से अन्त्य 'ञ्' की इत् संज्ञा, तथा तस्य लोपः (१।३।६) से पूर्ववत् लोप होकर, भूवादयो धातवः (१।३।१) से धातु संज्ञा होकर—

णी   णो नः (६।१।६३) से धातु के आदि ण् को न् होकर—

नी   धातोः (३।१।६१) यह अधिकारसूत्र है। अब इस 'धातोः' अधिकार में वर्त्तमान ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से धातु (नी) से परे ण्वुल् प्रत्यय हुआ।

नी ण्वुल् — कर्त्तरि कृत् (३।४।६७) से यह ण्वुल् कर्त्ता=कर्तृवाच्य में होता है। स्वतन्त्रः कर्त्ता (१।४।५४) क्रियासिद्धि में प्रधान कारक की कर्त्ता संज्ञा होती है। अब चुटू (१।३।७) से प्रत्यय के आदि 'ण्' की इत् संज्ञा, तथा हलन्त्यम् (१।३।३) से अन्त्य 'ल्' की इत् संज्ञा, एवं पूर्ववत् लोप हो गया।

नी वु — यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (१।४।१३) से 'नी' की अङ्ग संज्ञा हुई। अङ्गस्य (६।४।१), युवोरनाकौ (७।१।१) से अङ्ग के यु वु को अन तथा अक आदेश प्राप्त हुए। सो यु वु स्थानी (जिसके स्थान में आदेश हो) भी दो हैं तो किसके स्थान में कौनसा आदेश हो? तब इसका निर्णय यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् (१।३।१०)इस परिभाषासूत्र ने किया कि समान सङ्ख्यावाले आदेशों को यथाक्रम अनुदेश होते हैं। अर्थात् पहले के स्थान में पहला, दूसरे के स्थान में दूसरा इत्यादि होते हैं। अतः यहाँ भी यु के स्थान में अन, और वु के स्थान में अक प्राप्त होने से 'वु' को अक हो गया।

नी अक — पुनः अङ्गाधिकार में वर्त्तमान अचो ञ्णिति (७।२।११५) से अजन्त अङ्ग 'नी' को, णित् परे मानकर वृद्धि प्राप्त हुई। वृद्धिरादैच से आ, ऐ, औ तीनों की वृद्धि संज्ञा हुई। स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से 'ई' का सदृशतम 'ऐ' हुआ।

नै अक — परः सन्निकर्षः संहिता (१।४।१०८) वर्णों के अत्यन्त सामीप्य की संहिता संज्ञा है। संहितायाम् (६।१।७०) यह अधिकारसूत्र है। एचोऽयवायावः (६।१।७५) से एच् (ए, ओ, ऐ, औ) के स्थान में अय् अव् आय् आव् आदेश प्राप्त हुये। यहाँ भी सम सङ्ख्यावाले ४ ही आदेश एवं ४ ही अनुदेश हैं। सो यथासङ्ख्यमनुदेशः० (१।३।१०) लगकर 'ऐ' के स्थान में आय् आदेश हुआ।

न् आय् अक — पूर्ववत् कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६)से 'नायक' की कृदन्त मान कर प्रातिपदिक संज्ञा हुई। पुनः पूर्ववत् सु आकर विसर्जनीय होकर—

नायकः — बना॥

इसी प्रकार 'चिञ् चयने' धातु से चायकः (चुननेवाला), 'ष्टुञ् स्तुतौ' से स्तावकः (स्तुति करनेवाला) बनेगा। स्तावकः में इतना ही विशेष है कि धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से धातु के आदि ष् को स् हुआ। निमित्त के हटने जर नैमित्तिक भी हट जाता है। अतः ट् को भी त् होकर स्तु रह गया। शेष सब

पूर्ववत् है। 'पूङ् पवने' से पावकः (पवित्र करनेवाला) बनता है। 'पठ व्यक्तायां वाचि' तथा 'डुपचष् पाके' धातु से अत उपधायाः (७।२।११६) से उपधा अकार को वृद्धि होकर पाठकः (पढ़नेवाला), पाचकः (पकानेवाला) बनते हैं॥

'डुकृञ् करणे' धातु से कारकः (करनेवाला) बनता है, इसकी सिद्धि में जो विशेष है, वह निम्नलिखित है—

डुकृञ् आदिर्ञिटुडवः (१।३।५) से 'डु' की इत् संज्ञा, तथा हलन्त्यम् (१।३।३) से ञ् की इत् संज्ञा, एवं लोप होकर, पूर्ववत् धातु संज्ञा होकर—

कृ ण्वुल् = अक पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि प्राप्त हुई। वृद्धिरादैच्, स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से 'ऋ' के स्थान में सदृशतम वृद्धि प्राप्त हुई। परन्तु ऋ के स्थान में आ ऐ औ में से किसी का भी सादृश्य (स्थान, प्रयत्न) नहीं मिलता। तब यह सूत्र असफल रह गया। ऐसी दशा में नयी परिभाषा (निर्णय करनेवाला) सूत्र उरण्रपरः (१।१।५०) लगा। इसने कहा कि ऋ के स्थान में अण् (अ, इ, उ) होते-होते रपर = रपरेवाला हो जावे। सो 'आर्' वृद्धि होकर—

कार् अक शेष सब पूर्ववत् ही होकर—

कारकः बना॥

इसी प्रकार 'हृञ् हरणे' धातु से हारकः (हरन करनेवाला) में जानें॥

---

(३) सूत्र प्रयोजन—शालीयः इस उदाहरण में वृद्धिरादैच् सूत्र का इतना ही कार्य है कि शाला शब्द के आदि 'आ' की वृद्धिरादैच् से वृद्धि संज्ञा होकर शाला को वृद्धिर्यस्याचामा० (१।१।७२) से वृद्ध संज्ञा हो गई। तत्पश्चात् वृद्ध संज्ञा होने से वृद्धाच्छः (४।२।११३) से छ प्रत्यय हो गया।

(३) शालीयः (शालायां भवः = शाला में होनेवाला कोई पदार्थ)

शाला टाप्प्रत्ययान्त शाला शब्द से ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१) आदि सब भागः के समान ही सूत्र लगकर, आधारोऽधिकरणम् (१।४।४५), सप्तम्यधिकरणे च (२।३।३६) से सप्तमी विभक्ति की विवक्षा में 'ङि' प्रत्यय आया।

शाला ङि	अब समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२) से समर्थ 'शाला ङि' सुबन्त से आगे प्रत्यय की उत्पत्ति हो, इसकी अनुमति मिल गयी। तब तत्र भव: (४।३।५३) सूत्र से भव अर्थ में औत्सर्गिक अण् प्राप्त हुआ। अब प्रकृत वृद्धिरादैच् सूत्र से शाला के आदि 'आ' की वृद्धि संज्ञा हुई। वृद्धि संज्ञा होने से वृद्धिर्यस्याचामा० (१।१।६२) से वृद्ध संज्ञा 'शाला' समुदाय की हो गई। शाला की वृद्ध संज्ञा हो जाने के कारण शेषे (४।२।७१) शैषिक अधिकार में वर्त्तमान वृद्धाच्छ: (४।२।११३), प्रत्यय:, परश्च (३।१।१,२)सूत्र से औत्सर्गिक अण् को बाधकर 'छ' प्रत्यय भव अर्थ में हुआ।
शाला ङि छ	तद्धिता: (४।१।७६) से 'छ' की तद्धित संज्ञा हुई। कृतद्धितसमासाश्च (१।२।४६) से तद्धितान्त समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा होकर, सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) से प्रातिपदिक के अन्तर्गत जो 'ङि' सुप् है, उसका लुक् हो गया। प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुप: (१।१।६०) से प्रत्यय के अदर्शन की लुक् संज्ञा होती है। सो ङि का लुक् अर्थात् अदर्शन हो गया।
शाला छ	यस्मात् प्रत्ययविधि० (१।४।१३) से शाला की अङ्ग संज्ञा होकर, अङ्गस्य(६।४।१)से अङ्गाधिकार में वर्त्तमान आयनेयीनीयिय: फढ० (७।१।२),यथासङ्ख्यमनुदेश:० (१।३।१०)से छ् को क्रमप्राप्त ईय् आदेश हो गया।
शाला ईय् अ	यचि भम् (१।४।१८) से स्वादियों में यकारादि एवं अजादि प्रत्यय के परे रहते पूर्व की 'भ' संज्ञा होती है। सो ईय् अजादि प्रत्यय के परे रहते 'शाला' की भ संज्ञा हो गई। भस्य (६।४।१२९) यह अधिकारसूत्र है। अब भस्य अधिकार में वर्त्तमान यस्येति च (६।४।१४८) सूत्र से तद्धितसंज्ञक ईय् परे रहते शाला के अन्त्य 'आ' का लोप हुआ। अदर्शनं लोप: (१।१।५९) से अदर्शन की लोप संज्ञा हुई।
शाल् ईय् अ	शालीय की प्रातिपदिक संज्ञा होने से स्वाद्युत्पत्ति के सब सूत्र लगकर, 'सु' को विसर्जनीय हो गया। तब—
शालीय:	बना।

इसी प्रकार माला शब्द से मालायां भव:=मालीय: (माला में होनेवाला, मूंगा मोती आदि) की सिद्धि जानें॥

---

(४) सूत्र-प्रयोजन—**औपगवः इस उदाहरण में 'अण्' को निमित्त मानकर उपगु शब्द के आदि अच् को जब** तद्धितेष्वचामा० (७।२।११७) **से वृद्धि प्राप्त हुई, तो** वृद्धिरादैच् **सूत्र ने बताया कि वृद्धि किसे कहते हैं ।।**

(५) **औपगवः (उपगोरपत्यम्, उपगु नामवाले व्यक्ति की सन्तान)**

उपगु ङस् समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२), तस्यापत्यम् (४।१।९२), प्राग्दीव्यतोऽण् (४।१।८३), प्रत्ययः परश्च (३।१।१,२) **से समर्थ 'उपगु ङस्' सुबन्त से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय हुआ ।**

उपगु ङस् अण् तद्धिताः (४।१।७६) कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६) सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१) प्रत्ययस्य लुक्० (१।१।६०),

उपगु अण् हलन्त्यम् (१।३।३) तस्य लोपः (१।३।९), **तथा** यस्मात् प्रत्य० (१।४।१३) **से उपगु की अङ्ग संज्ञा होकर—**

उपगु अ तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७) **से उपगु अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि प्राप्त हुई ।** वृद्धिरादैच् (१।१।१), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) **से 'उ' के स्थान में अन्तरतम 'औ' वृद्धि हुई ।**

औपगु अ यचि भम् (१।४।१८) से उपगु की भ संज्ञा हुई । भस्य (६।४।१२९), **अब** भस्याधिकार में वर्त्तमान ओर्गुणः (६।४।१४६) **से भ-संज्ञक उवर्णान्त अङ्ग को तद्धित 'अण्' परे रहते गुण प्राप्त हुआ ।** अदेङ् गुणः (१।१।२) **ने बताया कि अ ए ओ को गुण कहते हैं ।** स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से 'उ' को **अन्तरतम 'ओ' गुण हुआ ।**

औपगो अ एचोऽयवायावः (६।१।७५), यथासङ्ख्यमनुदेशः० (१।३।१०) **से अव् आदेश होकर,**

औपगव् अ **तद्धितान्त औपगव की प्रातिपदिक संज्ञा होने से पूर्ववत् सु आया ।**

औपगव सु **और उसे विसर्जनीय होकर—**

औपगवः बना ।।

इसी प्रकार 'उपमन्यु' **शब्द से** उपमन्योरपत्यम् **औपमन्यवः** (उपमन्यु नामक व्यक्ति का पौत्र) **की सिद्धि जानें ।** यहाँ अनृष्यानन्तर्ये० (४।१।१०४) **से अञ् प्रत्यय होता है** ।।

---

(५) ऐतिकायनः (इतिकस्य गोत्रापत्यम्, इतिक नामक व्यक्ति का पौत्र)

इतिक ङस् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, नडादिभ्यः फक् (४।१।९९) से गोत्र अपत्य अर्थ में फक् प्रत्यय हुआ।

इतिक ङस् फक् पूर्ववत् ङस् का लुक्, एवं इतिक की अङ्ग संज्ञा होकर,

इतिक फ आयनेयीनीयियः फढख० (७।१।२), यथासङ्ख्य० (१।३।१०) से फ को आयन् आदेश होकर—

इतिक आयन् अ किति च (७।२।११८), वृद्धिरादैच, स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से 'इ' को 'ऐ' वृद्धि हुई। यचि भम् (१।४।१८),भस्य (६।४।१२९), यस्येति च (६।४।१४८),

ऐतिक् आयन अब प्रातिपदिक संज्ञा होने से सु आया,

ऐतिकायन सु एवं विसर्जनीय होकर——

ऐतिकायनः बना॥

इसी प्रकार अश्वल शब्द से अश्वलस्य गोत्रापत्यम्, आश्वलायनः (अश्वल का पौत्र) की सिद्धि जानें॥

---

(६) आरण्यः (अरण्ये भवः, जङ्गल में होने वाला)

अरण्य ङि पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति के सब सूत्र लगकर समर्थानां प्रथ० (४।१।८२), अरण्याण्णो वक्तव्यः (वा० ४।२।१०३), इस वार्त्तिक से प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से भव अर्थ में ण प्रत्यय परे हुआ। पश्चात् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर——

अरण्य अ तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७),वृद्धिरादैच्, स्थानेऽन्तरतमः,

आरण्य् अ यचि भम् (१।४।१८),भस्य(६।४।१२९),यस्येति च (६।४।१४८)

आरण्य् अ से अन्त्य अकार का लोप होकर, पूर्ववत् सु आकर विसर्जनीय हो कर—

आरण्यः बना॥

---

(७) सूत्र-प्रयोजन– अचैषीत् यहाँ चिञ् धातु को लुङ् लकार में सिच् परे रहते जब सिचि वृद्धि पर० (७।२।१) से वृद्धि प्राप्त हुई, तब इस सूत्र ने बताया कि आ, ऐ, औ की वृद्धि संज्ञा होती है॥

(७) अचैषीत् (उसने चुना)

चिञ् चयने — हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।६), अदर्शनं० (१।१।५६), भूवादयो धातवः (१।३।१), धातोः (३।१।६१)—

चि — भूते (३।२।८४), लुङ् (३।२।११०), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से भूतकाल में लुङ् प्रत्यय हुआ। लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः

चि लुङ् — (३।४।६९) से लकार कर्त्ता=कर्तृवाच्य में आया। हलन्त्यम्, उपदेशेऽजनु० (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।६), च्लि लुङि (३।१।४३) से लुङ् परे रहते च्लि प्रत्यय हुआ।

चि च्लि ल् — च्लेः सिच् (३।१।४४) से च्लि के स्थान में सिच् आदेश हुआ।

चि सिच् ल् — अब लस्य (३।४।७७) से लकार के स्थान में तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ् (३।४।७८) से १८ प्रत्यय परे प्राप्त हुये। चाहिये हमें एक, सो आगे सूत्र लगा—लः परस्मैपदम् (१।४।९८), इससे १८ प्रत्ययों की पहले परस्मैपद संज्ञा प्राप्त हुई। पुनः तङानावात्मनेपदम् (१।४।९९) से 'त' से लेकर 'महिङ्' के ङ् पर्यन्त ९ प्रत्ययों की आत्मनेपद संज्ञा हुई, तो शेष पहिले के ९ परस्मैपदसंज्ञक रह गये। अब शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम् (१।३।७८) से चि धातु से शेष ९ परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय प्राप्त हुये। तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः (१।४।१००) से तिङ् के तीन तीन की क्रम से प्रथम मध्यम उत्तम संज्ञा हुई। हमें यहाँ प्रथम पुरुष का प्रत्यय चाहिये। अतः आगे सूत्र लगा—शेषे प्रथमः (१।४।१०७), इससे प्रथम पुरुष के तीन प्रत्यय तिप्, तस्, झि प्राप्त हुये। तान्येकवचनद्विवचनबहुवचन० (१।४।१०१) से उन तीन-तीन की क्रम से एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा हुई। अब यहाँ द्व्येकयोर्द्विवचनै० (१।४।२२) से एकवचन की विवक्षा में तिप् प्रत्यय आया। शेष दोनों हट गये।

चि सिच् तिप् — यस्मात् प्रत्ययविधि० (१।४।१३), अङ्गस्य (६।४।१), लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (६।४।७१), आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) से अङ्ग के आदि में अट् आगम होकर, हलन्त्यम् (१।३।३) से ट् व और प् की इत् संज्ञा, एवं उपदेशेऽजनुना० (१।३।२) से 'सि' के इ की इत् संज्ञा तथा लोप पूर्ववत् हुआ।

अ चि स् ति — इतश्च (३।४।१००) से ति के इ का लोप हुआ।

अ चि स् त् अब आर्धधातुकं शेषः(३।४।११४)से सिच् के 'स्' की आर्धधातुक संज्ञा होकर, आर्धधातुकस्येड्वलादेः(७।२।३५)से वलादि आर्धधातुक 'स्' को इट् आगम प्राप्त हुआ। पर एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्(७।२।१०) से चिञ् के अनुदात्त होने (अनिट् होने) से इट् का निषेध हो गया। अब तिङ्शित् सार्वधातुकम् (३।४।११३) से 'त्' की सार्वधातुक संज्ञा, तथा अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१।२।४१) से अपृक्त संज्ञा हुई। तब अस्तिसिचोऽपृक्ते (७।३।९६) से ईट् आगम 'त्' को प्राप्त हुआ, आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) ने कहा कि टित् आगम जिसको कहा हो, वह उसके आदि में हो सो 'त्' के आदि मेंईट् आगम हुआ।

अ चि स् ईट् त् हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९), तथा पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर

अ चि स् ई त् सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु (७।२।१)से वृद्धि प्राप्त हुई। तब यह वृद्धि 'चि' अङ्ग के च् को हो या 'इ' को हो इस का निर्णय इको गुणवृद्धी (१।१।३) परिभाषा सूत्र ने किया कि गुण वृद्धि जहाँ कही हो, वह इक् (इ, उ, ऋ, लृ) के स्थान में हो। सो चि के 'इ' की वृद्धि प्राप्त हुई। वृद्धिरादैच्, स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से अन्तरतम ऐ वृद्धि हुई।

अ चै स् ई त् आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से स् को मूर्धन्य ष् होकर—

अ चै ष् ई त्=अचैषीत् बना॥

इसी प्रकार णीञ् धातु से अनैषीत् (वह ले गया) बना॥

---

(८) अलावीत् (उसने काटा)

लूञ् छेदने पूर्ववत् सब सूत्र लगकर,

अट् लू सिच् ईट् त् आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४), आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५) से सिच् को इट् आगम आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) तथा पूर्ववत् अनुबन्ध लोप, एवं अङ्ग संज्ञा होकर,

अट् लू इट् सिच् ईट् त् सिचि वृद्धिः पर० (७।२।१), इको गुणवृद्धी (१।१।३),

अ लू इ स् ई त् वृद्धिरादैच्, स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४८)

अ लौ इ स् ई त् इट ईटि (८।२।२८) से इट् से उत्तर ईट् परे रहते 'स' का लोप हो गया।

अ लौ इ ई त्, तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (१।१।६) से 'इ ई' की परस्पर सवर्ण संज्ञा हो गई। तब अकः सवर्णे दीर्घः(६।१।६७) से दोनों 'इ ई' को दीर्घ एकादेश हुआ। एचोऽयवायावः (६।१।७५) से आव् आदेश होकर,

अ लौ ई त्　　=अलावीत् बन गया॥

इसी प्रकार 'पूञ् पवने' धातु से अपावीत् (उसने छाना) की सिद्धि जानें॥

---

(६) अकार्षीत् (उसने किया)

डुकृञ् करणे　　पूर्ववत् सब सूत्र लगकर,

अट् कृ सिच् ईट् त् आर्धधातुकं० (३।४।११४), आर्धधातुकस्येड० (७।२।३५), एकाच उपदेशे० (७।२।१०) से इट् निषेध पूर्ववत् हो गया।

अ कृ स् ई त् सिचि वृद्धिः पर० (७।२।१) वृद्धिरादैच्, इको गुण० (१।१।३), स्थानेऽन्तर० (१।१।४६) से सदृशतम वृद्धि प्राप्त हुई। पर 'ऋ' का सदृशतम आ, ऐ, औ में से कोई न होने से उरण्परः (१।१।५०) लगकर 'आर्' वृद्धि हुई।

अकार् स् ई त् आदेशप्रत्यययोः (८।३।५६) से षत्व होकर—

अकार्षीत्　　बना॥

इसी प्रकार 'हृञ् हरणे' धातु से अहार्षीत् (उसने हरण किया) की सिद्धि जानें। अपाठीत् (उसने पढ़ा) में 'पठ व्यक्तायां वाचि' धातु से अलावीत् के समान ही सब कार्य हुए। केवल यहाँ अतो हलादेर्लघोः (७।२।७) से 'प' के अ को विकल्प से वृद्धि हुई है, यही विशेष है। जिस पक्ष में वृद्धि हुई तो अपाठीत्, जब नहीं हुई तो अपठीत् बन गया॥

विशेषः— यहाँ तक वृद्धिरादैच् सूत्र के सब उदाहरणों की सिद्धियाँ पूर्ण हुईं। यदि विद्यार्थी इतनी सिद्धियाँ एक साथ ग्रहण करने में असमर्थ हो, तो अध्यापक उस को एक दो सिद्धियाँ ही समझाकर अभ्यास करा दें। यह भी विदित रहे कि इस सूत्र में हमने ७ प्रकार की सिद्धियों में से, कृदन्त, तद्धितान्त, सुबन्त, तथा तिङन्त ४ प्रकार की सिद्धियाँ तो बतला दीं। शेष तीन प्रकार की अर्थात् कृत्यप्रत्ययान्त, स्त्रीप्रत्ययान्त तथा समास की सिद्धियाँ भी आगे बतावेंगे। पाठक "एक साधे सब सधे" के सिद्धान्त को पूर्णतया समझने की चेष्टा करें। तभी महान् लाभ होगा।

एक प्रकार की सिद्धि समझ में आ जाने पर उस प्रकार के सहस्रों शब्दों की सिद्धि समझ में आ जाती है। सिद्धि का यही मुख्य प्रयोजन है। आरम्भ में इसमें कुछ परिश्रम भी पड़े तो, घबराना नहीं चाहिए॥

—:o:—

परि० अदेङ् गुणः (१।१।२)

सूत्र-प्रयोजन—'चेता' इस उदाहरण में चिञ् धातु को जब तृच् को मानकर गुण होने लगा, तब अदेङ् गुणः ने बताया कि अ, ए, ओ को गुण कहते हैं॥

(१) चेता (चुननेवाला)

चिञ् — भूवादयो धातवः (१।३।१) से धातु संज्ञा हुई। धातोः (३।१।९१) अधिकार में वर्त्तमान ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से तृच् प्रत्यय परे आ गया।

चिञ् तृच् — हलन्त्यम् (१।३।३) से इत् संज्ञा, तथा पूर्ववत् लोप होकर—

चि त — आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४) से तृच् की आर्द्धधातुक संज्ञा हुई। अब यस्मात् प्रत्यय० (१।४।१३) से चि की अङ्ग संज्ञा, अङ्गस्य (६।४।१), आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५) से इट् आगम तृच् को प्राप्त हुआ, उसका एकाच उपदेशे० (७।२।१०) से निषेध हो गया। सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४) से अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ। अदेङ् गुणः ने अ,ए, ओ की गुण संज्ञा की। इको गुणवृद्धी(१।१।३), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से 'इ' को अन्तरतम 'ए' गुण हुआ।

चे तृ — कृदतिङ् (३।१।९३) से 'तृच्' की कृत् संज्ञा हुई। कर्त्तरि कृत् (३।४।६७) से तृच् प्रत्यय कर्त्ता में हुआ। कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६) आदि सब सूत्र लगकर पूर्ववत् सु आया।

चे तृ सु — पूर्ववत् सु का अनुबन्ध लोप एवं 'चेतृ' की अङ्ग संज्ञा हुई।

चे तृ स — ऋदुशनस्पुरुदंशोनेहसां च (७।१।९४) से ऋकारान्त तथा उशनस्, पुरुदंशस्, अनेहस् इन अङ्गों को सम्बुद्धिभिन्न सु परे रहते 'अनङ्' आदेश होता है। सो यहां ऋकारान्त अङ्ग मानकर 'अनङ्' आदेश पाया। अब यह 'अनङ्' आदेश कहाँ हो, तब अनेकाल्शित्०(१।१।५४) ने कहा कि अनङ् अनेकाल् है, सो सारे 'चेतृ' के स्थान में हो, पर

ङिच्च (१।१।५२) ने कहा कि ङित् आदेश अन्त्य अल् को हो। अतः अन्त्य अल् ऋकार के स्थान में अनङ् हुआ।

चेत् अनङ् स् =चेतन् स्, सुडनपुंसकस्य (१।१।४२) से सुट्=सु, औ, जस्, अम्, औट् इन पाँचों की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है। सो 'स्' की सर्वनामस्थान संज्ञा हुई। अब अप्तृन्तृच्स्वसृ० (६।४।११) से 'स्' परे रहते तृजन्त अङ्ग 'चेतन्' की उपधा को दीर्घ प्राप्त हुआ। अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा (१।१।६४) से अन्त्य अल् से पूर्व की उपधा संज्ञा हुई। ऊकालोऽज्झ्रस्वदी० (१।२।२७) से द्विमात्रिकवाले वर्ण की दीर्घ संज्ञा हुई। स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से दीर्घ आकार हुआ।

चेतान् स् अब अपृक्त एकालप्रत्ययः (१।२।४१) से 'स्' की अपृक्त संज्ञा होकर हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुति० (६।१।६६) से अपृक्त 'स्' का लोप हो गया। प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (१।१।६१) से सु को निमित्त मान कर,

चेतान् सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४) से 'चेतान्' की पद संज्ञा हुई। पदस्य (८।१।१६), नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) से 'न्' का लोप होकर—

चेता बना॥

इसी प्रकार 'णीञ् प्रापणे' धातु से पूर्ववत् सब सूत्र लगकर नेता (ले चलनेवाला), 'ष्टुञ् स्तुतौ' से स्तोता (स्तुति करनेवाला) बनेगा। 'डुकृञ् करणे' धातु से पूर्ववत् गुण प्राप्त होकर उरण्रपरः (१।१।५०) से 'अर्' गुण होकर कर्त्ता (करनेवाला) तथा 'हृञ् हरणे' धातु से हर्त्ता (हरण करनेवाला) बनेगा।

भविता—यहाँ भू धातु से पूर्ववत् ही सब गुण आदि होगा। केवल आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५) से भू धातु के सेट् होने से इट् आगम ही विशेष है। सो 'भो इट् तृ' बनकर एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अव् आदेश होकर भवितृ=भविता (होनेवाला) बन गया। 'तॄ प्लवनसंतरणयोः' धातु से इसी प्रकार इट् आगम, एवं उरण्रपरः (१।१।५०) से अर् गुण होकर तर् इट् तृ=तरिता (तैरनेवाला) की सिद्धि जानें॥

---

(२) जयति (जीतता है)

जि जये भूवादयो धातवः (१।३।१), धातोः (३।१।९१), वर्त्तमाने लट्

(३।२।१२३), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) इनसे वर्त्तमानकाल में लट् प्रत्यय हुआ। होकर—

जि लट्　हलन्त्यम् (१।३।३), उपदेशेऽज॰ (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।९), अदर्शनं॰ (१।१।५९)

जि ल　लः कर्मणि च भावे॰ (३।४।६९) से कर्त्ता में लकार आया। अब यहाँ पूर्ववत् (अचंषीत् के समान) सूत्र लगकर ल् के स्थान में 'तिप्' आया।

जि तिप्　तिङ्शित् सार्व॰ (३।४।११३) से 'तिप्' की सार्वधातुक संज्ञा होकर, कर्त्तरि शप् (३।१।६८), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से कर्तृ वाची सार्वधातुक 'तिप्' के परे रहते शप् प्रत्यय आया।

जि शप् तिप्　लशक्वतद्धिते (१।३।८), हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९)।

जि अ ति　अब पूर्ववत् 'जि' की अङ्ग संज्ञा होकर, सार्वधातुकार्द्धधातु॰ (७।३।८४) से गुण प्राप्त हुआ। अदेङ् गुणः ने अ, ए, ओ की गुण संज्ञा की। इको गुणवृद्धी (१।१।३), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से 'इ' को अन्तरतम 'ए' गुण हुआ।

जे अ ति　एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अय् आदेश होकर—

जयति　बन गया॥

इसी प्रकार 'णीञ् प्रापणे' धातु से नयति (ले जाता है)। भू धातु से भवति की सिद्धि जानें। तॄ धातु को पूर्ववत् तर् गुण होकर तरति (तैरता है) बनेगा॥

पचन्ति में जो विशेष है, वह नीचे दर्शाते हैं।

---

(३) पचन्ति (सब पकाते हैं)

डुपचष् पाके　पूर्ववत् सब सूत्र लगकर बहुवचन की विवक्षा होने से द्व्येकयोर्द्विवचनै॰ (१।४।२२) के स्थान में बहुषु बहुवचनम् (१।४।२१) से 'झि' आया। तथा पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर—

पच् शप् झि　अङ्गस्य (६।४।१) झोऽन्तः (७।१।३) से 'झ' को अन्त् आदेश हुआ।

पच् अ अन्त् इ　अब अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से दोनों अकारों को सवर्ण दीर्घ प्राप्त हुआ, पर पूर्व अकार के अपदान्त (=पद के अन्त में न) होने से सवर्ण दीर्घ का बाधक सूत्र अतो गुणे (६।१।९४) लगा। इसने

कहा कि अपदान्त अकार से उत्तर गुण परे रहते पूर्व और पर के स्थान में पररूप एकादेश हो । अदेङ् गुणः ने परवाले अ की गुण संज्ञा की, तो दोनों अकारों को सवर्ण दीर्घ न होकर पररूप एकादेश हो गया । और—

पच् अन्ति =पचन्ति बन गया ।।

इसी प्रकार पठन्ति (सब पढ़ते हैं), यजन्ति (सब यज्ञ करते हैं), भवन्ति (सब होते हैं) की सिद्धि जानें ।।

---

(४) पचे (मैं पकाता हूं)

डुपचष् पाके पूर्ववत् ही यहां भी तिबाद्युत्पत्ति के सब सूत्र लगे ।

पच् डुपचष् धातु के स्वरितेत् होने से स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (१।३।७२) से आत्मनेपद हो गया । यहां उत्तम पुरुष का प्रत्यय लाना है । सो शेषे प्रथमः (१।४।१०७) के स्थान में अस्मद्युत्तमः (१।४।१०६) सूत्र लगा, शेष सब पूर्ववत् है ।

पच् शप् इट् = पच अ इ, टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९) से आत्मनेपदसंज्ञक 'इट' प्रत्यय के टि भाग को 'ए' प्राप्त हुआ । अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३) से अचों में जो अन्त्य अच् तदादि समुदाय की टि संज्ञा होती है । यहां आद्यन्तवदेकस्मिन् (१।१।२०) से अकेले 'इ' की टि संज्ञा हुई, सो उसी को एत्व हुआ ।

पच् अ ए अब अतो गुणे (६।१।९४) से गुणसंज्ञक कोई अक्षर परे रहते पूर्व और पर के स्थान में पररूप ('ए' का रूप) एकादेश प्राप्त हुआ । तब अदेङ् गुणः ने ए' की गुण संज्ञा की । इस प्रकार—

पच ए =पचे बन गया ।।

इसी प्रकार 'यज' धातु से 'यजे' (मैं यज्ञ करता हूं) की सिद्धि जानें ।।

---

(५) देवेन्द्रः (देवानाम् इन्द्रः, देवों का स्वामी)

देव आम् इन्द्र सु षष्ठी (२।२।८) से यहां षष्ठी तत्पुरुष समास हुआ । कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६) से समास की प्रातिपदिक संज्ञा होकर, सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१) से सुपों का लुक् हो गया ।

देव इन्द्र — अब आद् गुण: (६।१।८४) से पूर्व और पर (= अ और इ) के स्थान में गुण एकादेश पाया, अदेङ्गुण: ने अ ए ओ की गुण संज्ञा की। स्थानेऽन्तरतम: (१।१।४९) लगकर 'अ' और 'इ' के स्थान में अन्तरतम 'ए' गुण एकादेश हुआ।

देव् एन्द्र — =देवेन्द्र। प्रातिपदिक संज्ञा होने से 'सु' आकर विसर्जनीय होकर—

देवेन्द्र: — बना ॥

इसी प्रकार सूर्यस्य उदय:=सूर्योदय: (सूर्य का उदय) यहाँ भी "सूर्य ङस् उदय सु" इस स्थिति में पूर्ववत् सब होकर आद् गुण: (६।१।८४) से अन्तरतम 'ओ' गुण एकादेश हुआ है ॥

---

(६) महर्षि: (महांश्चासौ ऋषिश्च, महान् ऋषि)

महत् सु ऋषि सु — सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टा: पूज्यमानै: (२।१।६०), तत्पुरुष: (२।१।२१) से महत् और ऋषि का समानाधिकरण तत्पुरुष समास हुआ। पूर्ववत् सुपों का लुक् होकर—

महत् ऋषि — समानाधिकरण तत्पुरुष होने से आन्महत: समानाधिकरण० (६।३।४४) से महत् शब्द को आकारादेश प्राप्त हुआ। अलोन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् 'त' को 'आ' हुआ।

मह आ ऋषि — अक: सवर्णे० (६।१।९७), तुल्यास्यप्रयत्नं० (१।१।९) लगकर—

महा ऋषि — आद् गुण: (६।१।८४) से गुण एकादेश प्राप्त, अदेङ् गुण: से गुण संज्ञा हुई, उरण्रपर: (१।१।५०), स्थानेऽन्तरतम: (१।१।४९) लगकर 'अर्' गुण हुआ।

महर्षि — पूर्ववत् समास की प्रातिपदिक संज्ञा होने से सु आकर विसर्जनीय होकर—

महर्षि: — बना ॥

यहाँ तक अदेङ्गुण: की सब सिद्धियाँ समाप्त हुईं ॥

—:०:—

परि० इको गुणवृद्धी (१।१।३)

सूत्र-प्रयोजन—मेद्यति इस उदाहरण में 'य' को निमित्त मानकर जब मिदेर्गुण: (७।३।८२) से मिद् अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ, तो वह गुण कहाँ पर हो— 'द्' को

हो, या 'म्' को हो, या 'इ' को हो ? इसका निर्णय इको गुणवृद्धी सूत्र ने किया कि अङ्ग के स्थान में गुण हो। सो 'इ' को 'ए'गुण होकर मेद्यति बन गया ॥

(१) मेद्यति (स्नेह करता है)

ञिमिदा स्नेहने भूवादयो० (१।३।१), आदिर्ञिटु० (१।३।५) से ञि की इत् संज्ञा, उपदेशेऽजनु० (१।३।२) से 'आ' की इत् संज्ञा, तथा पूर्ववत् लोप हुआ। पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति के सब सूत्र लगकर —

मिद् तिप्　दिवादिभ्यः श्यन् (३।१।६९) से मिद् धातु के दिवादिगण में पढ़ होने से शप् का अपवाद श्यन् प्रत्यय आया।

मिद् श्यन् तिप्　अनुबन्धलोप, तथा पूर्ववत् 'मिद्' की अङ्ग संज्ञा होकर —

मिद् य ति　अलोन्त्यात् पूर्व उपधा (१।१।६४), ह्रस्वं लघु (१।४।१०) से मिद् अङ्ग के 'इ' को लघु उपधा मानकर, पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से श्यन् सार्वधातुक के परे रहते गुण प्राप्त हुआ। पर 'श्यन्' के अपित् होने से सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से श्यन ङित्वत् = ङित् के समान माना गया, तो क्क्ङिति च (१।१।५) से गुण निषेध हो गया। तब मिदेर्गुणः (७।३।८२) ने पुनः मिद् अङ्ग को गुण प्राप्त कराया। अब यह गुण कहाँ पर हो, सो इको गुणवृद्धी ने कहा कि अङ्ग के इक् को हो। अदेङ् गुणः (१।१।२) ने अ, ए, ओ की गुण संज्ञा की। स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) लगकर 'इ' को 'ए' गुण होकर—

मेद् य ति　= मेद्यति बना ॥

---

(२) मार्ष्टि (शुद्ध करता है)

मृजूष् शुद्धौ　पूर्ववत् अनुबन्ध लोप, एवं सब सूत्र लगकर—

मृज् शप् तिप्　अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२) से मृजूष् के अदादिगण में पढ़े होने से शप् का लुक् हुआ। प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१।१।६०) से प्रत्यय के अदर्शन की लुक् संज्ञा हुई।

मृज् ति　पूर्ववत् 'मृज्' की अङ्ग संज्ञा होकर मृजेर्वृद्धिः (७।२।११४) से मृज् अङ्ग को वृद्धि प्राप्त हुई। इको गुणवृद्धी परिभाषासूत्र ने निर्णय किया कि अङ्ग के इक् अर्थात् ऋ को वृद्धि हो। वृद्धिरादैच्

	(१।१।१), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४६), उरण्परः (१।१।५०) से आर् वृद्धि हुई ।
मार्ज् ति	व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः (८।२।३६) से मार्ज् को षकारादेश प्राप्त हुआ । अलोऽन्त्यस्य(१।१।५१)से अन्त्य अल् ज् को ष् हुआ ।
मार्ष् ति	ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से त् को षकार के योग में ट् होकर—
मार्ष्टि	बना ॥

शेष सब उदाहरणों की सिद्धियां ऊपर के दोनों सूत्रों में कर दी गई हैं । पाठक वहीं देखें ॥

—:o:—

परि० न धातुलोप आर्द्धधातुके (१।१।४)

सूत्र-प्रयोजन—लोलुवः यहाँ पर लूञ् धातु से यङ् प्रत्यय होकर पुनः 'लोलूय' की धातु संज्ञा हुई । तब 'लोलूय अ' इस अवस्था में 'य' का लुक् होकर जब 'अ' आर्द्धधातुक को निमित्त मानकर लू के 'ऊ' को सार्वधातु० (७।३।८४) से गुण प्राप्त हुआ, तो उसका निषेध न धातुलोप आर्द्धधातुके ने कर दिया ॥

(१) लोलुवः (बार-बार काटनेवाला)

लूञ् छेदने	हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९), भूवादयो० (१।३।१), धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् (३।१।२२), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से यङ् प्रत्यय हुआ ।
लू यङ् = य	सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) से 'लूय' की धातु संज्ञा हुई । एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१), सन्यङोः (६।१।९) से यङन्त 'लूय' धातु के प्रथम एकाच् 'लूय्' को द्वित्व हुआ ।
लूय् लूय् अ	पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), हलादिः शेषः (७।४।६०), गुणो यङ्लुकोः (७।४।८२)से अभ्यास को गुण प्राप्त हुआ । अदेङ् गुणः (१।१।२), इको गुणवृद्धी (१।१।३), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९)लगकर—
लोलूय	धातोः (३।१।९१), नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः (३।१।१३४), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से 'लोलूय' से अच् प्रत्यय हुआ ।
लोलूय अच् = अ	यङोऽचि च (२।४।७४) से अच् परे मानकर 'य' का लुक् हुआ । प्रत्ययस्य लु० (१।१।६०) लगकर—

लोलू अ — अब पूर्ववत् 'लोलू' की अङ्ग संज्ञा होकर सार्वधातुका० (७।३।८४) से अच् आर्द्धधातुक परे मानकर 'लू' के 'ऊ' को गुण प्राप्त हुआ। उसका न धातुलोप आर्द्धधातुके से निषेध हो गया। क्योंकि उसी अच् आर्द्धधातुक को निमित्त मानकर धातु के अवयव 'य' का लुक् हुआ था, और उसी अच् को निमित्त मानकर अब गुण प्राप्त हो रहा है, सो न हुआ। अब अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वो० (६।४।७७) से उवङ् आदेश ङिच्च (१।१।५२) से अन्त्य अल् 'ऊ' को हुआ।

लो ल् उवङ् अ — =लोलुव् अ, कृदतिङ् (३।१।९३), कृत्तद्धित० (१।२।४६) आदि सब सूत्र लगकर सु आया। पुनः विसर्जनीय होकर—

लोलुवः — बना॥

इसी प्रकार 'पूङ् पवने' धातु से पोपुवः (बार-बार छाननेवाला) की सिद्धि जानें॥

---

(२) मरीमृजः (बार-बार शोधन करनेवाला)

मृजूष — पूर्ववत् ही सब सूत्र लगकर यङ् का लुक्, एवं अच् प्रत्यय हुआ।

मृमृज् अ — उरत् (७।४।६६) से अभ्यास के ऋ को अकार आदेश होकर, उरण्रपरः (१।१।५०) से रपर हुआ।

मर् मृज् अ — हलादिः शेषः (७।४।६०) लगकर—

म मृज् अ — रीगृदुपधस्य च (७।४।९०) से अभ्यास को रीक् आगम प्राप्त हुआ। आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) से अन्त में होकर—

म रीक् मृज् अ — पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, मृजेर्वृद्धिः (७।२।११४) से अङ्ग को वृद्धि प्राप्त हुई। उसका न धातुलोप आर्द्धधातुके से निषेध हुआ। क्योंकि 'अ' को निमित्त मानकर ही यङ् का लुक् हुआ है। एवं 'अ' को निमित्त मानकर ही मरीमृज अङ्ग को वृद्धि प्राप्त है, सो न हुई। आगे पूर्ववत् ही सब सूत्र लगकर—

मरीमृजः — बना॥

इसी प्रकार 'सृप्लृ गतौ' से सरीसृपः (बार-बार सरकनेवाला=सर्प आदि) की सिद्धि जानें। केवल यहाँ इतना विशेष है कि 'सरीसृप् अ' इस अवस्था में पुगन्त-लघूपधस्य च (७।३।८६) से गुण प्राप्त होता है, उसका पूर्ववत् निषेध हो जायेगा॥

—:०:—

परि० क्क्ङिति च (१।१।५)

सूत्र-प्रयोजन– जिष्णु: इस उदाहरण में 'जि' अङ्ग को जब ग्स्नु आर्धधातुक को निमित्त मानकर सार्वधातुका० (७।३।८४) से गुण प्राप्त होता है, तब उसका निषेध क्क्ङिति च से हो जाता है, क्योंकि ग्स्नु गित् है ॥

(१) जिष्णु: (जीतने के स्वभाववाला, जयनशील)

जि जये	भूवादयो० (१।३।१), धातो: (३।१।९१), ग्लाजिस्थश्च ग्स्नु: (३।२।१३९), प्रत्यय:, परश्च (३।१।१,२)।
जि ग्स्नु	लशक्वतद्धिते (१।३।८), तस्य लोप: (१।३।९) होकर –
जि स्नु	आर्द्धधातुकं शेष: (३।४।११४), आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५) से प्राप्त इट् आगम का एकाच उपदेशे० (७।२।१०) से निषेध हो गया। पूर्ववत् 'जि' की अङ्ग संज्ञा होकर सार्वधातुकार्द्धधातुकयो: (७ ३।८४) से 'जि' अङ्ग को 'स्नु' को निमित्त मानकर गुण प्राप्त हुआ। उसका निषेध स्नु के गित् होने से क्क्ङिति च से हो गया। आदेशप्रत्यययो: (८।३।५९) से प्रत्यय से सकार को षकार हुआ।
जि ष्नु	रषाभ्यां नो ण: समानपदे (८।४।१) से न को ण हुआ।
जि ष्णु	कृदतिङ (३।१।९३), कृत्तद्धित० (१।२।४६) पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
जिष्णु:	बन गया ॥

इसी प्रकार भू धातु से भूष्णु: (होने के स्वभाववाला) की सिद्धि पूर्ववत् ही समझें। केवल यहाँ इतना विशेष है कि ७।२।३५ से जब भू धातु के सेट् होने से इट् आगम होने लगा, तब उसका निषेध श्र्युक: किति (७।२।११) से गित् परे होने से हो जाता है। शेष सब पूर्व सिद्धि में दिखा ही दिया है ॥

( ) चित: (चुना हुआ)

चिञ्	हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोप: (१।३।९)।
चि	भूवादयो० (१।३।१) धातो: (३।१।९१) निष्ठा (३।२।१०२), क्तक्तवतू निष्ठा (१।१।२५), प्रत्यय:, परश्च (३।१।१,२)।
चि क्त	लशक्वतद्धिते (१।३।८), तस्य लोप: (१।३।९)।
चि त	आर्धधातुकं शेष: (३।४।११४) से 'क्त' की आर्धधातुक संज्ञा हुई।

एवं पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, सार्वधातुका० (७।३।८४) से क्त को निमित्त मानकर चि अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ। सो क्क्ङित च से क्त के कित् होने से निषेध हो गया। पूर्ववत् एकाच उप० देशे० (७।२।१०) से इट् आगम का निषेध भी हो गया। अब पूर्ववत् कृदतिङ् (३।१।९३), कृत्तद्धित० (१।२।४६) आदि सब सूत्र लगकर स्वाद्युत्पत्ति एवं रुत्व विसर्जनीय होकर —

चितः　　बना ॥

इसी प्रकार ष्टुञ् धातु से स्तुतः (स्तुति किया हुआ) की सिद्धि जानें। धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से ष्टुञ् के ष् को स् हो ही जायेगा। डुकृञ् धातु से कृतः (किया हुआ), तथा भिदिर् से भिन्नः (टूटा हुआ) बनेगा। भिन्नः में इतना विशेष है कि 'भिद् त' इस अवस्था में पुगन्तलघूप० (७।३।८६) से गुण प्राप्त होता है। उसका प्रकृत सूत्र से निषेध होकर, रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः (८।२।४२) से द तथा निष्टा के त को न् होकर भिन् न=भिन्नः बन गया। मृजूष् धातु से मृष्टः (शुद्ध किया हुआ) की सिद्धि जानें। मार्ष्टि के समान ही ज् को ष्, तथा त को ट यहाँ हुआ है। मृजेर्वृद्धिः (७।२।११४) से प्राप्त वृद्धि का ही यहाँ प्रतिषेध होता है। शेष पूर्ववत् ही समझें ॥

---

(३) चितवान् (उसने चुना)

चिञ्　　पूर्ववत् सारे सूत्र लगकर निष्ठासंज्ञक क्तवतु प्रत्यय आया।

चि क्तवतु=तवत्, पूर्ववत् ही अङ्ग संज्ञा होकर, गुण प्राप्त होकर प्रकृत सूत्र से निषेध हुआ। अब कृतद्धित० (१।२।४६) आदि सूत्र लगकर सु परे आया।

चितवत् सु=स् सुडनपुंसकस्य (१।१।४२) से सु की सर्वनामस्थान संज्ञा होकर अत्वसन्तस्य चाधातोः (६।४।१४), अलोन्त्यात् पूर्व० (१।१।६४) से अत्वन्त की उपधा को दीर्घ हुआ।

चितवात् स्　　अब उगिदचां सर्वनाम० (७।१।७०) से उगित् अङ्ग 'चितवात्' को सर्वनामस्थान परे रहते 'नुम्' आगम प्राप्त हुआ। मिदचोन्त्यात् परः (१।१।४६) से अन्त्य अच् वा' के आ से परे हुआ।

चितवा नुम् त् स् पूर्ववत् अनुबन्ध लोप तथा अपृक्त एकालप्रत्ययः (१।२।४१) से 'स्' की अपृक्त संज्ञा होकर हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६) से अपृक्त स् का लोप हुआ।

चितवान्त् सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४), पदस्य (८।१।१६) से चितवान्त् की पद संज्ञा हुई। हलोऽनन्तराः संयोगः (१।१।७) से 'न् त्' की संयोग संज्ञा होने से संयोगान्तस्यलोपः (८.२।२३) से 'त्' का लोप होकर—

चितवान् बना ।।

इसी प्रकार स्तुतवान् (उसने स्तुति की), कृतवान् (उसने किया), भिन्नवान् (उसने तोड़ा) मृष्टवान् (उसने शुद्ध किया) की सिद्धियाँ जानें। इनमें जो-जो विशेष है, वह पूर्व क्त प्रत्ययान्त की सिद्धि में दिखा आये हैं ।।

---

(४) चिनुतः (वे दोनों चुनते हैं)

चिञ् पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति के सब सूत्र लगकर प्रथम पुरुष के द्विवचन का तस् प्रत्यय आया। तस् के सकार की हलन्त्यम् (१।३।३) से इत् संज्ञा प्राप्त होती है। परन्तु विभक्तिश्च (१।४।१०३) से तस् की विभक्ति संज्ञा होने के कारण न विभक्तौ तुस्माः (१।३।४) से इत्संज्ञा का निषेध हो जाता है।

चि तस् स्वादिभ्यः श्नुः (३।१।७३) से शप का अपवाद श्नु प्रत्यय हुआ।

चि श्नु तस् लशक्वतद्धिते (१।३।८), तस्य लोपः (१।३।९) से शनु के श् का लोप।

चि नु तस् यस्मात् प्रत्ययविधि (१।४।१३) से 'चि' की श्नु परे रहते, तथा 'चि श्नु' की तस् परे रहते अङ्ग संज्ञा हुई। अङ्गस्य (६।४।१), तिङ्शित् सार्व० (३।४।११३), सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४) से 'श्नु' सार्वधातुक को निमित्त मानकर 'चि' अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ। सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से श्नु ङित्वत हो गया। तब क्ङिति च से गुण निषेध हो गया। 'चि श्नु' की अङ्ग संज्ञा होने से तस् को निमित्त मानकर 'नु' को गुण पाया। सो उसका भी इसी प्रकार ङित्वत् (१।२।४ से) होने से निषेध हो गया। सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४), पदस्य (८।१।१६), ससजुषो रुः (८।२।६६) लगकर—

चिनुत रु=र् विरामोऽवसानम् (१।४।१०९), खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८।३।१५) लगकर—

चिनुतः बना ।।

इसी प्रकार 'षुञ् अभिषवे' धातु से सुनुतः (वे दोनों सोमरस निचोड़ते हैं) बनेगा। धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से ष को स् हो ही जायेगा। चिन्वन्ति में जो विशेष है, वह निम्न प्रकार है—

(५) चिन्वन्ति (वे सब चुनते हैं)

चि नु झि — पूर्ववत् ही सब सूत्र लगे । पूर्ववत् ही गुणप्राप्ति एवं गुणनिषेध कार्य यहाँ भी जानें । झोऽन्तः (७।१।३) से झ् को अन्त आदेश ।

चि नु अन्त् इ — अब यहाँ इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश प्राप्त हुआ । पर उसको बाधकर अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरि० (६।४।७७) से उवङ् आदेश श्नुप्रत्ययान्त अङ्ग को पाया । पर उस उवङ् को भी बाधकर हुश्नुवोः सार्वधातुके (६।४।८७) से असंयोगपूर्व श्नुप्रत्ययान्त अङ्ग होने के कारण पुनः यणादेश ही हुआ । और —

चिन् व् अन्ति =चिन्वन्ति बना ॥

इसी प्रकार सुन्वन्ति की सिद्धि जानें ॥

—:o:—

परि० दीधीवेवीटाम् (१।१।६)

(१) आदीध्यनम् (अच्छी प्रकार से प्रकाशित होना)

दीधीङ् — हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९), भूवादयो० (१।३।१)।

दीधी — धातोः (३।१।९१), ल्युट् च (३।३।११५), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

आङ् दीधी ल्युट् =यु, पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, युवोरनाकौ (७।१।१), यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् (१।३।१०) से यु को अन ।

आदीधी अन — आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४), सार्वधातुकार्ध० (७।३.८४) से 'धी' के 'ई' को गुण प्राप्त हुआ । उसका दीधीवेवीटाम् से निषेध हो गया । अब अचि श्नुधातुभ्रुवां० (६।४।७७) से इयङ् आदेश प्राप्त हुआ । तब उसको भी बाधकर पुनः एरनेकाचोऽसंयो० (६।४। ८२) से यणादेश ही हुआ ।

आदीध्यन — कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), पूर्ववत् सु आकर—

आदीध्यन सु — अतोऽम् (७।१।२४) से नपुंसकलिङ्ग में होने से अम् होकर—

आदीध्यन अम् — अमि पूर्वः (६।१।१०३) से पूर्वरूप हुआ । और—

आदीध्यनम् — बना ॥

इसी प्रकार आङ् पूर्वक वेवीङ् धातु से आवेव्यनम् (अच्छी प्रकार जानना) की सिद्धि जानें ॥

---

(२) आदीध्यकः (अच्छी प्रकार प्रकाश करनेवाला)

आङ् दीधीङ्　पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३) से ण्वुल् प्रत्यय आया।

आ दीधी ण्वुल्　पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, युवोरनाकौ (७।१।१) से 'वु' को 'अक' आदेश हुआ।

आ दीधी अक　अब यहाँ अचोञ्णिति (७।२।११५) से धी के 'ई' को वृद्धि प्राप्त हुई। जिसका दीधीवेवीटाम् से निषेध हो गया। शेष यणादेश एवं स्वाद्युत्पत्ति पूर्ववत् होकर—

आदीध्यकः　बन गया ॥

इसी प्रकार आवेव्यकः (अच्छी प्रकार जाननेवाला) में भी जानें ॥

---

(३) पठिता (वह कल पढ़ेगा)

पठ　उपदेशेऽज० (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।९)।

पठ　भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), अनद्यतने लुट् (३।३।१५), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

पठ लुट्=ल्　स्यतासी ललुटोः (३।१।३३), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)। पूर्ववत् ल् के स्थान में तिप् प्रत्यय भी हुआ।

पठ् तास् तिप्　लुटः प्रथमस्य डारौरसः (२।४।८५), यथासङ्ख्यम० (१।३।१०)।

पठ् तास् डा　आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४), आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५), आद्यन्तौ० (१।१।४५)।

पठ् इट् तास् डा　अब डित्यभस्यापि० अनुबन्धकरणसामर्थ्यात् (महा० वा० ६।४।१४३) इस वार्त्तिक से तास् के टि भाग=आस् का लोप हुआ। अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३)।

पठ् इ त् आ　=पठित् आ। पूर्ववत् 'पठित्' की अङ्ग संज्ञा होने से पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से लघु उपधा इट् को गुण पाया। उसका दीधीवेवी-

वीटाम् से निषेध होकर —

पठिता	बन गया ॥

इसी प्रकार कण धातु से कणिता (वह कल जायेगा) बनेगा ॥

—:०:—

परि० हलोऽनन्तराः संयोगः (१।१।७)

गोमान् (गावः सन्ति यस्य = बहुत गौवोंवाला)

गो	अर्थवदधातु० (१।२।४५) आदि सब सूत्र लगकर—

गो जस्	तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (५।२।९४)।

गो जस् मतुप्	कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१)।

गो मतुप्	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति एवं अनुबन्ध लोप होकर—

गो मत् स्	सुडनपुंसकस्य (१।१।४२), अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा (१।१।६४), अत्वसन्तस्य चाधातोः (६।४।१४) से अत् की उपधा को दीर्घ हुआ।

गोमात् सु	उगिदचां सर्वनाम० (७।१।७०), मिदचोन्त्यात् परः (१।१।४६)।

गोमा नुम त् स्	अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१।२।४१), हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६) से स् का लोप हुआ।

गोमा न् त्	सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४), पदस्य (८।१।१६), अब हलोऽनन्तराः संयोगः से न् त् की संयोग संज्ञा होने से संयोगान्तस्य लोपः (८।२।२३) से संयोग के अन्त तकार का लोप होकर—

गोमान्	बना ॥

इसी प्रकार यवमान् (जौवाला) की सिद्धि जानें। चितवान् की सिद्धि परि० १।१।५ में कर आये हैं। इन्द्र, यहाँ न्, द्, र की संयोग संज्ञा होने से संयोगे गुरु (१।४।११) से इन्द्र के इ की गुरु संज्ञा हो गई। तब गुरोरनृतो० (८।२।८६) से 'इ' को प्लुत होकर इ३न्द्र बन गया ॥

—:०:—

परि० नाज्झलौ (१।१।१०)

(१) दण्डहस्तः (जिसके हाथ में दण्ड हो, ऐसा मनुष्य)

दण्डहस्तः, यहाँ दण्ड शब्द के अन्तिम 'अ' तथा हस्त के 'ह' इन दोनों वर्णों का

स्थान अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः (वर्णो० २२) से कण्ठ है, तथा 'अ' का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृतकरणाः स्वराः (वर्णो० ५७) से विवृत, एवं 'ह' का भी विवृतकरणा वा (वर्णो० ५६) से विवृत है। सो दोनों वर्णों का स्थान और प्रयत्न तुल्य है। अतः तुल्यास्यप्रयत्नं० (१।१।९) से दोनों की परस्पर सवर्णसंज्ञा होकर अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से 'अ' और 'ह' को दीर्घ एकादेश होकर 'दण्डास्तः' ऐसा अनिष्ट रूप पाता है। पर यह तुल्य स्थान और तुल्य प्रयत्नवाले अ और ह वर्ण क्रमशः एक अच तथा दूसरा हल् है। सो सवर्ण संज्ञा का ही नाज्झलौ से निषेध हो गया,तो सवर्ण अच् परे न होने से दीर्घ नहीं हुआ॥

दधि शीतलम् (ठण्डा दही), यहाँ भी दधि के 'इ' एवं शीतलम् के 'श' दोनों का स्थान इचुयशास्तालव्याः (वर्णो० २८) से तालु होने से समान है। प्रयत्न भी पूर्ववत् ही तुल्य है। सो सवर्ण संज्ञा होने से दीर्घ (६।१।९७) प्राप्त था। पर 'इ' के अच् एवं 'श' के हल् होने से प्रकृत सूत्र से सवर्ण संज्ञा का ही निषेध हो गया, तो दीर्घ नहीं हुआ॥

---

(२) वैपाशो मत्स्यः (विपाशि भवः = व्यास नदी में होनेवाली मछली)

विपाश्	अर्थवदधातु० (१।२।४५), ङ्याप्प्राति० (४।१।१) सब सूत्र पूर्ववत् लगकर—
विपाश् ङि	समर्थानां० (४।१।८२), प्राग्दीव्यतोऽण् (४।१।८३), तत्र भवः (४।३।५३) से अण् प्रत्यय होकर—
विपाश ङि अण्	तद्धिताः (४।१।७६), कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१)।
वैपाश् अ	तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७) वृद्धिरादैच् (१।१।१) स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९)।
वैपाश् अ	यचि भम् (१।४।१८) से 'वैपाश' की भ संज्ञा हुई। भस्य (६।४।१२९)। अब यस्येति च (६।४।१४८) से श का लोप प्राप्त हुआ। क्योंकि यस्येति च से अवर्ण और इवर्ण का लोप कहा है। सो जिस प्रकार ह्रस्व 'अ' और 'इ' का लोप कहने पर, दीर्घ अवर्ण तथा इवर्ण का भी सवर्ण संज्ञा होने से लोप हो जाता है, उसी प्रकार इ' के साथ शकार का भी पूर्ववत् स्थान(वर्णो० २८), तथा प्रयत्न (वर्णो० ५६, ५७) समान होने से १।१।९ से सवर्ण संज्ञा, एवं अणुदित्सवर्णस्य०(१।१।६८)से सवर्ण शकार का ग्रहण होकर, लोप पाया। पर

इ तथा श् के क्रमशः अच् और हल् होने से सवर्ण संज्ञा का ही नाज्झलौ से निषेध हो गया, तो लोप नहीं हुआ। अब पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर —

वैपाशः बन गया ॥

इसी प्रकार आनडुहं चर्म (बैल का चमड़ा) यहाँ अनडुह् शब्द से प्राणि-रजतादिभ्योऽञ् (४।३।१५२) से अञ् एवं (७।२।११७) से वृद्धि आदि होकर 'आनडुह् अ' रहा। यहाँ भी यस्येति च (६।४।१४८) में कहे अवर्ण के साथ ह् का स्थान और प्रयत्न समान होने से सवर्ण का ग्रहण अणुदित्० (१।१।६८) से होकर 'ह' का लोप पाता है। जो सवर्ण संज्ञा के निषेध होने से नहीं होता। शेष पूर्ववत् ही जानें ॥

—:०:—

परि० ईदूदेद्द्वि० (१।१।११)

(१) अग्नी इति (दो प्रकार की अग्नियाँ)

अग्नि — अर्थवदधातुर० (१।२।४५) आदि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर द्विवचन का 'औ' प्रत्यय हुआ।

अग्नि औ — प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) से 'इ' और 'औ' को पूर्वसवर्ण दीर्घ हुआ।

अग्नी + इति — अब अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से अग्नी के 'ई' तथा इति के 'इ' को दीर्घ पाया। पर ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् से द्विवचनान्त 'अग्नी' शब्द की प्रगृह्य संज्ञा होने से प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (६।१।१२१) से प्रकृतिभाव रह गया। अर्थात् सन्धि (दीर्घ) नहीं हुई। बस यही प्रगृह्य संज्ञा का प्रयोजन है। इस प्रकार

अग्नी इति — ही रहा ॥

इसी प्रकार 'वायू इति' में भी इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश प्राप्त था, पर वायू के ऊकारान्त द्विवचनान्त शब्द होने से प्रगृह्य संज्ञा होकर सन्धि पूर्ववत् नहीं हुई ॥

---

(२) माले इति (दो मालायें)

माला — अर्थवदधातु० (१।२।४५) आदि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

माला औ — औङ आपः (७।१।१८) से 'औ' के स्थान में शी आदेश अनेकाल्शित्

सर्वस्य (१।१।५४) से 'श्रो' के स्थान में हुआ।

माला शी ई आद् गुणः (६।१।८४), अदेङ् गुणः (१।१।२) लगकर—

माले+इति अब यहाँ एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अयादेश प्राप्त हुआ। उसका ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् से माले की प्रगृह्य संज्ञा होने से प्लुतप्रगृह्या अचि० (६।१।१२१) से पूर्ववत् प्रकृतिभाव हो गया, अर्थात् सन्धि न हुई। और—

माले इति बना॥

---

(३) पचेते इति (वे दोनों पकाते हैं)

डुपचष् भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), वर्त्तमाने लट् (३।१।१२३) आदि सब सूत्र लगकर, स्वरितञितः० (१।३।७२) से आत्मनेपद का 'आताम्' आया।

पच् शप् आताम् पूर्ववत् 'पच् अ' की अङ्ग संज्ञा, तथा सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से आताम् को ङित्वत् होकर—

पच् अ आताम् आतो ङितः (७।२।८१) से अदन्त अङ्ग 'पच' से उत्तर 'आ' को इय् आदेश हुआ।

पच इय् ताम् लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) से यकार का लोप होकर—

पच् इ ताम् अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३), टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९) से टि भाग 'आम्' को एत्व हुआ।

पच इ त् ए आद् गुणः (६।१।८४) अदेङ् गुणः (१।१।२) स्थानेऽन्त० (१।१।४९) होकर—

पचेते+इति अब यहाँ पूर्ववत् एचोऽयवायावः (६।१।७५) प्राप्त हुआ। सो प्रगृह्य संज्ञा होकर पूर्ववत् प्रकृतिभाव हो गया। और—

पचेते इति रहा॥

इसी प्रकार पचेथे इति में भी समझें॥

—:०:—

परि० अदसो मात् (१।१।१२)

अमी अत्र (वे यहाँ हैं)

अदस् अर्थवदधातुरप्रत्ययः० (१।२।४५) इत्यादि सब सूत्र पूर्ववत् लगकर

जस् आया।

अदस् जस्	त्यदादीनाम: (७।२।१०२), अलोन्त्यस्य (१।१।५१)।
अद अ जस्	अतो गुणे (६।१।९४), अदेङ् गुण: (१।१।२)।
अद जस्	जस: शी (७।१।१७), अनेकाल्शित्० (१।१।५४)।
अद शी=ई	प्रथमयो: पूर्व० (६।१।७८) से प्राप्त दीर्घ एकादेश का नादिचि (६।१।१००) से प्रतिषेध होकर, आद् गुण: (३।१।८४), अदेङ् गुण: (१।१।२) लगकर—
अदे	एत ईद् बहुवचने (८।२।८१) से अदस् के दकार से उत्तर 'ए' को 'ई' तथा 'द' को 'म' हो गया।
अमी+अत्र	अब यहाँ इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश प्राप्त हुआ, तब अदसो मात् से अदस् सम्बन्धी जो अमी का म् उससे उत्तर 'ई' की प्रगृह्य संज्ञा हो गई, तो प्लुतप्रगृह्या० (६।१।१२१) से सन्धि नहीं हुई। और—
अमी अत्र	ही बना॥

इसी प्रकार अमी आसते (वे सब बैठते हैं) में भी समझें॥

——

(२) अमू अत्र (वे दो व्यक्ति यहाँ हैं)

अदस्	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
अद औ	अब प्रथमयो: पूर्वसवर्ण: (६।१।९८) से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त हुआ। पुन: नादिचि (६।१।१००) से निषेध होकर वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि एकादेश हो गया।
अदौ	अदसोऽसेर्दादु दो म: (८।२।८०) से अदस् के 'द' को 'म' तथा दकार से उत्तर 'औ' को उवर्ण आदेश पाया। स्थानेऽन्तरतम:(१।१।४९) से औ के स्थान में दीर्घ ऊकार हो गया।
अमू+अत्र	यहाँ भी पूर्ववत् ही यणादेश प्राप्त हुआ। सो उसका निषेध प्रगृह्य संज्ञा होने से हो गया। और—
अमू अत्र	ही बना॥

इसी प्रकार अमू आसाते (वे दो व्यक्ति बैठते हैं) में समझें॥

—:o:—

परि० शे (१।१।१३)

(१) अस्मे इन्द्राबृहस्पती (हम सब के लिये इन्द्र और बृहस्पति)

अस्मद् अर्थवदधातु० (१।२।४५) आदि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर –

अस्मद् भ्यस् सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजाल: (७।१।३९) से 'शे' आदेश अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४) से सम्पूर्ण भ्यस् के स्थान में हुआ।

अस्मद् शे लशक्वत० (१।३।८), तस्य लोप: (१।३।९), शेषे लोप: (७।२।९०) से अद् भाग का लोप होकर—

अस्मे बना।

अस्मे + इन्द्राबृहस्पती अब यहाँ एचोऽयवायाव: (६।१।७५) से अय् आदेश प्राप्त हुआ। पर 'शे' से 'ए' की प्रगृह्य संज्ञा होकर सन्धि का पूर्ववत् प्लुत प्र० (६।१।१२१) से निषेध हो गया। और –

अस्मे इन्द्राबृहस्पती बना॥

इसी प्रकार युष्मे इति (तुम्हारा), इसमें षष्ठी बहुवचन 'आम्' के स्थान में शे आदेश हुआ। इसी प्रकार अस्मे इति (हमारे लिये) में भी समझें॥

---

(२) त्वे इति (तुझ

युष्मद् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

युष्मद् ङसि त्वमावेकवचने (७।२।९७), मपर्यन्तस्य (७।२।९१)।

त्व अद् ङसि शेषे लोप: (७।२।९०), सुपां सुलुक्० (७।१।३९)।

त्व शे=ए अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप एकादेश हुआ।

त्वे + इति पूर्ववत् अयादेश (६।१।७५ से) पाया तो प्रगृह्य संज्ञा होने से उसका निषेध हो गया। और

त्वे इति ही रहा॥

इसी प्रकार अस्मद् शब्द के मपर्यन्त को त्वमावेकवचने (७।२।९७) से ही 'म' आदेश होकर एवं पूर्ववत् सूत्र लगकर मे इति बना। तब पूर्ववत् ही सन्धि प्राप्ति होने से प्रगृह्य संज्ञा होकर निषेध हो गया। 'मे' में ङसि अथवा 'ङि' के स्थान में 'शे' होता है॥

—:०:—

परि० सम्बुद्धौ शाक० (१।१।१६)

वायो इति (हे वायु)

वायु पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, तथा सम्बोधने च (२।३।४७) से सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति का 'सु' आया।

वायु सु=स् यस्मात् प्रत्यय० (१।४।१३), अङ्गस्य (६।४।१), ह्रस्वस्य गुण: (७।३।१०८) से गुण होकर—

वायो स् अपृक्त एकाल्प्रत्यय: (१।२।४१), एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धे: (६।१।६७) से 'स्' का लोप हुआ। एकवचनं सम्बुद्धि: (२।३।४९) से सम्बोधन के एकवचन की सम्बुद्धि संज्ञा होती है।

वायो+इति अब यहाँ एचोऽयवायाव: (६।१।७५) से अवादेश प्राप्त हुआ। सो सम्बुद्धिनिमित्तक ओकार होने से प्रकृत सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा होकर प्लुतप्रगृ० (६।१।१२१) से सन्धि का निषेध होकर—

वायो इति बना॥

इसी प्रकार भानो इति (हे भानु), अध्वर्यो इति (हे अध्वर्यु) में भी जानें। जब पाणिनि जी के मत में प्रगृह्य संज्ञा नहीं होगी, तो अवादेश होकर वायविति; भानविति; अध्वर्यविति ऐसे प्रयोग बनेंगे॥

—:o:—

परि० ईदूतौ च सप्तम्यर्थे (१।१।१८)

गौरी अधिश्रित: (ऋ० ६।१२।३)

गौरी पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'ङि' विभक्ति आई।

गौरी ङि अब यहाँ सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छे० (७।१।३९) से ङि विभक्ति का लुक् होकर 'गौरी' ऐसा ही रूप रहा।

गौरी+अधिश्रित: अब यहाँ इको यणचि (६।१।७४) से गौरी के 'ई' को यणादेश प्राप्त हुआ। पर सप्तम्यर्थ में वर्तमान 'ई' होने से ईदूतौ च सप्तम्यर्थे से प्रगृह्य संज्ञा होकर सन्धि का निषेध हो गया। और—

गौरी अधिश्रित: रहा॥

इसी प्रकार अध्यस्यां मामकी तनू इति यहाँ भी मामकी ङि, तनू ङि की विभक्ति का पूर्ववत् लुक् होकर 'मामकी' 'तनू' रहा। पदपाठ करते समय जब मामकी इति तनू इति ऐसा रखा, तब इस अवस्था में इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश प्राप्त हुआ। सो प्रकृतसूत्र से प्रगृह्य संज्ञा होकर पूर्ववत् निषेध हो गया॥

—:०:—

परि० दाधाघ्वदाप् (१।१।१९)

सूत्र-प्रयोजन— प्रणिददाति आदि उदाहरणों में 'दा' तथा 'धा' रूपवाले धातुओं की घु संज्ञा का मुख्य फल यही है कि नेर्गदनदपतपदघु० (८।४।१७) से प्र उपसर्ग से उत्तर नि के 'न्' को 'ण' घुसंज्ञक धातु के परे रहते हो जाता है।

(१) प्रणिददाति (अच्छी प्रकार निश्चय से देता है)

डुदाञ्	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर शप् तिप् प्रत्यय आये।
डुदाशप तिप्	जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२।४।७५), प्रत्ययस्य० (१।२।६०)।
डुदा तिप्	श्लौ (६।१।१०), एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१) से श्लु परे रहते द्वित्व हुआ।
दा दा ति	पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), ह्रस्वः (७।४।५९) से अभ्यास को ह्रस्व हुआ।
प्र नि ददाति	प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे (१।४।५८) से प्र नि की उपसर्ग संज्ञा हुई। अब दाधाघ्वदाप् से दारूप वाले ददाति की घु संज्ञा होकर, नेर्गदनदपतपदघुमास्यतिहन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशाम्यतिचिनोतिदेग्धिषु च (८।४।१७) से घुसंज्ञक धातु के परे रहते नि को णि होकर—
प्रणिददाति	बना॥

इसी प्रकार 'डुधाञ्' धातु से प्रणिदधाति (अच्छी प्रकार निश्चय से धारण करता है) की सिद्धि जानें। अभ्यास के ध् को द् अभ्यासे चर्च (८।४।५३) से होगा ऐसा जानें॥

---

(२) प्रणिदीयते (अच्छी प्रकार निश्चय से दिया जाता है)

डुदाञ्	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, लः कर्मणि च भावे चा० (३।४।६९) से कर्म में लकार हुआ।

दा लट्　　भावकर्मणो: (१।३।१३) से आत्मनेपद का 'त' प्रत्यय लकार के स्थान में हुआ।

दा त　　तिङ्शित् सार्वधातुकम् (३।४।११३) से 'त' की सार्वधातुक संज्ञा हुई। तब सार्वधातुके यक् (३।१।६७), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से कर्मवाच्य में 'यक्' प्रत्यय हुआ।

दा य त　　पूर्ववत् 'दा' की अङ्ग संज्ञा, तथा प्रकृत सूत्र से 'घु' संज्ञा हो जाने से घुमास्थागापाजहातिसां हलि (६।४।६६) से घुसंज्ञक अङ्ग 'दा' को ईत्व प्राप्त हुआ। अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल 'आ' को वह 'ई' होकर—

प्र नि दी य त　　अब घु संज्ञा होने से नेर्गदनदपतपदघु० (८।४।१७) सूत्र से णत्व हो गया।

प्रणि दीयत　　टित आत्मनेप० (३।४।७९), अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३) लगकर—

प्रणिदीयते　　बना॥

इसी प्रकार डुधाञ् धातु से प्रणिधीयते (अच्छी प्रकार निश्चय से धारण किया जाता है) की सिद्धि जानें। घु संज्ञा का फल यहाँ भी पूर्ववत् घुमास्था० (६।४।६६) से ईत्व, एवं णत्व करना ही है। श्लु न होने से यहाँ द्वित्वादि कार्य नहीं होते। डुदाञ् से तृच् प्रत्यय में प्रणिदाता (अच्छी प्रकार निश्चय से देनेवाला), तथा डुधाञ् से प्रणिधाता (अच्छी प्रकार निश्चय से धारण करनेवाला) की सिद्धि परि० १।१।२ के चेता के समान जानें। घु संज्ञा का फल यहाँ भी पूर्ववत् णत्व करना ही है॥

---

(३) प्रणियच्छति (अच्छी प्रकार निश्चय से देता है)

दाण्　　पूर्ववत् सब सूत्र लगकर——

प्रनि दा शप् तिप्　　पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्त्तिसर्त्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छधौशीयसीदाः (७।३।७८) से शित् प्रत्यय परे रहते 'दाण्' को 'यच्छ्' आदेश अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४) से सम्पूर्ण के स्थान में हुआ। घु संज्ञा होने से णत्व भी पूर्ववत् होकर—

प्र णि यच्छ् अ ति = प्रणियच्छति बना॥

---

(४) प्रणिद्यति (अच्छी प्रकार निश्चय से काटता है)

दो अवखण्डने पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

दो तिप् दिवादिभ्य: श्यन् (३।१।६६) प्रत्यय; परश्च (३।१।१,२)।

दो श्यन् ति पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर ओत: श्यनि (७।३।७१) से श्यन् परे रहते ओकारान्त अङ्ग का लोप प्राप्त हुआ, अलोन्त्यस्य (१।१।५१)।

प्र नि द् य ति पूर्ववत् घु संज्ञा होकर, णत्व होकर—

प्रणिद्यति बना ।।

---

(५) प्रणिदयते (अच्छी प्रकार निश्चय से रक्षा करता है)

देङ् रक्षणे पूर्ववत् सब सूत्र लगकर अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२) से देङ् के ङित् होने से आत्मनेपद हुआ।

प्र नि दे शप् त एचोयवायाव: (६।१।७५), टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९)।

प्र नि दय् अ ते पूर्ववत् घु संज्ञा होने से णत्व होकर—

प्रणिदयते बन गया ।।

इसी प्रकार 'धेट् पाने' धातु से प्रणिधयति वत्सो मातरम् (बछड़ा माता का दुग्ध पान करता है) की सिद्धि जानें ।।

---

(६) देहि (तू दे)

डुदाञ् भूवादयो० (१।३।१), धातो: (३।१।९१), लोट् च (३।३।१६२)।

दा लोट् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

दा शप् सिप् यहाँ शप् का श्लु, श्लौ (६।१।१०) से द्वित्व, अभ्यासकार्य प्रणिददाति के समान होकर—

द दा सि सेर्ह्यपिच्च (३।४।८७) से लोट्सम्बन्धी 'सि' को 'हि' हो गया।

द दा हि अब दाधाघ्वदाप् से 'दा' की घु संज्ञा होने से घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च (६।४।११९) से घुसंज्ञक अङ्ग को एकारादेश तथा अभ्यास का लोप 'हि' परे रहते प्राप्त हुआ। अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् 'दा' के 'आ' को ए होकर—

देहि बना ।।

इसी प्रकार डुधाञ् धातु से धेहि (तू रख) की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० आद्यन्तवदेकस्मिन् (१।१।२०)

सूत्र-प्रयोजन—औपगवः की सिद्धि परि० १।१।१ में कर आये हैं। यहाँ पर जो विशेष हैं, वह आगे दर्शाते हैं—जिस प्रकार 'कर्त्तव्यम्' में कृ धातु से हुए 'तव्य' प्रत्यय को अनेक अच् होने से आद्युदात्तश्च (३।१।३) से आद्युदात्त हो जाता है, उसी प्रकार औपगवः में अण् के अकेले होने पर भी प्रकृत सूत्र से आदिवत् व्यवहार होकर आद्युदात्तश्च (३।१।३) से प्रत्यय को आद्युदात्त हो जाता है। यही प्रकृत सूत्र का प्रयोजन है ॥

(१) औपगवः

उपगु अण्　　पूर्ववत् परिशिष्ट १।१।१ के समान सब जानें। आद्युदात्तश्च (३।१।३), उच्चैरुदात्तः (१।२।२९), आद्यन्तवदेकस्मिन् (१।१।२०)से एक 'अ' वर्ण में ही आदिवत् व्यवहार होकर उदात्त हो गया। अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (६।१।१५१)से एक को (=उदात्त या स्वरित को) छोड़कर शेष को अनुदात्त हो गया।

औपगव् अ　　शेष पूर्ववत् सब होकर—

औपगवः　　बना ॥

सूत्र-प्रयोजन—आभ्याम्, इस उदाहरण में अ+भ्याम् इस अवस्था में सुपि च (७।३।१०२) से 'अ' के अकेले होने पर भी प्रकृत सूत्र से 'अ' को अन्तवद्भाव होकर अदन्त अङ्ग मानकर दीर्घ होगया। जिस प्रकार पुरुषाभ्याम् आदि में होता है ॥

(२) आभ्याम् (इन दोनों के द्वारा)

इदम्　　पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

इदम् भ्याम्　　त्यदादीनामः (७।२।१०२), अलोन्त्यस्य (१।१।५१)।

इद अ भ्याम्　　अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप होकर—

इद भ्याम्　　हलि लोपः (७।२।११३) से इद् भाग का लोप हो गया।

अ भ्याम् अब 'अ' की अङ्ग संज्ञा होकर सुपि च (७।३।१०२) से अदन्त अङ्ग 'अ' को दीर्घ प्राप्त हुआ। पर 'अ' तो अकेला ही है, तब आद्यन्तवदे० से अन्तवद्भाव होकर –

आभ्याम् बन गया ॥

—:o:—

(१) परि० तरप्तमपौ घः (१।१।२१)

कुमारितरा (दो कुमारियों में से जो अधिक कुमारी)

कुमारी द्विवचनविभज्योपपदे तरबी० (५।३।५७), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

कुमारी तरप् तद्धिताः (४।१।७६), कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६), अजाद्यतष्टाप् (४।१।४), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

कुमारीतर टाप् अब तरप्तमपौ घः से तरप् की घ संज्ञा होने से घरूपकल्पचेलड् ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः (६।३।४१) से ह्रस्व हो गया।

कुमारितर आ अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से दीर्घ होकर—

कुमारितरा ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१) आदि सब सूत्र लगकर पूर्ववत् सु आकर उसका हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६) से लोप होकर—

कुमारितरा बना ॥

इसी प्रकार ब्राह्मणितरा (दो ब्राह्मणियों में में जो आचार-विचार आदि में अधिक श्रेष्ठ) में भी पूर्ववत् ह्रस्वत्वादि कार्य समझें ॥

———

(२) कुमारितमा (सब से बड़ी कुमारी)

कुमारी पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, अतिशायने तमबिष्ठनौ (५।३।५५) से तमप् प्रत्यय हुआ।

कुमारी तमप् कृत्तद्धित० (१।२।४६), तथा पूर्ववत् टाप् प्रत्यय, एवं घ संज्ञा होकर घरूपकल्प० (६।३।४१) से ह्रस्व हो गया।

कुमारि तम टाप् शेष सब पूर्ववत् ही होकर—

कुमारितमा बना ॥

इसी प्रकार ब्राह्मणितमा (जो सब से अधिक ब्राह्मणी) में भी जानें ॥

—:o:—

परि० बहुगणवतु० (१।१।२२)

(१) बहुकृत्वः (बहुत बार)

बहु — अर्थवदधातु० (१।२।४५), बहुगणवतुडति सङ्ख्या से 'बहु' की सङ्ख्या संज्ञा होने से सङ्ख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् (५।४।१७) से कृत्वसुच् प्रत्यय हुआ।

बहु कृत्वसुच् — तद्धिताः (४।१।७६), कृत्तद्धितस० (१।२।४६) आदि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'सु' आया।

बहु कृत्वस् सु — अत्र तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (१।१।३७) से 'बहु कृत्वस्' की अव्यय संज्ञा होकर, अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से 'सु' का लुक् हो गया।

बहुकृत्वस — सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४), पदस्य (८।१।१६), ससजुषो रुः (८।२।६६)।

बहुकृत्व रु=र् — विरामोऽव० (१।४।१०९), खरवसानयोर्विस० (८।३।१५) लगकर—

बहुकृत्वः — बना॥

इसी प्रकार गण शब्द से पूर्ववत् गणकृत्वः (समूहवार) बनेगा॥

तावत्कृत्वः में जो विशेष है, वह दर्शाते हैं—

(२) तावत्कृत्वः (उतनी बार)

तद — अर्थवदधातु० (१।२।४५), यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् (५।२।३९), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

तद सु वतुप्=वत — पूर्ववत् सुलुक् होकर, सर्वादीनि सर्वनामानि (१।१।२६) से तद् की सर्वनाम संज्ञा होने से आ सर्वनाम्नः (६।३।८९) से आकारादेश। अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्तिम अल् 'द्' को 'आ' हुआ।

त आ वत — अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७), तुल्यास्यप्र० (१।१।९)

तावत् — कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), पुनः पूर्ववत् प्रकृत सूत्र से 'तावत्' की सङ्ख्या संज्ञा होने से संख्यायाः०(५।४।१७)से कृत्वसुच् प्रत्यय हुआ।

तावत् कृत्वसुच् — सुपो धातु० (२।४।७१), शेष पूर्ववत् होकर—

तावत्कृत्वः — बना॥

कतिकृत्वः में भी जो विशेष है, सो दर्शाते हैं—

(३) कतिकृत्वः (कितनी बार)

किम् — अर्थवदधातुर० (१।२।४५), किमः सङ्ख्यापरिमाणे डति च (५।२।४१), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

किम् अति = अति यचि भम् (१।४।१८), भस्य (६।४।१२९), टेः (६।४।१४३) से 'किम्'के टि भाग = इम् का लोप हुआ। अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३)।

क् अति = कति पूर्ववत् सब सूत्र लगकर कति की सङ्ख्या संज्ञा होने से संख्यायाः० (५।४।१७) से कृत्वसुच् प्रत्यय आया।

कति कृत्वसुच् शेष सब पूर्ववत् होकर —

कतिकृत्वः ॥

---

(४) बहुधा (बहुत प्रकार से)

बहु अर्थवदधातुर० (१।२।४५), बहुगणवतुडति सङ्ख्या से सङ्ख्या संज्ञा होने से, सङ्ख्याया विधार्थे धा (५।३।४२), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से धा प्रत्यय हुआ।

बहु धा पूर्ववत् 'सु' आकर—

बहुधा सु तद्धितश्चासर्व० (१।१।३७) से अव्ययसंज्ञा, अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से सु का लुक् होकर—

बहुधा बना ॥

इसी प्रकार गण शब्द से गणधा (समुदाय से), तावत् शब्द से तावद्धा (उतनी प्रकार), कति शब्द से कतिधा (कितनी प्रकार) की सिद्धि जानें। तावत् एवं कति की सिद्धि पूर्ववत् ही समझ लें। तावद्धा में 'त' को 'द्' 'झलां जश् झशि (८।४।५२) से होगा ॥

---

(५) बहुकः (बहुतों से क्रीत = खरीदा हुआ)

बहु पूर्ववत् बहु की सङ्ख्या संज्ञा होने से सङ्ख्याया अतिशदन्तायाः कन् (५।१।२२) से प्रत्ययः, परश्च (१।१।१,२) लगकर कन् प्रत्यय हुआ।

बहु भिस् कन् = क तद्धिताः (४।१।७६), कृत्तद्धित० (१।२।४६) आदि सब सूत्र लगकर—

बहुकः बना ॥

इसी प्रकार गणकः (समुदाय से क्रीत), तावत्कः (उतने से क्रीत), कतिक (कितनों से क्रीत) की सिद्धि पूर्ववत् ही जानें। तावत् एवं कति की सिद्धि पूर्ववत् ही जानें ॥

---

(६) बहुशः (बहुत बार)

बहु　　अर्थवदधा० (१।२।४५), पूर्ववत् सङ्ख्या संज्ञा होकर सङ्ख्यैक-वचनाच्च वीप्सायाम् (५।४।४३) से शस् प्रत्यय हुआ। शस् के स् की इत् संज्ञा प्रयोजनाभाव के कारण नहीं होती।

बहु शस्　　पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'सु' आया।

बहु शस् सु　　उसकी पूर्ववत् अव्यय संज्ञा होकर अव्यया० (२।४।८२) से लुक् हो गया।

बहु शस्　　पुनः शस् के स् को पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

बहुशः　　बन गया ॥

इसी प्रकार गणशः (समुदाय बार), तावच्छः (उतनी-उतनी बार) बनेगा। तावच्छः में शश्छोऽटि (८।४।६२) से 'श' को 'छ', तथा स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) से 'त्' को 'च्' हुआ है। कतिशः (कितनी-कितनी बार) की सिद्धि भी पूर्ववत् ही जानें ॥

—:o:—

परि० ष्णान्ता षट् (१।१।२३)

षट् तिष्ठन्ति (छः व्यक्ति बैठते हैं)

षष्　　पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

षष् जस्　　ष्णान्ता षट् से षकारान्त जो सङ्ख्यावाची षष् शब्द उसकी षट् संज्ञा होने से षड्भ्यो लुक् (७।१।२२) से जस् का लुक् हुआ। प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१।१।६०)।

षष्　　सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४), प्रत्ययलोपे प्रत्यय० (१।१।६१), पदस्य (८।१।१६), झलां जशोऽन्ते(८।२।३९)से पदान्त में झल् को जश् अर्थात् 'ष्' को 'ड्' हो गया। विरामोऽवसानम् (१।४।१०९)।

षड् तिष्ठन्ति　　वावसाने (८।४।५५) से पक्ष में चर् अर्थात् 'ड्' को 'ट्' होकर—

षट् तिष्ठन्ति　　बन गया ॥

इसी प्रकार षट् पश्य (छः व्यक्तियों को देखो) में समझें। यहाँ शस् विभक्ति का पूर्ववत् लुक् हुआ है। पञ्चन्, सप्तन्, नवन्, दशन् प्रातिपदिकों की भी नका

रान्त सङ्ख्यावाची शब्द होने से षट् संज्ञा होकर, इन प्रातिपदिकों से जो जस्, तथा शस् विभक्ति आई, उसका पूर्ववत् लुक् हो गया। पीछे न लोपः प्रातिपदि० (८।२।७) से नकार का लोप भी होकर पञ्च (पांच), सप्त (सात), नव (नौ), दश (दस) रूप बनेंगे ॥

—:०:—

परि० क्तक्तवतू निष्ठा (१।१।२५)

चितः चितवान्, स्तुतः स्तुतवान्, भिन्नः भिन्नवान् की सिद्धि परि० १।१।५ में कर आये हैं, वहीं देखें। पठितः पठितवान् में पठ् धातु के सेट् होने से आर्द्धधातुकस्येड० (७।२।३५) से इट् आगम होकर–पठ् इट् त=पठितः, पठ् इट् तवान्=पठितवान् बनेगा, यही विशेष है। डुपचष् धातु से पक्वः (पकाया हुआ), पक्ववान् (उसने पकाया) में चोः कुः (८।२।३०) से 'च्' को 'क्', तथा पचो वः (८।२।५२)से निष्ठा के 'त' को 'व्' होता है। शेष सब पूर्ववत् ही जानें ॥

क्त क्तवतु की निष्ठा संज्ञा का यही फल है कि निष्ठा (३।२।१०२) कहने से क्त क्तवतु प्रत्यय हो जावें ॥

—:०:—

परि० सर्वादीनि सर्व० (१।१।२६)

(१) सर्वे (सब)

सर्व पूर्ववत् सब सूत्र लगकर जस् आया।

सर्व जस् सर्वादीनि सर्वनामानि से 'सर्व' की सर्वनाम संज्ञा होने से जशः शी (७।१।१७) से जस् को शी आदेश हुआ। अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४) लगकर—

सर्व शी=ई आद् गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर—

सर्वे बन गया ॥

इसी प्रकार 'विश्व' शब्द से विश्वे (सारे) बनेगा ॥

(२) सर्वस्मै (सब के लिये)

सर्व पूर्ववत सब सूत्र लगकर—

सर्व ङे सर्वादीनि सर्वनामानि से सर्वनाम संज्ञा होने से सर्वनाम्नः स्मै (७।१।१४)से ङे को स्मै आदेश हुआ। अनेकाल्शित्० (१।१।५४)लगकर–

सर्वस्मै बन गया ॥

इसी प्रकार 'विश्व' शब्द से विश्वस्मै (सब के लिये) भी समझें । सर्वस्मात् (सब से), विश्वस्मात् (सब से), सर्वस्मिन् (सब में), विश्वस्मिन् (सब में) यहाँ भी सर्व तथा विश्व शब्दों से सर्वनाम संज्ञा होने के कारण पञ्चमी विभक्ति ङसि, तथा सप्तमी विभक्ति ङि को ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (७।१।१५) से क्रमशः स्मात् एवं स्मिन् आदेश हो जाता है । यही सर्वनाम संज्ञा का प्रयोजन है ॥

(३) सर्वेषाम् (सब का)

सर्व पूर्ववत् सब सूत्र लगकर षष्ठी का बहुवचन 'आम्' आया ।

सर्व आम् सर्वादीनि सर्वनामानि से सर्वनाम संज्ञा होने से आमि सर्वनाम्नः सुट् (७।१।५२), आद्यन्तौ० (१।१।४५) लगकर—

सर्व सुट् आम् पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा, वा अनुबन्ध लोप होकर—

सर्व स् आम् बहुवचने झल्येत् (७।३।१०३), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) ।

सर्वे साम् आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से मूर्धन्य ष् होकर—

सर्वेषाम् बन गया ॥

इसी प्रकार विश्वेषाम् (सब का) की सिद्धि जानें ॥

(४) सर्वकः (सब बेचारे)

सर्व अर्थवद० (१।२।४५), ङ्याप्प्रातिप० (४।१।१) पूर्ववत् सब सूत्र लगकर सर्वादीनि सर्वनामानि से सर्वनाम संज्ञा होने के कारण अव्यय-सर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः (५।३।७१) से सर्व के टि भाग 'अ' से पूर्व अकच् प्रत्यय हुआ ।

सर्व अकच् अ 'क' के 'अ' तथा च् की इत् संज्ञा और लोप होकर—

सर्वक् अ पूर्ववत् सूत्र लगकर 'सु' आया ।

सर्वक सु स् को विसर्जनीय होकर—

सर्वकः बना ॥

इसी प्रकार विश्वकः (सब बेचारे) में भी समझें ॥

—:०:—

परि० विभाषा दिक्समासे० (१।१।२७)

(१) उत्तरपूर्वस्यै (उत्तर और पूर्व दिशा के बीच की दिशा के लिये)

उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालम्—

उत्तरा ङस् पूर्वा ङस् दिङ्नामान्यन्तराले (२।२।२६) से बहुव्रीहि समास होकर—

उत्तरापूर्वा कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१)।

उत्तरापूर्वा ङे सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावो वक्तव्यः (वा० २।२।२६) इस वार्त्तिक से पूर्वपद को पुंवद्भाव अर्थात् ह्रस्व हुआ।

उत्तरपूर्वा ङे ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१) आदि सब सूत्र लगकर, विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ से उत्तरपूर्वा को पक्ष में सर्वनाम संज्ञा होने के कारण सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च (७।३।११४) से सर्वनाम को ह्रस्व, तथा ङे को स्याट् का आगम हुआ। आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) लगकर—

उत्तरपूर्व स्याट् ङे = उत्तरपूर्व स्या ए। वृद्धिरेचि (६।१।८५), वृद्धिरादैच् लगकर—

उत्तरपूर्वस्यै बना॥

इसी प्रकार दक्षिणपूर्वस्यै (दक्षिण तथा पूर्व दिशा के बीचवाली दिशा के लिये) में जानें॥ जिस पक्ष में प्रकृत सूत्र से सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई, उस पक्ष में स्याट् आगम एवं सर्वनाम को ह्रस्व न होकर याडापः (७।३।११३) से याट् का आगम होकर—उत्तरपूर्वा याट् ङे = उत्तरपूर्वा या ए। पूर्ववत् वृद्धिरेचि (६।१।८५) लगकर उत्तरपूर्वायै बन गया। इसी प्रकार दक्षिणपूर्वायै में जानें॥

(२) उत्तरपूर्वस्याः (उत्तर और पूर्व की दिशा के कोनेवाली दिशा का)

पूर्ववत् ही सब होकर उत्तरपूर्वा ङस् रहा। पूर्ववत् सर्वनाम संज्ञा होने से स्याट् आगम एवं ह्रस्व होकर 'उत्तरपूर्व स्या अस्' रहा। अकः सवर्णे० (६।१।९७) से सवर्ण दीर्घ, एवं स् को पूर्ववत् विसर्जनीय होकर उत्तरपूर्वस्याः बन गया। इसी प्रकार दक्षिणपूर्वस्याः में भी जानें। जिस पक्ष में सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई। तो पूर्ववत् याट् आगम होकर – उत्तरपूर्वा याट् ङस् = उत्तरपूर्वायाः, दक्षिणपूर्वायाः बना॥

—:०:—

परि० न बहुव्रीहौ (१।१।२८)

प्रियविश्वाय (सब प्रिय हैं जिसके, उसके लिये)

प्रियाः विश्वे यस्य—

प्रिय जस् विश्व जस् शेषो बहुव्रीहि: (२।२।२३), अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४), कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), सुपो धातुप्रातिपदिकयो: (२।४।७१)।

प्रियविश्व पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

प्रियविश्व ङे अब सर्वादीनि सर्वनामानि (१।१।२६) से विश्व की सर्वनाम संज्ञा होने के कारण सर्वनाम्न: स्मै (७।१।१४) से 'ङे' को 'स्मै' आदेश पाया। पर न बहुव्रीहौ से सर्वनाम संज्ञा का ही प्रतिषेध हो जाने से स्मै आदेश नहीं हुआ। तब ङेर्य: (७।१।१३) से ङे को 'य' आदेश हो गया।

प्रियविश्व य सुपि च (७।३।१०२) से दीर्घ होकर—

प्रियविश्वाय बन गया ॥

इसी प्रकार प्रिया उभये यस्य=प्रियोभयाय (प्रिय हैं दोनों जिसके, उसके लिये) की सिद्धि जानें। आद् गुण:(६।१।८४)से प्रिय के 'अ' और उभय के 'उ' को गुण एकादेश हो ही जायगा ॥

द्वौ अन्यौ यस्य स द्व्यन्य:, तस्मै द्व्यन्याय (दो हैं अन्य जिसके, उसके लिये), त्रय: अन्ये यस्य स त्र्यन्य:, तस्मै त्र्यन्याय (तीन हैं अन्य जिसके, उसके लिये) यहाँ भी पूर्ववत ही सिद्धि जानें। सर्वनाम संज्ञा का निषेध ङे को स्मै आदेश न हो इसलिये किया है। इको यणचि (६।१।७४) से यहाँ यणादेश होता है, यही विशेष है ॥

—:०:—

परि० तृतीयासमासे (१।१।२६)

(१) मासपूर्वाय (मास भर पहले उत्पन्न हुये के लिये)

मासेन पूर्व: मासपूर्व:, तस्मै—

मास टा पूर्व सु पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णै: (२।१।३०) से तृतीया तत्पुरुष समास हुआ। कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६), सुपो धातु-प्रातिपदिकयो: (२।४।७१) लगकर—

मासपूर्व पुन: पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

मासपूर्व ङे सर्वादीनि सर्वनामानि (१।१।२६)से 'पूर्व' की सर्वनाम संज्ञा होने से पूर्ववत् 'ङे' को 'स्मै' आदेश प्राप्त हुआ। पर तृतीयासमासे से

सर्वनाम संज्ञा का ही निषेध हो जाने से 'स्मै' आदेश न होकर, ङेर्यः (७।१।१३) से ङे को 'य' हो गया ।

मासपूर्व य सुपि च (७।३।१०२) से दीर्घ होकर—

मासपूर्वाय बना ॥

ईसी प्रकार संवत्सरपूर्वाय (वर्षभर पूर्व उत्पन्न हुये के लिये) में भी समझें ॥

(२) द्वयहपूर्वाय (दो दिन पूर्ववाले के लिये)

द्वयहेन पूर्वः द्वयहपूर्वः, तस्मै—

द्वयह टा पूर्व सु पूर्वसदृश० (२।१।३० से समास हुआ । सुपो धातुप्रा० (२।४।७१) लगकर—

द्वयहपूर्व ङे पूर्ववत् ही सब होकर —

द्वयहपूर्वाय बना ॥

इसी प्रकार त्र्यहपूर्वाय (तीन दिन पूर्ववाले के लिये) की सिद्धि जानें ॥

द्वयह की सिद्धि द्विगुश्च (२।१।२२) सूत्र पर की जायेगी ॥

—:०:—

परि० द्वन्द्वे च (१।१।३०)

पूर्वपराणाम् (पूर्व और परवालों का)

पूर्वाश्च पराश्च पूर्वपराः, तेषाम्—

पूर्व जस् पर जस् चार्थे द्वन्द्वः (२।२।२६), सुपो धातु० (२।४।७१) ।

पूर्वपर पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

पूर्वपर आम् अब यहाँ सर्वादीनि सर्व० (१।१।२६) से सर्वनाम संज्ञा होने से आमि सर्वनाम्नः सुट् (७।१।५२) से सुट् आगम प्राप्त होता है । पर द्वन्द्वे च से सर्वनाम संज्ञा का ही निषेध हो जाने से सुट् आगम नहीं हुआ । तब ह्रस्वनद्यापो नुट् (७।१।५४) से नुट् आगम हुआ । आद्यन्तौ० (१।१।४५) लगकर—

पूर्वपर नुट् आम् नामि (६।४।३) से अङ्ग को दीर्घ होकर—

पूर्वपरा न् आम् अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८।४।२) से णत्व होकर—

पूर्वपराणाम् बना ॥

इसी प्रकार दक्षिणश्च उत्तरश्च पूर्वश्च दक्षिणोत्तरपूर्वाः, तेषां दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् (दक्षिण उत्तर और पूर्व दिशाओं में रहनेवालों का), तथा कतरकतमानाम् (दो में से तथा बहुतों में से किन सबों का) की सिद्धि जानें ।।

—:०:—

परि० विभाषा जसि (१।१।३१)

(१) कतरकतमे (दो में से कौनसे, तथा बहुतों में से कौनसे)

सर्वनाम संज्ञा पक्ष में कतरकतमे की सिद्धि परि० १।१।२६ के सर्वे के समान जानें। जब पक्ष में सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई, तो करतकतमाः बना। उसकी सिद्धि निम्न प्रकार है—

(२) कतरकतमाः

कतर जस् कतम जस् पूर्ववत् समास आदि सब होकर—

कतरकतम जस् चुटू (१।३।७), तस्य लोपः (१।३।९)। हलन्त्यम् (१।३।३) से अन्तिम स् की भी इत् संज्ञा प्राप्त हुई। पर न विभक्तौ तुस्माः (१।३।४) से विभक्ति का सकार होने से निषेध हो गया।

कतरकतम अस् प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) से पूर्वसवर्ण दीर्घ हुआ।

कतरकतमास् यहाँ विभाषा जसि से पक्ष में सर्वनामसंज्ञा न होने से जसः शी (७।१।१७) से शी आदेश नहीं होता। यही सर्वनामसंज्ञा के विकल्प का फल है। अब पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

कतरकतमाः बना ।।

इसी प्रकार दक्षिणपूर्वे (दक्षिण और पूर्ववाले), और दक्षिणपूर्वाः की सिद्धि भी समझें ।।

—:०:—

परि० तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (१।१।३७)

(१) ततः (उससे)

तद् अर्थवदधा० (१।२।४५) आदि सब सूत्र पूर्ववत् लगकर—

तद् ङसि पञ्चम्यास्तसिल् (५।३।७), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

तद् ङसि तसिल् तद्धिताः (४।१।७६), कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१) लगकर—

तद् तस् अब प्राग्दिशो विभक्तिः (५।३।१) से तसिल् की विभक्ति संज्ञा होने से त्यदादीनामः (७।२।१०२) से विभक्ति परे मानकर अकारादेश अलोन्त्यस्य (१।१।५१) से 'द्' के स्थान में हो गया।

त अ तस् अतो गुणे (६।१।९४), अदेङ् गुणः (१।१।२) लगकर--

ततस् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'सु' आया।

ततस् सु अब तद्धितश्चासर्वविभक्तिः से ततस् की अव्यय संज्ञा होने से अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से सु का लुक् हो गया।

ततस् पूर्ववत् स् को रुत्व विसर्जनीय होकर—

ततः बन गया॥

इसी प्रकार यद् शब्द से यतः (जिस से) भी समझें॥

(२) तत्र (वहाँ)

तद् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर--

तद् ङि सप्तम्यास्त्रल् (५।३।१०), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

तद् ङि त्रल् शेष सब सूत्र पूर्ववत् ही लगकर—

त अ त्र =तत्र सु, पूर्ववत् ही अव्यय संज्ञा होने से सु का लुक् होकर—

तत्र बना॥

इसी प्रकार यद् शब्द से यत्र (जहाँ) भी समझें॥

(३) तदा (तस्मिन् काले=तब)

तद् ङि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा (५।३।१५), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से दा प्रत्यय आया।

तद् ङि दा शेष सब सूत्र पूर्ववत् लगकर—

त अ दा =तदा सु, तद्धितश्चा०, अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) लगकर—

तदा बना॥

इसी प्रकार 'यद्' शब्द से यस्मिन् काले=यदा (जब) की सिद्धि जानें। सर्व शब्द को 'दा' प्रत्यय से परे रहते सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि (५।३।६) से 'स' आदेश पक्ष में होकर पूर्ववत् 'सदा' भी बनेगा॥

(४) विना (छोड़कर)

वि अर्थवदधातु० (१।२।४५), ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१), विनञ्-

भ्यां नानाञौ न सह (५।२।२७), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

वि ना　　पूर्ववत् सु विभक्ति आकर—

विना सु　　तद्धितश्चासर्व०, अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से लुक् होकर—

विना　　बना ॥

इस प्रकार नञ् निपात से विनञ्भ्यां नानाञौ०(५।२।२७) से नाञ् प्रत्यय होकर तथा तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७) से वृद्धि होकर—'ना नाञ्=नाना सु रहा। सो पूर्ववत् ही अव्यय संज्ञा होने से लुक् होकर—'नाना' (भिन्न-भिन्न प्रकार के) बन गया ॥

—:०:—

परि० कृन्मेजन्तः (१।१।३८)

(१) स्वादुंकारं भुङ्क्ते (स्वादुयुक्त बनाकर खाता है)

अस्वाद्वीम् (यवागूम्) स्वाद्वीम् कृत्वा भुङ्क्ते—

डुकृञ्　　भूवादयो० (१।३।१), आदिर्ञिटु० (१।३।५), हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।६), अदर्शनं लोपः (१।१।५६)।

स्वाद्वी अम् कृ　　तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (३।१।९२)से स्वादु की उपपद संज्ञा हुई। तो धातोः (३।१।९१), स्वादुमि णमुल् (३।४।२६) से कृ धातु से स्वाद्वी उपपद रहते णमुल् प्रत्यय हुआ। और स्वाद्वी को स्वादुम् निपातन से हो गया।

स्वादुम् अम् कृ णमुल् पूर्ववत् लोपादि होकर—

स्वादुम् अम् कृ अम् कृदतिङ् (३।१।९३), कृन्मेजन्तः से अव्यय संज्ञा होने से अमैवाव्ययेन (२।२।२०)से अमन्त अव्यय के साथ स्वादुम् उपपद का समास हो गया।

स्वादुम् कार अम् कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१), यस्मात्० (१।४।१३), अचो ञ्णिति (७।२।११५), उरण्रपरः (१।१।५०)।

स्वादुम्कारम्　　मोऽनुस्वारः (८।३।२३),शेष सब पूर्ववत् होकर—

स्वादुंकारम् सु　　'स्वादुंकारम्' की अव्यय संज्ञा होने से अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से 'सु' का लुक् होकर—

स्वादुंकारम् भुङ्क्ते बना ॥

इसी प्रकार सम्पन्नंकारं भुङ्क्ते (सम्पन्न करके खाता है); लवणङ्कारं भुङ्क्ते (लवणयुक्त करके खाता है) की सिद्धि भी जानें। यहां सभी उदाहरणों में वा पदान्तस्य (८।४।५१) से अनुस्वार को विकल्प से परसवर्ण ङकार होकर स्वादुङ्कारम् आदि रूप भी बनते हैं। स्वादुमि णमुल् (३।४।२६) में स्वादुम् के अर्थवाची शब्दों का भी ग्रहण है। अतः सम्पन्नम् लवणम् उपपद रहते भी णमुल् प्रत्यय हो जाता है॥ उदरपूरं भुङ्क्ते की सिद्धि भी इसी प्रकार होगी। केवल यहां 'उदर' उपपद रहते पूरि धातु से चर्मोदरयोः पूरेः (३।४।३१) सूत्र से णमुल् होगा, यही विशेष है॥

(२) वक्षे रायः (धनों को कहने के लिये)

वच परिभाषणे भूवादयो धातवः (१।३।१), धातोः (३।१।९१), तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्क्से० (३।४।९) से छन्दविषय में तुमुन् के अर्थ में 'से' प्रत्यय आया।

वच् से चोः कुः (८।२।३०) से झल् परे रहते वच् के 'च्' को कुत्व प्राप्त हुआ। स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) लगकर—

वक् से आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से षत्व, तथा पूर्ववत् 'सु' विभक्ति आकर—

वक् षे = वक्षे सु, कृन्मेजन्तः, अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) लगाकर—

वक्षे रायः बना। रै + शस् = रायः बनता है॥

'से' तथा 'सेन्' दोनों प्रत्ययों में वक्षे यही रूप बनेगा। केवल इनमें स्वर का ही भेद है॥

इसी प्रकार ता वाम् एषे रथानाम् (रथों को प्राप्त करने के लिए) में 'इण्' धातु से सेन प्रत्यय, तथा धातु को सार्वधातुका० (७।३।८४) से गुण होकर 'एषे' बन गया है। 'जीव' धातु से 'असे' प्रत्यय होकर जीव् असे = जीवसे बनेगा। 'दृशिर्' धातु से दृशे विख्ये च (३।४।११) सूत्र के निपातन से 'के' प्रत्यय होकर दृश् के = दृश् ए = दृशे बन गया है। म्लेच्छितवै में म्लेच्छ धातु से तुमर्थे सेसेन० (३।४।९) सूत्र से तवै प्रत्यय, तथा आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५) से इट् आगम होकर—म्लेच्छ् इट् तवै = म्लेच्छितवै बनेगा। सर्वत्र कृन्मेजन्तः से एजन्त कृत् मानकर अव्यय संज्ञा, तथा अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से सु का लुक् हो जायेगा॥

—:०:—

परि० क्त्वातोसुन्कसुनः (१।१।३६)

(१) पठित्वा (पढ़ करके)

पठ	भूवादयो० (१।३।१) आदि सब सूत्र लगकर—
पठ्	समानकर्तृकयोः पूर्वकाले (३।४।२१) से क्त्वा प्रत्यय हुआ।
पठ् क्त्वा	=त्वा, आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४), आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५), आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) लगकर—
पठ् इट् त्वा	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'सु' आया।
पठित्वा सु	क्त्वातोसुन्कसुनः, अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) लगकर—
पठित्वा	बना ॥

इसी प्रकार अनिट् चिञ् धातु से चित्वा (चुनकर), जित्वा (जीतकर), कृत्वा (करके), हृत्वा (हरण करके) की सिद्धि जानें। सर्वत्र अव्यय संज्ञा का प्रयोजन 'सु' का लुक् करना है। चित्वा जित्वा आदि में सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से गुण की भी प्राप्ति है। सो उसका क्क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो जाता है। तथा आर्धधातु० (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त था। उसका एकाच उपदेशे (७।२।१०) से निषेध हो गया है ॥

(२) सूर्यस्योदेतोः

उद् इण्	भूवादयो० (१।३।१), प्रादय उपसर्गाः० (१।४।५८), धातोः (३।१।९१)।
उद् इ	भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदिचरिहुतमिजनिभ्यस्तोसुन् (३।४।१६)।
उद् इ तोसुन्	=तोस्, आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४), सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से गुण।
उद् ए तोस्	पूर्ववत् सु आकर—
उदेतोस् सु	क्त्वातोसुन्कसुनः से तोसुन् अन्तवाले 'उदेतोस' की अव्यय संज्ञा हुई। अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से सु का लुक् हो गया।
उदेतोस्	सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४) से पद संज्ञा होकर पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय हो गया।
सूर्यस्य उदेतोः	यहाँ आद् गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर—
सूर्यस्योदेतोः	बना ॥

(३) विसृपो विरप्शिन्

सृप्लृ	भूवादयो० (१।३।१) पूर्ववत् सब होकर सृपितृदोः कसुन् (३।४।१७)।

विसृप् कसुन् पुगन्तलघूप० (७।३।८६), क्ङिति च (१।१।५)।

वि सृप् अस् पूर्ववत् सु आकर—

विसृपस् स् क्त्वातोसुन्कसुनः से कसुन्प्रत्ययान्त की अव्यय संज्ञा होकर अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से सु का लुक् हो गया।

विसृपस् पूर्ववत् 'स्' को 'रु' होकर—

विसृपरुँ+विरप्शिन् हशि च (६।१।११०) से रु को 'उ'।

विसृप उ विरप्शिन् आद्गुणः (६।१।८४) लगकर—

विसृप विरप्शिन् बना॥

—:०:—

परि० अव्ययीभावश्च (१।१।४०)

(१) प्रत्यग्नि (अग्नि के सामने)

अग्नि अम् प्रति सु लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये (२।१।१३) से अव्ययीभाव समास होकर, कृत्तद्धितसमा०(१।२।४६), सुपो धातुप्राति० (२।४।७१)।

अग्निप्रति प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् (१।२।४३) से समासविधायक शास्त्र में जो प्रथमानिर्दिष्ट उसकी उपसर्जन संज्ञा होती है। सो 'प्रति' की उपसर्जन संज्ञा होने से उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०) से 'प्रति' शब्द 'अग्नि' के पूर्व में आया।

प्रतिअग्नि इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश होकर—

प्रत्यग्नि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'सु' आया।

प्रत्यग्नि सु अव्ययीभावश्च तथा अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) लगकर—

प्रत्यग्नि बना॥

इसी प्रकार अग्नेः समीपम्=उपअग्नि अकः स्वर्णे० (६।१।९७) से दीर्घ होकर उपाग्नि बना है। यहां अव्ययं विभक्तिसमीप० (२।१।६) से समीप अर्थ में समास होगा। शेष सब पूर्ववत् है॥

(२) अधिस्त्रि (स्त्रियों के विषय में)

स्त्रीषु अधिकृत्य कथा प्रवर्त्तते—

स्त्रीषु सुप् अधि सु अव्ययं विभक्तिसमीप० (२।१।६)से विभक्ति अर्थ में 'अधि' अव्यय के साथ समास हुआ। पूर्ववत् सब होकर—

स्त्रीअधि प्रथमानिर्दिष्टं० (१।२४३), उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०)।

अधिस्त्री　　पूर्ववत् सु आकर—

अधिस्त्री सु　　अव्ययीभावश्च, अव्ययादाप्सुप: (२।४।८२) लगकर—

अधिस्त्री　　अव्ययीभावश्च (२।४।१८) से नपुंसकलिङ्ग होकर ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य (१।२।४७) से ह्रस्व हुआ। ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः (१।२।२७), अचश्च (१।२।२८) लगकर—

अधिस्त्रि　　बना ॥

—:०:—

परि० शि सर्वनामस्थानम् (१।१।४१)

कुण्डानि (बहुत से कुण्ड)

कुण्ड　　पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

कुण्ड जस्　　जश्शसोः शिः (७।१।२०), अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४)।

कुण्ड शि　　=इ, शि सर्वनामस्थानम्, नपुंसकस्य झलचः (७।१।७२), मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६) से अन्त्य अच् से परे नुम का आगम हुआ।

कुण्ड नुम् इ　　=कुण्ड न् इ, लोपादि सब कार्य होकर—

कुण्ड न् इ　　'शि' की सर्वनाम-स्थान संज्ञा होने से, सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (६।४।८) से दीर्घ होकर—

कुण्डा न् इ　　=कुण्डानि बन गया ॥

इसी प्रकार वन शब्द से 'वनानि' (बहुतसे वन), दधि शब्द से दधीनि (बहुत प्रकार के दही), त्रपु शब्द से त्रपूणि (बहुतसे रांगा), जतु शब्द से जतूनि (बहुतसी लाखें) की सिद्धि भी जानें। त्रपूणि में 'न्' को 'ण्' अट्कुप्वाङ्नुम्० (८।४।२) से होगा। इन सब शब्दों के रूप 'शस्' विभक्ति में भी यही होंगे। तथा सिद्धि भी पूर्ववत् ही 'शस्' को 'शि' आदेश होकर इसी प्रकार होगी ॥

—:०:—

परि० सुडनपुंसकस्य (१।१।४२)

राजा (एक राजा)

राजन्　　पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

राजन् सु　　सुडनपुंसकस्य, सर्वनामस्थाने चा० (६।४।८)।

राजान् स् अलोऽन्त्यात्० (१।१।६४), हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६)।
राजान् सुप्तिङन्तं० (१।४।१४), न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) लगकर—
राजा बना ॥

इसी प्रकार 'राजन् औ' आदि में सर्वत्र प्रकृत सूत्र से सर्वनामस्थान संज्ञा होने से दीर्घ होकर— राजान् औ = राजानौ; राजन् जस् = राजान् अस् = राजानः। राजानम्, राजानौ बन गया। आगे के उदाहरणों में न लोपः प्राति० (८।२।७) से नकार का लोप नकार के पदान्त में न होने के कारण नहीं होता है। 'राजा' यहां तो 'सु' के लोप हो जाने पर नकार पदान्त में था, अतः 'न्' का लोप हो गया है ॥

—:०:—

परि० न वेति विभाषा (१।१।४३)

शुशाव (बढ़ गया)

टु ओश्वि पूर्ववत् अनुबन्ध लोप होकर, भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), परोक्षे लिट् (३।२।११५)।

श्वि लिट् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर लिट् के स्थान में तिप् आया।

श्वि तिप् परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः (३।४।८२), यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् (१।३।१०)।

श्वि णल् = अ, विभाषा श्वेः (६।१।३०) से विकल्प से सम्प्रसारण प्राप्त हुआ। तब न वेति विभाषा ने बताया कि निषेध और विकल्प अर्थों की विभाषा संज्ञा होती है। इग्यणः सम्प्रसारणम् (१।१।४४) से यण् के स्थान में जो इक् उसकी सम्प्रसारण संज्ञा हुई। सो यथासङ्ख्यमनु० (१।३।१०) लगकर 'व्' को 'उ' सम्प्रसारण हो गया।

श् उ इ अ सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४) से सम्प्रसारण से उत्तर 'इ' को पूर्वरूप होकर—

शु अ अचो ञ्णिति (७।२।११५), वृद्धिरादैच् (१।१।१), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९)।

शौ अ एचोऽयवायावः (६।१।७५) लगकर—

शाव् अ लिटि धातोरनभ्यासस्य (६।१।८), एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१), द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) से रूपातिदेश होकर द्विर्वचन हुआ।

शौ शाव् अ ह्रस्वः (७।४।६१), एच इग्घ्रस्वादेशे (१।१।४७) से ह्रस्व होकर
शुशाव् अ =शुशाव बना ॥

जिस पक्ष में सम्प्रसारण नहीं हुआ, उस पक्ष में पूर्ववत् सब होकर, वृद्धि द्विर्वचन (रूपातिदेश) होकर—'श्वि श्वै अ' रहा। हलादिः शेषः (७।४।६०), तथा एचोऽयवायावः (६।१।७५) लगकर 'शिश्वाय' बन गया। द्विवचन में 'तस्' के स्थान में पूर्ववत् 'अतुस्' आकर 'श्वि अतुस्' रहा। पूर्ववत् सम्प्रसारण तथा पूर्वरूप होकर— 'शु अतुस्' रहा। असंयोगाल्लिट् कित् (१।२।५) से अतुस के कित्वत् होने से सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४) से प्राप्त गुण का क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया। अब पूर्ववत् 'शु शु' द्वित्व, तथा अचि श्नुधातुभ्रुवां० (६।४।७७) से उवङ् आदेश, ङिच्च (१।१।५२) लगकर अन्तिम अल् उकार को होंकर – शुशुवङ् अतुस्=शुशुव् अतुस्। 'स्' को रुत्व, विसर्जनीय होकर—शुशुवतुः बन गया॥

जिस पक्ष में सम्प्रसारण नहीं हुआ, उस में पूर्ववत् सब होकर, तथा इकार पूर्ववत् अचि श्नु० (६।४।७७) से इयङ् होकर— शिश्वियतुः बन गया॥

दक्षिणपूर्वस्यै, दक्षिणपूर्वायै की सिद्धि परि० (१।१।२७) में देखें। वहाँ विभाषा दिक्० (१।१।२७) से विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है॥

—:०:—

परि० इग्यणः सम्प्रसारणम् (१।१।४४)

(१) उक्तः (कहा गया)

वच भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), निष्ठा (३।२।१०२), क्तक्तवतू निष्ठा (१।१।२५), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

वच् क्त =त, वचिस्वपियजादीनां किति (६।१।१५) से सम्प्रसारण हुआ। इग्यणः सम्प्रसारणम्, यथासङ्ख्यमनु० (१।३।१०) लगकर—

उ अ च् त सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४), एकः पूर्वपरयोः (६।१।८१) लगकर—

उच् त चोः कुः (८।२।३०), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९)।

उक् त कृदतिङ् (३।१।९३), कृत्तद्धितस० (२।१।४६) आदि सब पूर्ववत् होकर, 'सु' आकर विसर्जनीय हो गया। और—

उक्तः बना॥

(२) उक्तवान् (उसने कहा)

उक्तवान् की सिद्धि में पूर्ववत् 'वच' धातु 'क्तवतु' आकर, तथा सम्प्रसारणादि सब कार्य होकर—'उक् तवत् सु' रहा। अब यहाँ शेष कार्य परि० १।१।५ के 'चितवान्' के समान होकर—'उक्तवान्' बन गया॥

स्वप् धातु से सुप्तः (सोया हुआ), सुप्तवान् (वह सोया) पूर्ववत् बनेंगे। यज् धातु के 'य्' को क्त परे रहते 'इ' सम्प्रसारण होकर 'इज् त' रहा। व्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से 'ज्' को 'ष्', ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से 'त्' को ट् होकर—'इष्टः' (यज्ञ किया हुआ), तथा 'इष्टवान्' (उसने यज्ञ किया) बनेगा। गृहीतः (पकड़ा हुआ), गृहीतवान् (उसने पकड़ा) यहाँ पर भी पूर्ववत् ग्रह धातु के 'र्' को 'ऋ' सम्प्रसारण, तथा ग्रह धातु के सेट् होने से आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५) से इट् आगम, एवं उस इट् को ग्रहोऽलिटि दीर्घः (७।२।३७) से दीर्घ होकर—गृह् ईट् त =गृहीतः, गृहीतवान् बन गया॥

सर्वत्र यथासङ्ख्यम० (१।३।१०) लगकर यथासङ्ख्य करके 'य्' को इ, व् को उ, र् को ऋ, तथा ल को लृ सम्प्रसारण होता है॥

—:०:—

परि० आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)

भविता (वह कल होगा); लविता (वह कल काटेगा) की सिद्धि परि० १।१।६ के पठिता के समान जानें। आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५) से वलादि आर्धधातुक तास् को कहा इट् आगम टित् होने से तास् के आदि में होगा। षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४८) से सारे तास् के स्थान में प्राप्त था। सो न हुआ, यही प्रकृत सूत्र का प्रयोजन है॥

(१) त्रापुषम् (त्रपुणो विकारः=राँगे का विकार)

त्रपु ङस् — समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२), तस्य विकारः (४।३।१३२), त्रपुजतुनोः षुक् (४।३।१३६) से षष्ठीसमर्थ 'त्रपु' शब्द से अण्, तथा षुक् का आगम प्राप्त हुआ। सो प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से अण प्रत्यय परे हो गया। पर षुक् आगम कहाँ पर हो, इसका निर्णय आद्यन्तौ टकितौ ने किया कि वह कित् है, अतः त्रपु के अन्त में बैठे। सो अन्त में बैठा।

त्रपु षुक् ङस् अण् — तद्धिताः (४।१।७६), कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), सुपो धातु-प्राति० (२।४।७१) से सुप् का लुक्, तथा पूर्ववत् अनुबन्ध लोप होकर—

त्रपु ष् अ तद्धितेष्वचा० (७।२।११७), वृद्धिरादैच् (१।१।१) से वृद्धि होकर, और पूर्ववत् सु आकर—

त्रापुष सु अतोऽम् (७।१।२४) से सु को नपुंसकलिङ्ग में अम् होकर—

त्रापुष अम् अमि पूर्वः (६।१।१०३) लगकर—

त्रापुषम् बना ।।

इसी प्रकार 'जतु' शब्द से जातुषम् (लाख का विकार=चूड़ी आदि) की सिद्धि जानें ।।

(२) भीषयते (डराता है)

ञिभी भये आदिर्ञिटु० (१।३।५), तस्य लोपः (१।३।९)।

भी भूवादयो० (१।३।१), हेतुमति च (३।१।२६), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से णिच् प्रत्यय हुआ।

भी णिच् भियो हेतुभये षुक् (७।३।४०) से णिच् परे रहते षुक् आगम प्राप्त हुआ। अब यह षुक् आगम कहाँ हो, सो पहले तो षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४८) से सारे भी' के स्थान में प्राप्त हुआ। पर उसके भी अपवाद आद्यन्तौ टकितौ ने कहा कि कित् होने से यह अन्त में हो।

भी षुक् णिच् अनुबन्ध लोप होकर, सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) से 'भीषि' की नई धातु संज्ञा होकर, धातोः (३।१।९१) आदि सब पूर्ववत् सूत्र लगे। भीस्म्योर्हेतुभये (१।३।६८) से आत्मनेपद हुआ।

भीषि शप् त सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४), अदेङ् गुणः (१।१।२)।

भीषे अ त एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अयादेश होकर—

भीषय् अ त अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३), टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९) से टि को एत्व होकर—

भीषयते बना ।।

—:०:—

परि० मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६)

(१) भिनत्ति (फाड़ता है)

भिदिर् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

भिद् तिप् रुधादिभ्यः श्नम् (३।१।७८), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२), मिदचोऽन्त्यात् परः से श्नम् अन्त्य अच् से परे हुआ।

भि श्नम् द् तिप् =भि न द् ति, खरि च (८।४।५४) से द् को त् होकर—

भिनत् ति =भिनत्ति बना ॥

इसी प्रकार छिनत्ति (काटता है) की सिद्धि भी जानें ॥

(२) रुणद्धि (रोकता है)

रुधिर् पूर्ववत् ही सब होकर—

रु श्नम् ध् ति =रुन ध् ति, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवा० (८।४।२) से न को 'ण' होकर–

रु ण ध् ति झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) से तिप् के 'त्' को 'ध्' हुआ।

रुणध् धि झलां जश् झशि (८।४।५२) से ध् को द् होकर—

रुणद्धि =रुणद्धि बना ॥

(३) मुञ्चति (वह छोड़ता है)

मुच्लृ पूर्ववत् सब होकर—

मुच् तिप् तुदादिगण की धातु होने से तुदादिभ्यः शः (३।१।७७) से शप् का अपवाद 'श' हुआ।

मुच् श ति मुच् की अङ्ग संज्ञा होकर अङ्गस्य,(६।४।१),शे मुचा०(७।१।५९)से नुम् आगम हुआ। मिदचोऽन्त्यात् परः लगकर, तथा अनुबन्ध लोप।

मुन् च् अ ति =मुन्चति,नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४)।

मुंचति अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८।४।५७) से परसवर्ण होकर—

मुञ्चति बना ॥

(४) वन्दे मातरम् (माता को नमस्कार करता हूं)

वदि अभिवादनस्तुत्योः उपदेशे० (१।३।२),तस्य लोपः(१।३।९),भूवादयो०(१।३।१)।

वद् वद् धातु के इदित् होने से इदितो नुम् धातोः (७।१।५८) से नुम् आगम हुआ, मिदचोऽन्त्यात् परः लगकर—

व नुम् द् =वन्द्, पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, अनुदात्तङित० (१।३।१२) से आत्मनेपद उत्तमपुरुष एकवचन में—

वन्द् शप् इट् =वन्द् अ इ, टित आत्मनेपदानां० (३।४।७९), अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३)।

वन्द ए अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप होकर—

वन्दे बना ॥

कुण्डानि, वनानि की सिद्धि परि० १।१।४१ में देखें। यशांसि (बहुत से यश), पयांसि (बहुत से दूध) की सिद्धि में भी यशस् पयस् शब्द से जस् आकर 'कुण्डानि' के समान ही नुम् आगम प्राप्त हुआ। सो वह नुम् अन्त्य अच् से परे होकर–यश नुम् स् जस्, पय नुम् स् जस् रहा। जस् को शि जश्शसोः शिः (७।१।२०) से होकर, तथा दीर्घ भी सान्तमहतः० (६।४।१०) से होकर—यशान्स् इ, पयान्स् इ रहा। नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) से 'न्' को अनुस्वार होकर—यशांसि पयांसि बन गया ॥

—:०:—

परि० एच इग्घ्रस्वादेशे (१।१।४७)

अतिरि कुलम् (जिस कुल ने धन का उल्लङ्घन किया है)

अतिक्रान्तं रायं यत् कुलम्—

रै अम् अति सु अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया (वा० २।२।१८), कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१)।

रैअति प्रथमानिर्दिष्टं० (१।२।४३), उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०)।

अतिरै ह्रस्वो नपुंसके प्राति० (१।२।४७), अचश्च (१।२।२८) से अजन्त नपुंसक लिङ्ग 'ऐ' को ह्रस्व प्राप्त हुआ। पर एच् के तो ह्रस्व वर्ण होते नहीं, उसे क्या ह्रस्व हो? स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) परिभाषा के अनुसार ए ऐ के स्थान में कण्ठ्य अ तथा तालव्य इ प्राप्त हुए। इसी प्रकार ओ औ के स्थान में भी कण्ठ्य अ तथा ओष्ठ्य उ प्राप्त हुए। तब एच इग्घ्रस्वादेशे परिभाषा सूत्र ने नियमरूप से निर्णय किया कि एच् को ह्रस्वादेश करने में इक् ही ह्रस्व हो, अन्य (अर्थात् अकार) नहीं। अतः 'ऐ' को 'इ' होकर पूर्ववत् सु आया—

अतिरि सु स्वमोर्नपुंसकात् (७।१।२३) से लुक्, प्रत्ययस्य० (१।१।६०)।

अतिरि कुलम् बना ॥

इसी प्रकार नावम् अतिक्रान्तं यत् कुलम्=अतिनु कुलम् (जिस कुल ने नौका विहार का अतिक्रमण कर दिया है) की सिद्धि भी जानें। 'औ' को 'उ' ह्रस्व स्थानेऽन्त० (१।१।४९) लगकर पूर्ववत् हुआ है ॥

गोः समीपम् उपगु (गाय के समीप), यहाँ पर 'गो ङस् उप सु' इस अवस्था में अव्ययं विभक्ति० (२।१।६) से समास, तथा सुप् का लुक् पूर्ववत् होकर—"उपगो" रहा। पूर्ववत् 'ओ' को 'उ' ह्रस्व हुआ। पुनः 'सु' की उत्पत्ति होकर, अव्ययीभावश्च (१।१।४०) से 'उपगु' की अव्यय संज्ञा होकर, अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से 'सु' का लुक् हो गया है ॥

—:o:—

परि० षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४८)

सूत्र-प्रयोजन—भविता (होनेवाला), यहाँ आर्धधातुक-विषय में तृच् को मानकर 'अस्' धातु को अस्तेर्भूः (२।४।५२) से भू आदेश होता है। 'अस्तेः' षष्ठी विभक्ति के एकवचन का रूप है। षष्ठी का अर्थ सम्बन्ध सामान्य 'का, के, की' होता है। पर यहाँ तो "अस्ति का भू होता है" ऐसा कहने से कुछ पता नहीं लगता कि "अस्ति का भू" क्या है? अर्थात् यहाँ अनियतयोगा (जिसका सम्बन्ध नियत नहीं) षष्ठी है। सो यहाँ षष्ठी स्थानेयोगा परिभाषा सूत्र से स्थानेयोगा षष्ठी हो गई। तब 'अस्तेर्भूः' का अर्थ हो गया—"अस् के स्थान में भू आदेश होता है, आर्धधातुक विषय में"। यही इस सूत्र का प्रयोजन है ॥

(१) भविता (होनेवाला)

अस् भूवादयो० (१।३।१), आर्धधातुके (२।४।३५), अस्तेर्भूः (२।४।५२), षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४८) से अस् के स्थान में आर्धधातुक का विषय आगे उपस्थित होगा ऐसा मानकर भू आदेश प्राप्त हुआ। पर यह भू अस् के कहाँ पर हो? इसका निर्णय अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४) ने किया कि सम्पूर्ण के स्थान में हो।

भू अब यह भू तो धातु नहीं, यह तो आदेश है। सो धातोः (३।१।९१) के अधिकार में कहे प्रत्यय कैसे हों? तब स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (१।१।५५) लगा, इससे स्थानिवत् होकर 'भू' आदेश 'अस्' के समान ही धातु माना गया। पुनः ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से तृच् प्रत्यय हुआ।

भू तृच् = तृ आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५) से इट् आगम होकर—

भू इट् तृ शेष सिद्धि परि० १।१।२ के भविता के समान होकर—

भविता बना ॥

वन्द ए अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप होकर—

वन्दे बना ॥

कुण्डानि, वनानि की सिद्धि परि० १।१।४१ में देखें। यशांसि (बहुत से यश), पयांसि (बहुत से दूध) की सिद्धि में भी यशस् पयस् शब्द से जस् आकर 'कुण्डानि' के समान ही नुम् आगम प्राप्त हुआ। सो वह नुम् अन्त्य अच् से परे होकर—यश नुम् स् जस्, पय नुम् स् जस् रहा। जस् को शि जश्शसोः शिः (७।१।२०) से होकर, तथा दीर्घ भी सान्तमहत:० (६।४।१०) से होकर—यशान्स् इ, पयान्स् इ रहा। नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) से 'न्' को अनुस्वार होकर—यशांसि पयांसि बन गया ॥

—:०:—

परि० एच इग्घ्रस्वादेशे (१।१।४७)

अतिरि कुलम् (जिस कुल ने धन का उल्लङ्घन किया है)

अतिक्रान्तं रायं यत् कुलम्—

रै अम् अति सु अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया (वा० २।२।१८), कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१)।

रैअति प्रथमानिर्दिष्टं० (१।२।४३), उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०)।

अतिरै ह्रस्वो नपुंसके प्राति० (१।२।४७), अचश्च (१।२।२८) से अजन्त नपुंसक लिङ्ग 'ऐ' को ह्रस्व प्राप्त हुआ। पर एच् के तो ह्रस्व वर्ण होते नहीं, उसे क्या ह्रस्व हो? स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) परिभाषा के अनुसार ए ऐ के स्थान में कण्ठ्य अ तथा तालव्य इ प्राप्त हुए। इसी प्रकार ओ औ के स्थान में भी कण्ठ्य अ तथा ओष्ठ्य उ प्राप्त हुए। तब एच इग्घ्रस्वादेशे परिभाषा सूत्र ने नियमरूप से निर्णय किया कि एच् को ह्रस्वादेश करने में इक् ही ह्रस्व हो, अन्य (अर्थात् अकार) नहीं। अतः 'ऐ' को 'इ' होकर पूर्ववत् सु आया—

अतिरि सु स्वमोर्नपुंसकात् (७।१।२३) से लुक्, प्रत्ययस्य० (१।१।६०)।

अतिरि कुलम् बना ॥

इसी प्रकार नावम् अतिक्रान्तं यत् कुलम्=अतिनु कुलम् (जिस कुल ने नौका विहार का अतिक्रमण कर दिया है) की सिद्धि भी जानें। 'औ' को 'उ' ह्रस्व स्थानेऽन्त० (१।१।४९) लगकर पूर्ववत् हुआ है ॥

गो: समीपम् उपगु (गाय के समीप), यहाँ पर 'गो ङस् उप सु' इस अवस्था में अव्ययं विभक्ति० (२।१।६) से समास, तथा सुप् का लुक् पूर्ववत् होकर— "उपगो" रहा। पूर्ववत् 'ओ' को 'उ' ह्रस्व हुआ। पुन: 'सु' की उत्पत्ति होकर, अव्ययीभावश्च (१।१।४०) से 'उपगु' की अव्यय संज्ञा होकर, अव्ययादाप्सुप: (२।४।८२) से 'सु' का लुक् हो गया है ॥

—:o:—

परि० षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४८)

सूत्र-प्रयोजन—भविता (होनेवाला), यहाँ आर्धधातुक-विषय में तृच् को मानकर 'अस्' धातु को अस्तेर्भूः (२।४।५२) से भू आदेश होता है। 'अस्तेः' षष्ठी विभक्ति के एकवचन का रूप है। षष्ठी का अर्थ सम्बन्ध सामान्य 'का, के, की' होता है। पर यहाँ तो "अस्ति का भू होता है" ऐसा कहने से कुछ पता नहीं लगता कि "अस्ति का भू" क्या है? अर्थात् यहाँ अनियतयोगा (जिसका सम्बन्ध नियत नहीं) षष्ठी है। सो यहाँ षष्ठी स्थानेयोगा परिभाषा सूत्र से स्थानेयोगा षष्ठी हो गई। तब 'अस्तेर्भूः' का अर्थ हो गया—"अस् के स्थान में भू आदेश होता है, आर्धधातुक विषय में"। यही इस सूत्र का प्रयोजन है ॥

(१) भविता (होनेवाला)

अस्	भूवादयो० (१।३।१), आर्धधातुके (२।४।३५), अस्तेर्भूः (२।४।५२), षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४८) से अस् के स्थान में आर्धधातुक का विषय आगे उपस्थित होगा ऐसा मानकर भू आदेश प्राप्त हुआ। पर यह भू अस् के कहाँ पर हो? इसका निर्णय अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४) ने किया कि सम्पूर्ण के स्थान में हो।
भू	अब यह भू तो धातु नहीं, यह तो आदेश है। सो धातोः (३।१।९१) के अधिकार में कहे प्रत्यय कैसे हों? तब स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (१।१।५५) लगा, इससे स्थानिवत् होकर 'भू' आदेश 'अस्' के समान ही धातु माना गया। पुन: ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से तृच् प्रत्यय हुआ।
भू तृच् = तृ	आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५) से इट् आगम होकर—
भू इट् तृ	शेष सिद्धि परि० १।१।२ के भविता के समान होकर—
भविता	बना ॥

(२) भवितुम् (होने के लिये)

इसी प्रकार भवितुम् यहां भी पूर्ववत् ही सब होकर समानकर्तृकेषु तुमुन् (३।३।१५८) से तुमुन् प्रत्यय होकर—भू इट् तुमुन्='भो इ तुम् सु' रहा। कृन्मेजन्तः (१।१।३८) से तुमुन् की अव्यय संज्ञा, एवं सु का लुक् होकर भवितुम् बन गया॥

भवितव्यम् में भी पूर्ववत् अस् को भू आदेश होकर—तव्यत्तव्यानीयरः (३।१। ९६) से तव्य प्रत्यय हुआ है। पश्चात् सु को अतोऽम् (७।१।२४) से अम् होकर 'भवितव्यम्' (होना चाहिये) की सिद्धि जानें॥

(३) वक्ता (बोलनेवाला)

इसी प्रकार ब्रुवो वचिः (२।४।५३) में 'ब्रुवः' में अनियतयोगा षष्ठी है। सो स्थानेयोगा षष्ठी प्रकृत सूत्र से हो गई। तब "ब्रूञ् के स्थान में वच् आदेश हो, आर्धधातुक विषय में" ऐसा अर्थ होने से ब्रूञ् को वच् आदेश होकर, पूर्ववत् वक्ता (बोलनेवाला), वक्तुम् (बोलने के लिये), वक्तव्यम् (बोलना चाहिये) बन गये। चोः कुः (८।२।३०) से च् को क् सर्वत्र यहां हुआ है, यही विशेष है॥

(४) दध्यत्र (दधि यहां)

इको यणचि (६।१।७४), यहां भी इकः में स्थानेयोगा षष्ठी होकर—दधि+अत्र=दध्यत्र, यहां 'इ' के स्थान में 'य्'; मधु+अत्र=मध्वत्र, यहां 'उ' के स्थान में 'व्'; पितृ+अर्थम्=पित्रर्थम्, यहां 'ऋ' के स्थान में 'र्', तथा लृ+आकृतिः= लाकृतिः यहां, लृ' के स्थान में 'ल्' हो जाता है॥

—:०:—

परि० स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९)

सूत्र-प्रयोजन—जहां एक ही स्थानी (=जिसके स्थान में आदेश हो) के स्थान में कई आदेश प्राप्त हों, वहां कौनसा आदेश उस स्थानी को हो, इसका निर्णय प्रकृत सूत्र करता है कि स्थान में सदृशतम=अत्यन्त मिलता-जुलता आदेश हो। यह समानता ४ प्रकार की होती है—(१) स्थानकृत, (२) अर्थकृत, (३) गुणकृत, (४) प्रमाणकृत॥

(१) स्थानकृतान्तर्ये-दण्ड+अग्रम्=दण्डाग्रम्; दधि+इदम्=दधीदम्; भानु+उदयः=भानूदयः, यहां सर्वत्र अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से दीर्घ

एकादेश प्राप्त होने पर आ, ई, ऊ आदि में से कोई भी अक्षर दीर्घ हो सकता था। पर स्थानेऽन्तरतमः ने बताया कि स्थान में अत्यन्त मिलता-जुलता दीर्घ हो। सो 'अ' को आ, 'इ' को ई, और 'उ' को ऊ ही मिलता-जुलता दीर्घ हुआ॥

अभवताम् (वे दोनों हुये)

(२) अर्थकृताऽन्तर्ये—

भू	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, अनद्यतने लङ् (३।२।१११)।
भू लङ्	पूर्ववत् लादेश तस् हुआ।
भू तस्	अङ्ग संज्ञा होकर, लुङ्लङ्लृङ्क्ष्व० (६।४।७१), आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)।
अट् भू तस्	तिङ्शित् सार्व० (३।४।११३), कर्त्तरि शप् (३।१।६८)।
अट् भू शप् तस्	पूर्ववत् सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से गुण, तथा एचोऽयवा० (६।१।७५) लगकर—
अ भव् अ तस्	तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (३।४।१०१) से ताम्, तम्, आदि आदेश प्राप्त हुये। सो कौनसा हो, तब प्रकृत सूत्र ने अर्थकृत आन्तर्य से जिस अर्थ का बोधक स्थानी है, उसी अर्थ का बोध करानेवाला आदेश प्राप्त कराया। अर्थात् यहाँ 'तस्' प्रथमपुरुष द्विवचन का बोधक है, सो प्रथम पुरुष द्विवचन का बोधक 'ताम्' आदेश होकर—
अभवताम्	बना॥

वातण्डचयुवतिः (वतण्ड व्यक्तिविशेष की युवती पौत्री)

वतण्डी चासौ युवतिश्च—

वतण्ड	अर्थवदधा० (१।२।४५) इत्यादि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
वतण्ड ङस्	समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२), तस्यापत्यम् (४।१।९२), वतण्डाच्च (४।१।१०८), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से वतण्ड का जो स्त्री अपत्य (अर्थात् पौत्री) इस अर्थ में यञ् प्रत्यय आया।
वतण्ड ङस् यञ्	कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्राति० (२।४।७१)।
वतण्ड यञ्	लुक स्त्रियाम् (४।१।१०९) से यञ् का लुक।
वतण्ड	स्त्रियाम् (४।१।३), शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् (४।१।७३), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

वतण्ड ङीन्=ई　यचि भम् (१।४।१८), भस्य (६।४।१२९), यस्येति च (६।४।१४८) लगकर—

वतण्ड् ई　　=वतण्डी बना ॥

वतण्डी　　अब 'वतण्डी' शब्द का 'युवति' शब्द के साथ कर्मधारयसमास किया, तो

वतण्डी सु युवति सु　पोटायुवतिस्तोककतिपय० (२।१।६४), कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्राति० (२।४।७१), तत्पुरुषः समाना० (१।२।४२)।

वतण्डीयुवति　अब पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु० (६।३।४०) से वतण्डी को पुंवद्भाव, अर्थात् पुंल्लिङ्ग के समान रूप पाया। सो वतण्डी को 'वतण्ड' शब्द भी पुंवद्भाव होकर हो सकता है। पर स्थानेऽन्तरतमः लगाकर अर्थकृत आन्तर्य से जिस प्रकार वतण्डी अपत्य अर्थ का बोधक है, उसी प्रकार पुंवद्भाव आदेश भी अपत्य अर्थ का बोध करानेवाले शब्द को हुआ। अपत्य अर्थ का बोधक "वातण्ड्य" शब्द है, न कि वतण्ड। सो वातण्ड्य शब्द ही पुंवद्भाव होकर आया।

वातण्ड्ययुवति पूर्ववत् 'सु' आकर, एवं विसर्जनीय होकर—

वातण्ड्ययुवतिः बना ॥

(३) गुणकृतान्तर्य—भागः यागः त्यागः, यहाँ सर्वत्र घञ् प्रत्यय के परे रहते भज् यज् त्यज् इन धातुओं के 'ज्' को जब चजोः कु० (७।३।५२) से कु=कवर्गादेश करने लगे, तो कवर्ग के ५ अक्षरों में से कौन अक्षर हो? तो, स्थानेऽन्तरतमः ने बताया कि अत्यन्त मिलता-जुलता ही आदेश हो। सो यहाँ गुणकृत आन्तर्य से जिस प्रकार 'ज्' अल्पप्राण (देखो—वर्णो० ६२, एकेऽल्पप्राणा इतरे महाप्राणाः), तथा घोष-गुणवाला (देखो—वर्णो० ६३, वर्गाणाम्०) है, उसी प्रकार अल्पप्राण एवं घोष गुण-वाला 'ग्' हो गया, अन्य क् घ् आदि वर्ण नहीं हुए। क्योंकि उनके साथ 'ज्' के पूरे-पूरे गुण नहीं मिलते थे। 'क्' केवल अल्पप्राण था, घोष नहीं था। 'घ्' केवल घोष था अल्पप्राण नहीं था। अतः 'ज्' के साथ ग् का ही गुण अत्यन्त मिल रहा था, सो वही हो गया। शेष सिद्धि परि० १।१।१ में देखें ॥

(४) प्रमाणकृतान्तर्य—प्रमाणकृत आन्तर्य का अभिप्राय यह है कि जहाँ जिस प्रमाणवाला (=एकमात्रिक द्विमात्रिक आदि) स्थानी हो, वहाँ उसी प्रमाणवाला आदेश भी हो। यथा—'अमुष्मै' यहाँ एकमात्रिक प्रमाणवाले अकार के स्थान में एकमात्रिक ही उकार अदसोऽसे० (८।२।८०) से होकर 'अमुष्मै' बना। तथा 'अमू-भ्याम्' यहाँ द्विमात्रिक आकार को द्विमात्रिक ही ऊकार होकर 'अमूभ्याम्' बना है ॥

अमुष्मै (उस के लिये)

अदस्	परि० १।१।१२ के 'अमी' के समान सब कार्य होकर—
अद ङे	सर्वनाम्नः स्मै (७।१।१४), सर्वादीनि सर्वनामानि (१।१।२६)।
अद स्मै	अदसोऽसेर्दादु दो मः (८।२।८०) से 'द्' को 'म्', तथा द् से उत्तर अवर्ण को उवर्णादेश प्राप्त हुआ। अणुदित्सवर्णस्य० (१।१।६८) से उकार के सवर्ण दीर्घ का भी ग्रहण होकर अकार के स्थान में ह्रस्व दीर्घ दोनों प्रकार के 'उ' पाये। तब स्थानेऽन्तरतमः ने निर्णय किया कि अकार के स्थान में सदृशतम उवर्ण हो। यहाँ अकार के साथ उवर्ण का स्थान अर्थ एवं गुणकृत तो सदृशता है नहीं। सो प्रमाणकृत सादृश्य को लेकर एकमात्रिक अकार को एकमात्रिक ह्रस्व 'उ' हो गया।
अमुस्मै	आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से षत्व होकर—
अमुष्मै	बना ॥

अमूभ्याम् (उन दोनों के लिये)

'अमूभ्याम्' यहाँ भी पूर्ववत् सब होकर 'अद+भ्याम्' रहा। सुपि च (७।३।१०२) से दीर्घ होकर 'अदाभ्याम्' रहा। अब यहाँ जब पूर्ववत् आकार को उवर्ण होने लगा, तो ह्रस्व दीर्घ में से कौनसा 'उ' हो, ऐसा सन्देह होने पर प्रकृत सूत्र ने प्रमाणकृत आन्तर्य से दीर्घ आ के स्थान में दीर्घ 'ऊ' आदेश कर दिया, तो 'अमूभ्याम्' बन गया ॥

—:०:—

परि० उरण् रपरः (१।१।५०)

कारकः, हारकः, कर्त्ता, हर्त्ता की सिद्धि परि० १।१।१,२ में देखें। वहाँ भली प्रकार उरण् रपरः की आवश्यकता समझाई है ॥

(१) किरति (बिखेरता है)

कॄ विक्षेपे	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
कॄ तिप्	तुदादिभ्यः शः (३।१।७७), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।
कॄ श तिप्	=कॄ अ ति। पूर्ववत् अङ्गसंज्ञा होकर सार्वधातुका० (७।३।८४) से गुण प्राप्त हुआ। सार्वधातुक० (१।२।४) से 'श' के ङित्वत् होने से क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया। तब ऋत इद्धातोः (७।१।१००)

से ऋकारान्त अङ्ग को इकारादेश पाया। उरण्रपरः ने कहा कि यहाँ जो ऋकार को अण् (इ) हो रहा है, सो 'र' परे होकर—

किर् अ ति =किरति बन गया॥

इसी प्रकार 'गॄ निगरणे' धातु से गिरति (निगलता है) बनेगा॥

(२) द्वैमातुरः (द्वयोः मात्रोरपत्यम्, दो माताओं का पुत्र)

द्वि ओस् मातृ ओस् तद्धितार्थोत्तर० (२।१।५०), कृत्तद्धित० (१।२।४६), तस्यापत्यम् (४।१।९२), मातुरुत्सङ्ख्यासंभद्रपूर्वायाः (४।१।११५) से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय, तथा मातृ को उकारादेश प्राप्त हुआ। अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्तिम 'ऋ' को उकारादेश प्राप्त हुआ। अब उरण्रपरः से र् परे होकर, और सुपो धातु० (२।४।७१) से सुप् का लुक् होकर—

द्विमातुर् अ तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७), वृद्धिरादैच् (२।१।१)।

द्वैमातुर सु कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

द्वैमातुरः बना॥

इसी प्रकार तिसृणां मातॄणामपत्यं त्रैमातुरः (तीन माताओं का पुत्र) भी बनेगा॥

—:०:—

परि० अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१)

(१) द्यौः (द्युलोक)

दिव् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

दिव् सु दिव औत् (७।१।८४) से दिव् शब्द सारे को औकारादेश प्राप्त हुआ। तब अलोऽन्त्यस्य से अन्त्य अल् 'व' को 'औ' हुआ।

दि औ सु इको यणचि (६।१।७४), तथा पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

द्यौ सु =द्यौः बना॥

(२) सः (वह)

तद् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

तद् सु त्यदादीनामः (७।२।१०२), अलोऽन्त्यस्य लगकर—

त अ सु तदोः सः सावनन्त्ययोः (७।२।१०६)।

स अ सु — अतो गुणे (६।१।९४), अदेङ् गुणः (१।१।२)।

स सु — पूर्ववत् विसर्जनीय होकर—

सः — बना ॥

(३) पञ्चगोणिः (पञ्चभिर्गोणीभिः क्रीतः=पाँच गोणियों से खरीदा हुआ)

पञ्चन् भिस् गोणी भिस् — तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (२।१।५०), कृत्तद्धित० (१।२।४६), तेन क्रीतम् (५।१।३६), आर्हादगोपुच्छसंख्या० (५।१।१९), सुपो धातुप्रातिपदि० (२।४।७१), नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) लगकर—

पञ्चगोणी ठक् — सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः (२।१।५१), अध्यर्द्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम् (५।१।२८) से प्रत्यय का लुक् होकर—

पञ्चगोणी — लुक्तद्धितलुकि (१।२।४९) से, तद्धित प्रत्यय ठक् के लुक् होने पर स्त्रीप्रत्यय 'गोणी' के 'ई' का लुक् पाया। पर इद् गोण्याः (१।२।५०) ने कहा कि गोणी के स्त्रीप्रत्यय का लुक न होकर इकारादेश हो। अब यह 'इकार' कहाँ पर हो? इसका निर्णय अलोऽन्त्यस्य ने किया कि अन्तिम अल् को हो।

पञ्चगोण् इ — पूर्ववत् सु आकर, विसर्जनीय होकर—

पञ्चगोणिः — बना ॥

—:०:—

परि० ङिच्च (१।१।५२)

चेता नेता की सिद्धि परि० १।१।२ में दिखा आये हैं। यहाँ ङिच्च का यही प्रयोजन है कि अनेकाल् होते हुए भी अनङ् अन्त्य अल् चेतृ के ऋकार के स्थान में होता है, अनेकाल्० (१।१।५४) से सब के स्थान में नहीं होता ॥

मातापितरौ (माता च पिता च=माता और पिता)

मातृ सु पितृ सु — चार्थे द्वन्द्वः (२।२।२९), कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातु० (२।४।७१)।

मातृपितृ — आनङ् ऋतो द्वन्द्वे (६।३।२३) से उत्तरपद परे रहते आनङ् आदेश मातृ शब्द को प्राप्त हुआ। ङिच्च ने कहा कि ङित् होने से अन्तिम अल् को हो। ऋकार को आनङ् आदेश होकर—

मात् आनङ् पितृ =मातानपितृ, नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) लगकर—

मातापितृ औ पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा, तथा सुडनपुंसकस्य (१।१।४२) से सर्वनामस्थान संज्ञा होकर, ऋतो ङिसर्वनामस्थानयो: (७।३।११०) से ऋकारान्त अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ। उरण्रपर: (१।१।५०) अदेङ् गुण: (१।१।२) से 'अर्' होकर—

मातापितर् औ = मातापितरौ बना ।।

इसी प्रकार होता च पोता च होतापोतारौ (होता और पोता, यह दोनों ऋत्विग् विशेष की संज्ञा हैं) की सिद्धि भी जानें ।।

—:०:—

परि० आदे: परस्य (१।१।५३)

(१) आसीन: (बैठा हुआ)

आस् भूवादयो० (१।३।१), धातो: (३।१।९१), वर्त्तमाने लट् (३।२।१२३)।

आस् लट् अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२) से आस् के अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदसंज्ञक ही प्रत्यय प्राप्त हुये। सो तङानावात्मनेपदम् (१।४।९९) से आत्मनेपदसंज्ञक 'शानच्' आदेश लट: शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे (३।२।१२४) से लट् के स्थान में हुआ। अनेकाल्० (१।१।५४) लगकर—

आस् शानच् तिङ्शित् सार्वधातुकम् (३।४।११३), कर्त्तरि शप् (३।१।६८), प्रत्यय:, परश्च (३।१।१,२) लगकर—

आस् शप् शानच् अदिप्रभृतिभ्य: शप: (२।४।७२) से शप् का लुक् हो गया।

आस् शानच् = आन अब यहाँ ईदास: (७।२।८३) से आस् से ईत् आदेश प्राप्त हुआ। तब तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६६) ने कहा कि "पञ्चमीनिर्दिष्ट कार्य उत्तर को हो"। सो ईदास: में आस: में पञ्चमी विभक्ति होने से उससे उत्तर आन को ईत् प्राप्त हुआ। फिर भी यह ईत् 'आन' के अन्त्य अल के स्थान में प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र आदे: परस्य ने कहा कि पर = उत्तर को कहा हुआ कार्य उसके आदि अक्षर को हो। तब आन के आदि 'आ' को 'ई' होकर—

आस् ईन पूर्ववत् कृत्तद्धित० (१।२।४६) आदि लगकर—

आसीन सु रुत्व विसर्जनीय होकर—

आसीन: बना ।।

(२) द्वीपम् (द्विगंता आपो यस्मिन् = जिसमें दोनों ओर पानी हो)

द्वि औ अप् जस् अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४), कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातु० (२।४।७१)।

द्विअप् समासान्ताः (५।४।६८), ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे (५।४।७४) से समासान्त 'अ' प्रत्यय हुआ।

द्विअप् अ द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् (६।३।९५) से इत् आदेश प्राप्त हुआ। सो पूर्ववत् द्वि से उत्तर अप् के अन्त्य अल् को 'ईत्' प्राप्त हुआ। परन्तु आदेः परस्य ने कहा कि 'अप्' के आदि अक्षर को हो। तब ईत् होकर—

द्विईप् अ अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से दीर्घ, तथा पूर्ववत् सु आकर—

द्वीप सु अतोऽम् (७।१।२४), अमि पूर्वः (६।१।१०३) लगकर—

द्वीपम् बना ॥

इसी प्रकार अन्तर्गता आपो यस्मिन् = अन्तरीपम् (जिस में पानी अन्दर तक चला गया है); सङ्गता आपो यस्मिन् = समीपम् (जहाँ पानी मिल जाता है) की सिद्धि भी जानें ॥

—:०:—

परि० अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४)

भविता, भवितुम्, भवितव्यम् की सिद्धि परि० १।१।४८ में देखें। अस्तेर्भूः (२।४।५२) से हुआ 'भू' आदेश अनेकाल् होने से सारे अस् के स्थान में होता है, यही इस सूत्र का प्रयोजन है ॥

पुरुषैः (सब पुरुषों के द्वारा)

पुरुष पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

पुरुष भिस् यस्मात् प्रत्ययविधि० (१।४।१३), अङ्गस्य (६।४।१), अतो भिस ऐस् (७।१।९) से भिस् को ऐस् आदेश प्राप्त हुआ। अनेकाल्शित् सर्वस्य से सारे भिस् के स्थान में ऐस् हो गया।

पुरुष ऐस् वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि एकादेश हुआ।

पुरुषैस् पूर्ववत् विसर्जनीय होकर—

पुरुषैः बना ॥

कुण्डानि, वनानि की सिद्धि परि० १।१।४१ में देखें। यहाँ जश्शसोः शिः (७।१।२०) से 'शि' आदेश शित् होने से प्रकृत सूत्र से सारे जस् शस् के स्थान में होता है, यही प्रयोजन है॥

—:o:—

परि० स्थानिवदादेशो० (१।१।५५)

(१) धातु का आदेश धातुवत्—

भविता, भवितुम्, भवितव्यम्; वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम् इनकी सिद्धियां परि० १।१।४८ में दिखाई जा चुकी हैं। प्रकृत सूत्र का प्रयोजन यहाँ यह है कि—अस् धातु को हुआ अस्तेर्भूः (२।४।५२) से भू आदेश स्थानिवत् अर्थात् अस् के समान ही धातुवत् माना जाता है। विदित रहे कि अस् के स्थान में हुआ 'भू' धातुपाठ में पढ़े हुए 'भू सत्तायाम्' से पृथक् है। अब इस 'भू' के धातुवत् माने जाने से धातु के अधिकार में कहे हुये प्रत्यय, जिस प्रकार धातु होने से 'अस्' से आ सकते हैं, उसी प्रकार 'भू' से भी आ सकते हैं। यही प्रयोजन प्रकृत सूत्र का है। इस प्रकार भू से तृच् तुमुन् आदि प्रत्यय होकर परि० १।१।४८ के समान सिद्धियाँ हुईं। यही प्रक्रिया वक्ता वक्तुम् में जानें॥

केन (किसके द्वारा)

(२) अङ्ग का आदेश अङ्गवत्—

किम्   पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

किम् टा   यस्मात् प्रत्ययविधिस्त० (१।४।१३), अङ्गस्य (६।४।१), किमः कः (७।२।१०३) से किम् अङ्ग को 'क' आदेश हुआ।

क टा   अब यहाँ 'क' की अङ्ग संज्ञा करके टाङसिङसामिनात्स्याः (७।१।१२) से अदन्त अङ्ग से उत्तर 'टा' को 'इन' आदेश करना है। पर यहाँ टा प्रत्यय की विधि तो 'किम्' शब्द से हुई है। सो उसी की अङ्ग संज्ञा होगी, 'क' की तो हो नहीं सकती। तब स्थानिवदादेशो० ने कहा कि 'स्थानिवत् हो जाये'। सो किम् अङ्ग का आदेश 'क' अङ्गवत् माना गया। तो टा को 'इन' आदेश पूर्ववत् हो गया। अनेकाल्० (१।१।५४)।

क इन   आद् गुणः (६।१।८४), अदेङ् गुणः (१।१।२) लगकर—

केन   बना॥

इसी प्रकार काम्यां कै:, यहाँ भी पूर्ववत् स्थानिवत् कार्य समझें। काम्यां की सिद्धि परि० १।१।२० के आम्यां के समान, तथा कै: की सिद्धि परि० १।१।५४ के पुरुषै: के समान जानें ॥

प्रकृत्य (अच्छी प्रकार करके)

(३) कृत् का आदेश कृत्वत्; (४) अव्यय का आदेश अव्ययवत् —

डुकृञ् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

प्र कृ धातो: (३।१।९१), समानकर्तृकयो: पूर्वकाले (३।४।२१)।

प्र कृ क्त्वा=त्वा कुगतिप्रादय: (२।२।१८) से 'कृत्वा', तथा 'प्र' का समास हो गया।

प्रकृत्वा समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् (७।१।३७) से 'क्त्वा' के स्थान में 'ल्यप्' आदेश हुआ। षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४८)।

प्र कृ ल्यप् =य अब ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (६।१।६९) से ह्रस्व 'कृ' को पित् कृत् परे रहते तुक् आगम पाया। पर यहाँ ल्यप् पित् तो है, पर कृत् नहीं है। क्योंकि धातु के अधिकार में ३।४।११७ तक कहे प्रत्यय ही कृदतिङ् (३।१।९३) से कृत्-संज्ञक होते हैं। सो 'क्त्वा' कृत् था, पर ल्यप् नहीं है। तब प्रकृत सूत्र से 'क्त्वा' कृत् का आदेश 'ल्यप्'स्थानिवत् होकर कृतवत् माना गया। तो तुक् आगम ह्रस्वस्य० (६।१।६९) से हो गया। आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)।

प्र कृ तुक् य पुन: पूर्ववत् स्थानिवत् से ल्यप् को कृत् मानकर कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा हो गई। सो पूर्ववत् सु आ गया।

प्रकृत्य सु अब यहाँ पुन: 'क्त्वा' अव्यय का आदेश अव्ययवत् स्थानिवदादेशो० से माना जाकर, 'ल्यप्' की अव्यय संज्ञा क्त्वातोसुन्कसुन: (१।१।३९) से मानी गयी। तो अव्ययादाप्सुप: (२।४।८२) से सु का लुक् होकर—

प्रकृत्य बना। इस प्रकार अव्यय तथा कृत् दोनों का यह उदाहरण है ॥

इसी प्रकार प्रहृत्य (प्रहार करके) की सिद्धि जानें ॥

दाधिकम् (दध्नि संस्कृतम्=दही में संस्कृत किया हुआ)

(५) तद्धित का आदेश तद्धितवत् —

दधि ङि पूर्ववत् सब होकर, समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२), दध्नष्ठक् (४।२।१७), संस्कृतं भक्षा: (४।२।१५)।

दधि ङि ठक् कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), सुपो धातुप्रातिपदि० (२।४।७१)।

दधि ठक्=ठ पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर ठस्येक (७।३।५०) से 'ठ' को 'इक' आदेश होकर—

दधि इक अब यहां किति च (७।२।११८) से कित् तद्धित परे रहते अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि पाई। पर यहां ठक् तो तद्धिताः (४।१।७६) से तद्धित था, 'इक' तो तद्धित नहीं है। तब स्थानिवदादेशो० से स्थानिवत् होकर 'इक' भी तद्धितवत् माना गया। सो वृद्धि हो गई।

दाधि इक यचि भम् (१।४।१८), भस्य (६।४।१२९), यस्येति च (६।४।१४८)।

दाध् इक दाधिक के 'इक' के तद्धितवत् होने से कृत्तद्धित० (१।२।४६) से दाधिक की प्रातिपदिक संज्ञा हुई। पूर्ववत् 'सु' आकर, अतोऽम् (७।१।२४) से सु को अम् हो गया।

दाधिक अम् अमि पूर्वः (६।१।१०३) लगकर—

दाधिकम् बना ॥

शालीयः, यहां भी छः के स्थान में हुआ 'ईय्' स्थानिवत् होकर तद्धित माना जाता है। सो कृत्तद्धित० (१।२।४६) से तद्धितान्त मानकर प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है। पूरी सिद्धि परि० १।१।१ में देखें ॥

अद्यतनम् (आज का)

अद्य सद्यःपरुत्परा० (५।३।२२), कृत्तद्धित० (१।२।४६), ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१), सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युटच्युलौ० (४।३।२३) से 'ट्यु' प्रत्यय तथा तुट् का आगम हुआ।

अद्य तुट् ट्यु पूर्ववत् अनुबन्ध लोप, तथा अङ्ग संज्ञा होकर—

अद्य त् यु युवोरनाकौ० (७।१।१) से यु को अन आदेश हुआ।

अद्य त् अन पूर्ववत् 'अन' को स्थानिवत् करके 'यु' के समान तद्धित माना गया, तो कृत्तद्धित० (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा हो गई। पूर्ववत् सु आकर, एवं सु को अम् होकर—

अद्यतनम् बन गया ॥

पुरुषाय (एक पुरुष के लिये)

(६) सुप् का आदेश सुप्वत्—

पुरुष पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

पुरुष ङे ङेर्यः (७।१।१३), षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४८)।

पुरुष य पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर सुपि च (७।३।१०२) से यञादि सुप् परे रहते दीर्घ प्राप्त हुआ। यहाँ ङे तो सुप् था, पर 'य' तो सुप् नहीं था। सो स्थानिवदादेशो० से स्थानिवत् होकर सुप् का आदेश सुप्-वत् माना गया। तब दीर्घ होकर—

पुरुषाय बन गया ॥

इसी प्रकार वृक्षाय (एक वृक्ष के लिये) की सिद्धि जानें ॥

अकुरुताम् (उन दोनों ने किया)

(७) तिङ् का आदेश तिङ्वत्—

डुकृञ् भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), अनद्यतने लङ् (३।२।१११):

कृ लङ् पूर्ववत् लङ् लकार के सारे सूत्र लगकर—

अट् कृ शप् तस् तनादिकृञ्भ्य उः (३।१।७९), से शप् का अपवाद 'उ' होकर—

अ कृ उ तस् तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (३।४।१०१) से तस् को ताम् हुआ।

अ कृ उ ताम् पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, सार्वधातुकार्धधा० (७।३।८४), उरण्रपरः (१।१।५०), अदेङ् गुणः (१।१।१)।

अकर् उ ताम् अब यहाँ अत उत्सार्वधातुके (६।४।११०) से सार्वधातुक परे रहते कर् के 'अ' को उकारादेश प्राप्त हुआ। पर यहाँ 'ताम्' के तिङ् या शित् न होने से सार्वधातुक संज्ञा नहीं है। तस् तो तिङ् होने से सार्वधातुक था। तब स्थानिवदादेशो० से 'ताम्' स्थानिवत् होकर तस् के समान ही तिङ्वत् माना गया। अतः सार्वधातुक संज्ञा होकर उकारादेश हो गया। सो—

अकुरुताम् बना ॥

ग्रामो वः स्वम् (ग्राम तुम्हारी सम्पत्ति है)

(८) पद का आदेश पदवत्—

ग्रामो युष्माकं स्वम् बहुवचनस्य वस्नसौ (८।१।२१)।

ग्रामो वस् स्वम् अब यहाँ ससजुषो रुः (८।२।६६) से पद के स् को रु पाया। पर वस् तो यहाँ सुबन्त न होने से पद है नहीं। युष्माकम् तो पद था, तब स्थानिवदादेशो० से वस् को स्थानिवत् होकर

पद के समान माना गया। अतः स को 'रु' तथा पूर्ववत् विसर्जनीय होकर—

ग्रामो वः स्वम् बना ॥

इसी प्रकार ग्रामो नः स्वम् (ग्राम हमारी मिल्कियत है) में भी अस्माकम् के स्थान में पूर्ववत् 'नस्' आदेश, तथा स्थानिवत् मानकर रुत्वादि कार्य हुये हैं ॥

(१) 'अलः विधिः'=अल् से परे विधि के उदाहरण—

अब यहाँ 'अलः विधिः'=अल् से परे विधि में कैसे स्थानिवत् नहीं होता, यह बताने के लिये द्यौः पन्थाः सः की सिद्धि दिखाते हैं। यद्यपि यह द्वितीयावृत्ति का विषय है, तथापि आगे अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (१।१।५६) सूत्र समझने के लिये यह समझना आवश्यक है। अतः इन को भी प्रदर्शित करते हैं ॥

(क) द्यौः (द्युलोक)

द्यौः की सिद्धि हम परि० १।१।५१ में दिखा चुके हैं। यहाँ दिव के वकार के स्थान में सु परे रहते दिव औत् (७।१।८४) से 'औ' आदेश होता है। अब यदि यह औकारादेश स्थानिवत् होकर 'व्' माना जाये, तो हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६) से हलन्त से उत्तर मानकर 'सु' का लोप होने लगेगा। तो द्यौः रूप न बनकर 'द्यौ' अनिष्ट रूप बनेगा। सो आगे 'अनल्विधौ' से स्थानिवत् का निषेध, 'हल्ङ्याब्भ्यः' में पञ्चमी विभक्ति होने के कारण अलः विधि=अल् से परे विधि मानकर हो गया। तब हलन्त से उत्तर सु न होने से 'सु' का लोप नहीं हुआ। और रुत्व विसर्जनीय होकर द्यौः रूप बना ॥

(ख) पन्थाः (एक मार्ग)

'अलः विधिः' का दूसरा उदाहरण—

पथिन् पूर्ववत् 'सु' विभक्ति आकर—

पथिन् सु पथिमथ्यृभुक्षामात् (७।१।८५), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से नकार के स्थान में आकारादेश हुआ।

पथि आ सु अब यदि यहाँ 'आ' स्थानिवत् होकर 'न' माना जावे, तो पूर्ववत् ही हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से सु का लोप होने लगेगा। पर यहाँ 'अलः विधिः' होने से स्थानिवत् का निषेध पूर्ववत् ही हो गया। और सु का लोप नहीं हुआ।

पथि आ सु सुडनपुंसकस्य (१।१।४२), इतोऽत् सर्वनामस्थाने (७।१।८६)।

पथ् अ आ सु थोन्थः (७।१।८७) से थ् को 'न्थ' आदेश होकर—

पन्थ् अ आ सु अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से दीर्घ होकर—

पन्थ् आ स् पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

पन्थाः बन गया ॥

(ग) सः (वह)

'अलः विधिः' का तृतीय उदाहरण—

तद् पूर्ववत् 'सु' आकर—

तद् सु त्यदादीनामः (७।२।१०२), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१।)

त अ सु अब यहाँ पूर्ववत् ही 'अ' को स्थानिवत् करके यदि 'द्' माना जावे, तो हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से 'सु' लोप होने लगे। पर यहाँ 'अलः विधिः' मानकर पूर्ववत् ही स्थानिवत् का निषेध हो गया। तब 'सु' का लोप नहीं हो सका।

त अ सु तदोः सः सावनन्त्ययोः (७।२।१०६) से तकार के स्थान में सकार।

स अ स् अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप, तथा पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

सः बना ॥

(२) अलः विधिः = अल् के स्थान में विधि का उदाहरण—

द्युकामः (दिवि कामो यस्य सः = द्युलोक में कामना है जिसकी)

दिव् ङि काम सु अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४), कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), सुपो धातुप्रातिपदि० (२।४।७१)।

दिव् काम दिव उत् (६।१।१२७), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से 'व' को 'उ' हुआ।

दि उ काम यहाँ यदि वकार के स्थान में हुआ 'उ' स्थानिवत् से 'व्' माना जाये, तो लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) से 'उ' का लोप पाता है। पर यहाँ 'व्योः' में षष्ठी विभक्ति होने से अलः विधिः = अल् के स्थान में विधि है। सो स्थानिवत् का निषेध अनल्विधौ से हो गया। तब उकार का लोप नहीं हुआ। और इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश होकर, पूर्ववत् सु आकर—

द्युकाम सु = स् रुत्व विसर्जनीय होकर—

द्युकामः बन गया ॥

(३) अलि विधिः=अल् को परे मानकर विधि का उदाहरण—

क इष्टः (कौन इष्ट है)

किम् पूर्ववत् सु आकर—

किम् सु किमः कः (७।२।१०३) से किम् को 'क' आदेश हुआ।

क सु पूर्ववत् स को रुत्व हो गया।

क रु इष्टः इष्टः की सिद्धि हम परि० १।१।४४ में दिखा आये हैं। यहाँ स्थानिवत् से इष्टः के 'इ' को 'य्' माना गया, तो हश् परे होने से हशि च (६।१।११०)) से 'रु' को 'उ' होने लगा। पर "हशि" में सप्तमी विभक्ति होने से यहाँ 'अलि विधि'=अल् को परे मानकर विधि है। अतः अनल्विधौ से स्थानिवत् का निषेध हो गया। सो 'रु' को 'उ' नहीं हुआ।

कर् इष्टः अब भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि (८।३।१७) से 'र्' को य् होकर—

कय् इष्टः लोपः शाकल्यस्य (८।३।१९) से य् का लोप होकर—

क इष्टः बना॥

(४) अला विधिः=अल् के कारण विधि का उदाहरण—

महोरस्केन (महत् उरो यस्य तेन=महान् है छाती जिसकी, उसके द्वारा)

महत् सु उरस् सु अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४), कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१)।

महत् उरस् उरः प्रभृतिभ्यः कप् (५।४।१५१) से समासान्त कप् प्रत्यय हुआ।

महत् उरस् कप् आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः (६।३।४४), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से त् का आकार होकर—

मह आ उरस् क अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७), आद् गुणः (६।१।८४)।

महोरसक पूर्ववत् स् को रुत्व विसर्जनीय होकर, पुनः सोऽपदादौ (८।३।३८) से विसर्जनीय के स्थान में स् हुआ। पूर्ववत् टा विभक्ति आकर—

महोरस्क टा पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, टाङसिङसामिनात्स्याः (७।१।१२) से टा के स्थान में 'इन' आदेश हुआ।

महोरस्क इन पुनः आद् गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर—

महोरस्केन बना यहाँ यदि विसर्जनीय के स्थान में सोऽपदादौ (८।३।३८) से

हुआ सकार स्थानिवत् होकर विसर्जनीय माना जावे, तो अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८।४।२) से 'न्' को 'ण्' पाता है। क्योंकि भाष्य-वचन से अयोगवाह (विसर्जनीयादि) भी प्रत्याहारों में आते हैं। सो अट् प्रत्याहार में विसर्जनीय के माने-जाने से णत्व पाया। पर यहाँ 'विसर्जनीय-अल्' का व्यवधान मानकर णत्वविधि है। अतः 'अला विधिः' होने से अनल्विधौ से स्थानिवत् का निषेध हो गया। अर्थात् 'स' को विसर्जनीय नहीं माना गया। सो णत्व भी नहीं हुआ, और इष्ट रूप—

महोरस्केन बन गया॥

इसी प्रकार व्यूढोरस्केन (चौड़ी है छाती जिसकी, उसके द्वारा) की सिद्धि भी जानें॥

यहाँ तक अल्विधि के चारों प्रकार के उदाहरण समाप्त हुए॥

—:o:—

परि० अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (१।१।५६)

(१) पटयति (पटुमाचष्टे=कुशल को कहता है)

पटु अर्थवदधातुर० (१।२।४५) से प्रातिपदिक संज्ञा होकर, पूर्ववत् द्वितीया का एकवचन अम् आकर, तत्करोति तदाचष्टे (वा० ३।१।२६) इस वार्त्तिक से णिच् प्रत्यय हुआ।

पटु अम् णिच् सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) से णिच्प्रत्ययान्त की धातु संज्ञा, तथा सुपो धातु० (२।४।७१) से अम् का लुक् होकर, णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य (वा० ६।४।१५५) इस वार्त्तिक से णि के परे रहते इष्ठन्वत् कार्य, अर्थात् जिस प्रकार इष्ठन् के परे रहते टेः (६।४।१५५) से टि भाग का लोप होता है, उसी प्रकार यहाँ हो गया।

पट् इ अब यहाँ अत उपधायाः (७।२।११६) से णित् 'इ' को निमित्त मानकर उपधा अकार 'प' के 'अ' को वृद्धि प्राप्त हुई। पर स्थानिवदादेशो० (१।१।५६) से उकार जो लुप्त हुआ था, उसके स्थानिवत् हो जाने से 'अकार' उपधा न होकर 'टकार' हुआ, तो वृद्धि न हो सकी। पश्चात् अनल्विधौ से अलः (६।१) विधिः होने के कारण स्थानिवत् का निषेध हो गया। तो पुनः अकार के उपधा होने से

वृद्धि प्राप्त होकर 'पाटयति' अनिष्ट रूप बनने लगा। तब अचः परस्मिन् पूर्वविधौ सूत्र ने कहा कि—'यहां परनिमित्तक (णिच् को निमित्त मानकर) अच् के स्थान में हुआ आदेश (उकार का लोप) है। तथा पूर्व को विधि (वृद्धि) करनी है, अतः यहां अनल्विधौ निषेध न लगकर स्थानिवत् हो जाये'। सो स्थानिवत् हो जाने से पूर्ववत् ही वृद्धि न हो सकी।

पटि] 'पटि' की धातु संज्ञा होने से पूर्ववत् सब सूत्र लगकर शप् तिप् आये।

पटि शप् तिप् सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से शप् को निमित्त मानकर गुण हुआ।

पटे अ ति एचोऽयवायावः (६।१।७५) लगकर—

पटयति बना॥

इसी प्रकार लघु शब्द से लघुमाचष्टे=लघयति (छोटों को कहता है) की सिद्धि जानें॥

(२) अवधीत् (उसने मारा)

हन् भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), लुङ् (३।२।११०)।

हन् लुङ् लुङि च (२।४।४३) से हन् को 'वध' आदेश हुआ।

वध लुङ् शेष सारे कार्य परि० १।१।१ के अपठीत् के समान होकर—

अ वध इ सिच् ई त् आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४) से सिच् की आर्धधातुक संज्ञा हुई। आर्धधातुके (२।४।४६), आर्द्धधातुक विषय में अतो लोपः (६।४।४८) से वध के अन्त्य 'अ' का लोप हो गया।

अ वध् इ स् ई त् अब यहाँ भी पूर्ववत् ही अतो हलादेर्लघोः (७।२।७) से 'वध्' के अकार को वृद्धि पाई। पर स्थानिवदादेशो० से अकार के स्थानिवत् हो जाने से हलन्त अङ्ग नहीं रहा, सो वृद्धि अप्राप्त हो गई। पुनः अल् की विधि होने से स्थानिवत् का निषेध अनल्विधौ से पाया। तब प्रकृत सूत्र ने परनिमित्तक अजादेश होने के कारण (आर्धधातुक को निमित्त मानकर अकारलोप आदेश हुआ था) पूर्वविधि (वृद्धि) करने में स्थानिवत् पुनः प्राप्त करा दिया। सो हलन्त अङ्ग न होने से वृद्धि न हो सकी। शेष परि० १।१।१ के अपठीत् के समान कार्य होकर—

अवधीत् बन गया॥

(३) बहुखट्वकः (बहुत सी खाटें हैं जिस स्थान में)

बह्व्यः खट्वाः यस्मिन् प्रदेशे—

बह्वी जस् खट्वा जस् — अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४), सुपो धातु० (२।४।७१), स्त्रियाः पुंवद्भाषित० (६।३।४२) से पुंवद्भाव हुआ।

बहुखट्वा — शेषाद्विभाषा (५।४।१५४), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से समासान्त कप् प्रत्यय हुआ।

बहुखट्वा कप् — आपोऽन्यतरस्याम् (७।४।१५) से आबन्त अङ्ग को ह्रस्व होकर—

बहुखट्व क — अब यहाँ बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि (६।२।१७४) से उत्तरपद का बहुत्व अभिधेय होने पर नञ्वत् स्वर प्राप्त हुआ। अर्थात् जिस प्रकार ह्रस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वम् (६।२।१७३) से ह्रस्वान्त उत्तरपद परे रहते अन्त्य से पूर्व को नञ् से उत्तर उदात्त कहा है, उसी प्रकार यहाँ भी 'खट्व' ह्रस्वान्त पद को उत्तर मान कर अन्त्य से पूर्व 'ख' के 'अ' को उदात्त प्राप्त हुआ। पर स्थानिवदादेशो०से ह्रस्व आदेश स्थानिवत् होकर दीर्घ ही माना गया। तब ह्रस्वान्त उत्तरपद न मिलने से अन्त्य से पूर्व उदात्त न हो सका। प्रत्युत कपि पूर्वम् (६।२।१७२) से कप् से पूर्व 'ट्व' के 'अ' को उदात्त प्राप्त हुआ। पुनः अल् की विधि होने से अनल्विधौ से स्थानिवत् का निषेध होकर, अन्त्य से पूर्व 'ख' के 'अ' को उदात्त पाया। तब अचः परस्मिन् पूर्वविधौ ने पुनः परनिमित्तक अजादेश (कप् को मानकर ह्रस्व हुआ था) को पूर्व की विधि ('ख' के अ को उदात्त करने में) स्थानिवत् कर दिया। तब बहोर्नञ्व० (६।२।१७४) से नञ्वत स्वर (अन्त्य से पूर्व को उदात्त) नहीं हुआ। और कपि पूर्वम् (६।२।१७२) से 'व' के 'अ' को उदात्त हो गया।

बहुखट्व क — अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (६।१।१५२) से अनुदात्त होकर, उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८।४।६५) से उदात्त से उत्तर स्वरित हो गया।

बहुखट्वकं		पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति एवं रुत्व विसर्जनीय होकर
बहुखट्वक:[1]		बना ॥

—:०:—

परि० न पदान्तद्विर्वचन० (१।१।५७)

कौ स्त: (कौन दो हैं)

(१) पदान्तविधि—

अस		भूवादयो० (१।३।१) आदि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

अस् शप् तस्	अदिप्रभृतिभ्य: शप: (२।४।७२), प्रत्ययस्य लुक्० (१।१।६०)।

अस् तस्		तिङ्शित् सार्व० (३।४।११३), सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से तस् को ङित्वत् होकर श्नसोरल्लोप: (६।४।१११) लगा।

स् तस्		पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

स्त:		बना ॥

'किम्' शब्द को 'औ' विभक्ति के परे रहते किम: क: (७।२।१०३) से 'क' आदेश होकर 'कौ' रूप बना है ॥

कौ स्त:		अब यहाँ यदि 'अस्' धातु के अकार का लोप स्थानिवत् हो जाये, तो एचोऽयवायाव: (६।१।७५) से 'कौ' के 'औ' को आवादेश प्राप्त हो जाये। सो 'कावस्त:' रूप बनेगा, जो कि इष्ट नहीं है। तब आगे अनल्विधौ से स्थानिवत् का निषेध अलि विधि मानकर हुआ। परन्तु इसके भी अपवाद सूत्र अच: परस्मिन्० (१।१।५६) सूत्र ने पुन: स्थानिवत् प्राप्त करा दिया, अत: फिर अनिष्ट रूप बनने लगा। तब न पदान्तद्विर्वचन० से यहाँ पदान्तविधि (सुप्तिङन्तं पदम् १।४।१४ से कौ की पद संज्ञा की थी, सो 'औ' पदान्त में था। अत: यहाँ पदान्त

---

१. विदित रहे कि अगला सूत्र न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वर० स्वरविधि में स्थानिवत् का निषेध करता है। पर वह निषेध 'बहुखट्वक:' में इसलिये नहीं होता कि वहाँ वचन है कि—"स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेशो न स्थानिवद् भवति" अर्थात् स्वर दीर्घ तथा यलोप विधियों में लोपरूपी अजादेश स्थानिवत् नहीं होता। अन्य अजादेश तो स्थानिवत् होंगे ही। सो यहाँ बहुखट्वक: में लोप: अजादेश नहीं है, अपितु ह्रस्व अजादेश है। अत: न पदान्तनिषेध० नहीं लगा ॥

विधि है) होने के कारण स्थानिवत् का निषेध हो गया। तो अच् परे न होने से आवादेश नहीं हुआ। अतः—

कौ स्तः ही रहा॥

इसी प्रकार यौ स्तः (जो दो हैं) में भी समझें। कानि सन्ति (कौन हैं), यानि सन्ति (जो हैं) में सन्ति के 'अ' का लोप पूर्ववत् हुआ है। यदि वह स्थानिवत् हो जाये, तो इको यणचि (६।१।७४) से कानि यानि के 'इ' को यणादेश होने लगे। प्रकृत सूत्र से पदान्तविधि में स्थानिवत् का निषेध हो जाने से यणादेश नहीं होता॥

दद्ध्यत्र

(२) द्विर्वचनविधि —

दधि अत्र इको यणचि (६।१।७४), संहितायाम् (६।१।७०)।

दध्यत्र यहाँ अनचि च (८।४।४६) से अनच् 'य्' परे रहते 'ध्' को द्वित्व पाया। पर स्थानिवदादेशो० से स्थानिवत् होकर 'य्' 'इ' माना गया, तो अनच् परे न होने से द्वित्व नहीं हुआ। पुनः अनल्विधौ से अलि विधि मानकर स्थानिवत् का निषेध हो गया, तब पुनः द्वित्व पाया। तब अचः परस्मिन्० से पुनः स्थानिवत् हो गया, और द्वित्व की प्राप्ति नहीं हुई। अन्त में न पदान्तद्विर्वचन० से द्विर्वचनविधि में स्थानिवत् का निषेध हो गया। सो द्वित्व होकर—

दध्ध्यत्र झलां जश् झशि (८।४।५२) से ध् को द् होकर—

दद्ध्यत्र बना॥

इसी प्रकार मद्ध्वत्र (शहद यहाँ) में भी जानें। सुधीभिरुपास्यः=सुद्ध्युपास्यः (विद्वानों के द्वारा उपासना के योग्य) में भी यही बात है॥

यायावरः (घुमक्कड़, खानाबदोश)

(३) वरे-विधि—

या भूवादयो० (१।३।१), धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् (३।१।२२), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

या यङ् सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२), सन्यङोः (६।१।९), एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१)।

या या यङ् पूर्वोऽभ्यास: (६।१।४), ह्रस्व: (७।४।५९)।

य या य दीर्घोऽकित: (७।४।८३) से अभ्यास को पुन: दीर्घ हुआ।

यायाय धातो: (३।१।९१), यश्च यङ: (३।२।१७६), प्रत्यय:, परश्च (३।१।१,२)।

यायाय वरच् आर्धधातुके (६।४।४६), अतो लोप: (६।४।४८)।

यायाय् वर लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) से 'य्' का लोप होकर—

याया वर हुआ। अब यहाँ यङ् का लुप्त 'अ' स्थानिवत् हो गया, तो आतो लोप इटि च (६।४।६४) से अजादि ङित् परे रहते 'या' के 'आ' का लोप प्राप्त हुआ। अनल्विधौ ने अलि विधि होने से स्थानिवत् निषेध की प्राप्ति कराई। पर पुन: अच: परस्मिन्० से परनिमित्तक अजादेश (वरच् को मानकर अतो लोप: से अकारलोप हुआ था) होने से पूर्व की विधि में स्थानिवत् प्राप्त करा दिया। अन्त में न पदान्तद्विर्वचन-वरे० से वरे विधि में स्थानिवत् का निषेध हो गया, तो आकारलोप नहीं हुआ। कृत्तद्धित० (१।२।४६) पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

यायावर: बना॥

यह उदाहरण 'यलोप-विधि' का भी हो सकता है। कण्डूति: उदाहरण के समान यहाँ घटालें॥

कुण्डूति: (खाज, खुजली)

(४) यलोपविधि—

कण्डूञ् गात्रविघर्षणे भूवादयो० (१।३।१), कण्ड्वादिभ्यो यक् (३।१।२७)।

कण्डू यक् सनाद्यन्ता धातव: (३।१।३२), धातो: (३।१।९१), क्तिक्तौ च संज्ञायाम् (३।३।१७४), प्रत्यय:, परश्च (३।१।१,२)।

कण्डय क्तिच् आर्धधातुकं० (३।४।११४), आर्धधातुके (६।४।४६), अतो लोप: (६।४।४८)।

कण्डूय्ति यहाँ पर यदि अकारलोप स्थानिवत् हो जावे, तो लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) से यकार लोप नहीं हो सकता। इष्ट यह है कि लोप हो जावे। तब अनल्विधौ से पुन: स्थानिवत् निषेध, एवं अच: परस्मिन्०

से स्थानिवत् प्राप्त होकर, अन्त में न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोप० से स्थानिवत् का निषेध हो गया। तो यकार लोप होकर—

कण्डूति कृतद्धित० (१।२।४६) सब पूर्ववत् होकर—

कण्डूति: बन गया॥

चिकीर्षक: (करने का इच्छुक)

(५) स्वर विधि—

डुकृञ् करणे आदिर्ञिटुडव:(१।३।५), हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोप:(१।३।९)।

कृ भूवादयो० (१।३।१), धातो: कर्मण: समानकर्त्तृकादिच्छायां वा (३।१।७), प्रत्यय: परश्च (३।१।१,२)।

कृ सन् आर्धधातुकं शेष: (३।४।११४), आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त हुआ। पर एकाच उपदेशे० (७।२।१०) से धातु के अनिट होने से निषेध हो गया। अब सार्वधातुकार्ध० (७।२।८४) से गुण प्राप्त हुआ। पर इको झल् (१।२।९) से झलादि सन् के कित्वत् हो जाने से क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया।

कृ स अज्झनगमां सनि (६।४।१६) से दीर्घ होकर—

कॄ स ॠत इद्धातो: (७।१।१००), उरण्रपर: (१।१।५०)।

किर् स सनाद्यन्ता० (३।१।३२), सन्यङो: (६।१।९), एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१)।

किर् किर् स पूर्वोऽभ्यास: (६।१।४), हलादि: शेष: (७।४।६०)।

कि किर् स कुहोश्चु: (७।४।६२), स्थानेऽन्तरतम: (१।१।४९)।

चि किर् स हलि च (८।२।७७), आदेशप्रत्यययो: (८।३।५९)।

चिकीर ष धातो: (३।१।९२), ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३), प्रत्यय:, परश्च (३। १।१,२) लगकर—

चिकीर्ष ण्वुल् पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, युवोरनाकौ (७।१।१)।

चिकीर्ष अक आर्धधातुके (६।४।४६), अतो लोप: (३।४।४८)।

चिकीर्ष् अक यहाँ 'ण्वुल्' के लित् होने से, लिति (६।१।१८७) से लित् प्रत्यय 'अक' के परे रहते, प्रत्यय से पूर्व 'की' के 'ई' को उदात्त पाया। परन्तु यदि अतो लोप: (६।४।४८) से किया हुआ अकारलोप स्थानिवत् माना जावे, तो 'अक' प्रत्यय से पूर्व ष के अ को उदात्त होगा

अतः आगे अल् की विधि होने के कारण अनल्विधौ से स्थानिवत् निषेध हो गया। तो 'की' के "ई" को उदात्त प्राप्त हुआ। पर पुनः अचः परस्मिन्० से परनिमित्तक अजादेश पूर्व की विधि में स्थानिवत माना गया। तब अन्त में न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वर० ने कहा कि स्वर विधि में स्थानिवत् न हो। सो पूर्ववत् 'की' के "ई" को उदात्त हो गया। अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२), उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८।४।६५)।

चिकीर्षक स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम् (१।२।३९) से 'क' के अ को एकश्रुति हुई। एवं पूर्ववत् 'सु' आकर विसर्जनीय होकर—

चिकीर्षकः बना॥

इसी प्रकार हृञ् हरणे धातु से जिहीर्षकः (हरण करने का इच्छुक) भी बनेगा।

शिण्ढि (विशेषित करो)

(६) सवर्ण विधि, अनुस्वारविधि—

शिष्लृ उपदेशेऽजनु० (१।३।२), तस्य लोप (१।३।९), भूवादयो० (१।३।१)।

शिष् लोट् च (३।३।१६२), प्रत्ययः परश्च (३।१।१,२)।

शिष् लोट् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, मध्यम पुरुष के एकवचन में सिप् आया।

शिष् सिप् रुधादिभ्यः श्नम् (३।१।७८), मिदचोऽन्त्यात्परः (१।१।४६)।

शि श्नम् ष् सि सेर्ह्यपिच्च (३।४।८७) से 'सि' को हि हुआ। तथा उसको अपित् भी माना गया।

शि न ष् हि अपित् होने से सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से 'हि' ङित्वत् माना गया। और श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) से ङित् सार्वधातुक परे रहते 'श्न' के अ का लोप हो गया।

शि न् ष् हि हुझल्भ्यो हेर्धिः (६।४।१०१) से 'हि' को 'धि' हुआ।

शि न् ष् धि ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से ष्टुत्व होकर—

शि न् ष् ढि झलां जश्झशि (८।४।५२), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९)।

शिनड् ढि झरो झरि सवर्णे (८।४।६४) से 'ड्' झर् का सवर्ण झर् ढ परे रहते लोप हो गया।

शिन्ढि अब यहाँ पर 'न्' को नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) से झल् परे रहते अनुस्वार पाया। पर यदि 'श्न' के 'अ' का लोप स्थानिवत्

हो जावे, तो झल् परे न होने से अनुस्वार नहीं हो सकता। तब पूर्ववत् ही अनल्विधौ से (अलि विधि होने से) स्थानिवत् निषेध। तथा अचः परस्मिन्० से प्राप्त होकर, अन्त में न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वार० से स्थानिवत् निषेध होने से अनुस्वार हो गया।

शिंढि अब पुनः इस अनुस्वार को अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८।४।५७) से यय् परे रहते परसवर्ण पाया। पर यदि वही 'इन' के 'अ' का लोप स्थानिवत् हो जावे, तो यय् प्रत्याहार परे नहीं मिलगा और परसवर्ण नहीं हो सकता। तब पूर्वोक्त क्रम से अनल्विधौ, तथा अचः परस्मिन्० लगकर अन्त में न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णा० से स्थानिवत् का निषेध हो गया। सो परसवर्ण होकर—

शिण्ढि बना॥

इसी प्रकार पिष्लृ सञ्चूर्णने धातु से पिण्ढि (पीसो) भी समझें। ये उदाहरण अनुस्वार एवं सवर्ण दोनों विधियों के हो सकते हैं, अतः दोनों ही दिखा दिये हैं।

शिषन्तिः (विशेषित करते हैं)

(७) अनुस्वारविधि—

शिष्लृ लट् प्रथम पुरुष बहुवचन में पूर्ववत् ही सब सूत्र लगकर—

शि श्नम् ष् झि पूर्ववत् ही श्नम् के अ का लोप हुआ। झोऽन्तः (७।१।३)।

शि न् ष् अन्ति यहाँ पर भी पूर्ववत् ही अकार लोप यदि स्थानिवत् हो जाये, तो नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) से झल् परे न होने से अनुस्वार नहीं प्राप्त होता। तब पुनः पूर्ववत् ही अनल्विधौ, अचः परस्मिन्० लगकर, अन्त में प्रकृत सूत्र से अनुस्वार विधि में स्थानिवत् का निषेध हो गया। सो अनुस्वार होकर—

शिंषन्ति बना॥

इसी प्रकार पिष्लृ धातु से पिंषन्ति (पीसते हैं) में भी जानें॥

प्रतिदीव्ना (प्रतिदिवन् के द्वारा)

(८) दीर्घविधि—

प्रतिदिवन् अर्थवदधातु० (१।२।४५) आदि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

प्रतिदिवन् टा　यचि भम् (१।४।१८), भस्य (६।४।१२६), अल्लोपोऽनः (६।४।१३४) से अन्नन्त भसंज्ञक प्रतिदिवन् के उपधा 'अ' का लोप हुआ।

प्रतिदिव्न् आ　अब यहाँ हलि च (८।२।७७) से वकार की उपधा इक् को हल् परे रहते दीर्घ होने लगा। पर अकारलोप के स्थानिवत् हो जाने से हल् परे नहीं मिला। सो दीर्घ प्राप्त न हो सका। पुनः अनल्विधौ से स्थानिवत् निषेध, तथा अचः परस्मिन्० से स्थानिवत् की प्राप्ति होकर, न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घ० से दीर्घ विधि में स्थानिवत का निषेध हो गया। सो हल् परे मिल जाने से दीर्घ होकर—

प्रतिदीव्न् आ　=प्रतिदीव्ना बना॥

इसी प्रकार चतुर्थी के 'ङे' विभक्ति में प्रतिदीव्ने की सिद्धि भी जानें॥

सग्धिः (समान भोजन)

(९) जश्विधि—

अद्　भूवादयो० (१।३।१), बहुलं छन्दसि (२।४।३९), षष्ठी स्थाने० (१।१।४८)।

घस्लृ　स्थानिवदादेशः० से घस्लृ स्थानिवत् माना गया, तो धातुवत् होने से धातु के अधिकार में विहित स्त्रियां क्तिन् (३।३।९४) से क्तिन् प्रत्यय हुआ।

घस्लृ क्तिन्　=घस् ति, घसिभसोर्हलि च (६।४।१००), अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा (१।१।६४) से उपधा का लोप होकर—

घ्स् ति　झलो झलि (८।२।२६) से सकार लोप हुआ॥

घ् ति　झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) लगकर—

घ् धि　अब यहाँ झलां जश्झशि (८।२।५२) से 'घ्' को जश्त्व प्राप्त है। पर घसिभसो० से किया हुआ अकारलोप यदि स्थानिवत् हो जाये, तो झश् परे न मिलने से जश्त्व नहीं हो सकता। तब पूर्ववत् ही अनल्विधौ, एवं अचः परस्मिन्० लगकर, न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वर-सवर्णानुस्वारदीर्घजश्० से स्थानिवत् का निषेध हो गया। तो झश् परे मिल जाने से जश्त्व होकर—

ग्धि　बना॥

पूर्ववत् सु आकर समाना चासौ ग्धि: ऐसा विग्रह करके—

समाना सु ग्धि सु पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च (२।१।५७) से समानाधिकरण तत्पुरुष समास हुआ। कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातु० (२।४।७१) से सुब्लुक्, तथा पुंवत्कर्मधारय० (६।३।४०) से समाना को पुंवद्भाव हुआ।

समानग्धि समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु (६।३।८२) से 'समान' को 'स' आदेश हुआ। पूर्ववत् सु आकर—

सग्धिः बन गया॥

बब्धाम्

भस भर्त्सनदीप्त्योः भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), लोट् च (३।३।१६२)।

भस् लोट् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

भस् शप् तस् जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२।४।७५), प्रत्ययस्य लुक्श्लु० (१।१।६०)।

भस् तस् लोटो लङ्वत् (३।४।८५) से लोट् को लङ् के समान कार्य होने से तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (३।४।१०१) से तस् को 'ताम्' हो गया।

भस् ताम् श्लौ (६।१।१०), एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१)।

भस् भस् ताम् पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), हलादिः शेषः (७।४।६०), अभ्यासे चर्च

ब भस् ताम् सार्वधातुकमपित् (१।२।४), घसिभसोर्हलि च (६।४।१००) से 'अ' लोप हुआ।

ब भस् ताम् झलो झलि (८।२।२६), झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) लगकर—

बभ् धाम् अब यहाँ भी पूर्ववत् ही झलां जश्झशि (८।४।५२) से जश्त्व पाया। पर अकारलोप स्थानिवत् हो जाने से कैसे हो? तब पूर्वोक्त क्रम से अनल्विधौ, अचः परस्मिन्० लगकर, न पदान्त० से जश्विधि में स्थानिवत् का निषेध हो गया। सो जश्त्व होकर—

बब्धाम् बना॥

जक्षतुः (उन दोनों ने खाया था)

(१०) चर्विधि—

अद् भूवादयो० (१।३।१), परोक्षे लिट् (३।२।११५)।

अद् लिट् लिट् च (३।४।११५), आर्धधातुके (२।४।३५), लिटयन्यतरस्याम् (२।४।४०) से लिट् परे रहते 'अद्' को घस्लृ आदेश हुआ।

घस्लृ लिट् स्थानिवदादेशो० से घस्लृ आदेश धातुवत् माना गया। पूर्ववत् ही लिट् के स्थान में 'तस्' होकर तस् को परस्मैपदानां० (३।४।८२) से अतुस् हो गया।

घस् अतुस् असंयोगाल्लिट् कित् (१।२।५) से लिट् कित्‌वत् हो गया। तो गमहन० (६।४।९८) से उपधा का लोप हुआ।

घ्स् अतुस् लिटि धातोरनभ्यासस्य (६।१।८), एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१), द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) से स्थानिवत् अतिदेश (इस सूत्र का विशेष व्याख्यान उस सूत्र पर ही देखें) होकर—

घस् घस् अतुस् पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), हलादिः शेषः (७।४।६०), कुहोश्चुः (७।४।६२)।

झ घ्स् अतुस् अभ्यासे चर्च (८।४।५३) से अभ्यास को जश् हुआ।

ज घ्स् अतुस् अब यहाँ खरि च (८।४।५४) से 'घ' को चर् प्राप्त हुआ। पर यदि गमहन० से हुआ अकारलोप स्थानिवत् हो जाये, तो खर् परे न होने से चर्त्व नहीं हो सकता। तब अनल्विधौ से स्थानिवत् निषेध, तथा अचः परस्मिन् से कित् निमित्तक लोप अजादेश चर् करने में (पूर्व विधि) में स्थानिवत् माना गया। अन्त में न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु से चर्विधि में स्थानिवत् का निषेध हो गया। तब चर्त्व होकर—

ज क्स् अतुस् शासिवसिघसीनां च (८।३।६०) से षत्व।

जक्ष् अतुस् तथा रुत्व विसर्जनीय होकर—

जक्षतुः बना॥

इसी प्रकार जक्षुः (उन सबने खाया) में भी जानें॥

अक्षन्

अद् पूर्ववत् ही लुङ् (३।२।११०) से लुङ् प्रत्यय आया।

अद् लुङ् आर्धधातुके (२।४।३५), लुङ्सनोर्घस्लृ (२।४।३७)।

घस्लृ लुङ् पूर्ववत् घस्लृ स्थानिवत् माना गया। लुङ् लकार के सब कार्य होकर—

अट् घस् च्लि झि झोऽन्तः (७।१।३) से 'झ्' को अन्तादेश हुआ।

अ घस् च्लि अन्ति इतश्च (३।४।१००), हलोऽनन्तराः० (१।१।७), संयोगान्त० (७।२।२३)।

अ घस् च्लि अन् मन्त्रे घसह्वरणश० (२।४।८०) से च्लि का लुक् हो गया।

अघस् अन् सार्वधातुकमपित् (१।२।४), गमहन० (६।४।९८) लगकर—

अघ्स् अन् अब पूर्ववत् ही यहाँ खरि च (८।४।५४) से चर्त्व पाया। पर अकारलोप के स्थानिवत् हो जाने से खर् परे न होने के कारण न हो सका। तब अनल्विधौ, अचः परस्मिन्० लगकर न पदान्तद्विर्वचन० सूत्र से स्थानिवत् निषेध हो गया। सो चर्त्व होकर—

अक्स् अन् शासिवसिघसीनां च (८।३।६०) लगकर—

अक् ष् अन् अक्षन् बना॥

—:o:—

परि० द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८)

पपतुः (उन दोनों ने रक्षा की)

पा पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

पा अतुस् असंयोगाल्लिट् कित् (१।२।५), आतो लोप इटि च (६।४।६४)।

प् अतुस् लिटि धातोरनभ्यासस्य (६।१।८), एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१) से धातु के प्रथम एकाच् को लिट् परे रहते द्वित्व पाया। पर 'पा' के 'आ' का लोप करने पर 'प्' तो हल् रह गया है। सो प्रथम एकाच् कैसे बने? यहाँ तो कोइ 'अच्' है नहीं। तब द्विर्वचनेऽचि ने कहा कि द्विर्वचन निमित्तक अजादि प्रत्यय के परे रहते द्विर्वचन करने में रूप का अतिदेश हो जाये। अर्थात् स्थानी (पा) का जैसा रूप था वैसा ही जाये। सो यहाँ द्विर्वचननिमित्तक अजादि प्रत्यय 'अतुस्' (लिट् परे मानकर द्वित्व करना है) परे था ही, अतः रूपातिदेश होकर स्थानी का रूप 'पा' द्वित्व करने में हो गया।

पा प् अतुस् पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), ह्रस्वः (७।४।५९) लगकर—

पपतुस् पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

पपतुः बना॥

इसी प्रकार 'उस्' परे रहते पपुः (उन सबने रक्षा की) की सिद्धि जानें॥

जग्मतु: (वे दोनों गये)

गम्लृ पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

गम् अतुस् गमहनजनखनघसां० (६।४।९८) से उपधा लोप हुआ।

ग्म् अतुस् लिटि धातो० (६।१।८), एकाचो द्वे० (६।१।१)। यहाँ पर भी पूर्ववत् ही अच् न होने से द्विर्वचन नहीं हो सकता था. तब द्विर्वचनेऽचि से रूपातिदेश होकर द्वित्व हो गया।

गम् ग्म् अतुस् पूर्ववत् अभ्यास कार्य, तथा कुहोश्चु: (७।४।६२)लगकर—

जग्मतुस् पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

जग्मतु: बना॥

इसी प्रकार जग्मु: (वे सब गये) की सिद्धि जानें॥

चक्रतु: (उन दोनों ने किया)

डुकृञ् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

कृ अतुस् लिट्च (३।४।११५), सार्वधा० (७।३।८४) से गुण प्राप्त हुआ। परन्तु असंयोगाल्लिट्कित् (१।२।५) से कित् होने से क्ङिति च (१।१।५) से गुणप्रतिषेध हुआ। तब इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश हुआ।

क्र् अतुस् यहाँ भी पूर्ववत् ही द्वित्व प्राप्त हुआ। पर 'अच्' न होने से द्विर्वचनेऽचि से रूपातिदेश होकर द्वित्व हुआ।

कृ क्र् अतुस् पूर्वोऽभ्यास: (६।४।१),उरत् (७।४।६६),उरण्रपर: (१।१।५०)।

कर् क्र् अतुस् हलादि: शेष: (७।४।६०), कुहोश्चु: (७।४।६२)।

चक्रतुस् पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

चक्रतु: बना॥

इसी प्रकार चक्रु: में भी जानें॥

निनय (मैं ले गया)

णीञ् पूर्ववत् ही सब सूत्र लगकर, तथा णो न: (६।१।६३) से नत्व, एवं अस्मद्युत्तम: (१।४।१०६) से उत्तम पुरुष का प्रत्यय आकर—

नी णल् =अ, णलुत्तमो वा (७।१।९१) से विकल्प से 'णल्' णित्वत् नहीं

	माना गया। सो जिस पक्ष में णित्वत् नहीं माना गया, उस पक्ष में अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि न होकर सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से गुण हुआ।
ने अ	एचोयवायावः (६।१।७५) लगकर—
नय् अ	पूर्ववत् ही यहाँ भी द्वित्व प्राप्त हुआ। सो यहाँ यदि 'नय्' को द्वित्व करें, तो 'नयन' अनिष्ट रूप बनेगा। अतः द्विर्वचनेऽचि से रूपातिदेश होकर द्वित्व हुआ।
ने नय् अ	पूर्वोऽभ्यासः, ह्रस्वः (७।४।५९) लगकर—
निनय)	बना॥

जिस पक्ष में णलुत्तमो वा (७।१।९१) से णित्वत् माना गया, उस पक्ष में अचो ञ्णिति (७।२।११५) से 'नी' अङ्ग को वृद्धि होकर नै अ=नाय् अ, रहा। पुनः द्विर्वचनेऽचि लगकर पूर्ववत् ही 'नै आय्' द्वित्व हुआ। पूर्ववत् ही सब सूत्र लगकर 'निनाय' बना॥

इसी प्रकार 'लूञ् छेदने' धातु से पूर्ववत् ही सारे सूत्र लगकर, तथा पक्ष में गुण होकर 'लो अ' रहा। द्विर्वचनेऽचि से रूपातिदेश होकर 'लू ल अ' रहा। ह्रस्वः (७।४।५९) से ह्रस्व, तथा पूर्ववत् सब कार्य होकर, लुलव (मैंने काटा) बना। वृद्धिपक्ष में 'लौ अ' रहा। द्विर्वचनेऽचि लगकर लू औ अ=लुलाव बना॥

आटिटत् (उसने भ्रमण करवाया)

अट	भूवादयो० (१।३।१), हेतुमति च (३।१।२६)।
अट् णिच्	अत उपधायाः (७।२।११६), वृद्धिरादैच (१।१।१)।
आट् इ	सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२), धातोः (३।१।९१), लुङ् (३।२।११०)।
आटि लुङ्	पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति होकर—
आटि तिप्	च्लि लुङि (३।१।४३), णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ् (३।१।४८)।
आटि चङ् तिप्	णेरनिटि (६।४।५१) से णि का लोप हो गया।
आट् चङ् तिप्	=आट् अ ति, इतश्च (३।४।१००) से इकार लोप होकर—
आट् अ त्	णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः (७।४।१) से उपधा ह्रस्वत्व हुआ।
अट् अ त्,	चङि (६।१।११), अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२॥) से अजादि के द्वितीय एकाच् 'ट्' को द्वित्व प्राप्त हुआ। पर यहाँ द्वितीय अक्षर

'ह्' में तो कोई अच् ही नहीं, सो कैसे द्वित्व हो ? तब द्विर्वचनेऽचि से रूपातिदेश होकर टि को द्वित्व हुआ ।

अटि ट् अत्	पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर आडजादीनाम् (६।४।७२) से आट् आगम । आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) से आदि में होकर—
आट् अ टि ट् अ त्	=आ अ टि ट् अ त्, आटश्च (६।१।८६) से वृद्धि एकादेश होकर—
आटिटत्	बन गया ।।

—:o:—

परि० अदर्शनं लोपः (१।१।५९)

शालीयः (शाला में होनेवाला)

'शालीयः' यहाँ पर यस्येति च (६।४।१४८) शाला शब्द के 'आ' का, तथा तस्य लोपः(१।३।९)से सुं के 'उँ' का लोप होने लगा । तो अदर्शनं लोपः ने बताया कि अदर्शन की लोप संज्ञा होती है । पूरी सिद्धि परि० १।१।१ में देखें ।।

गौधेरः (गोधायाः अपत्यम्, गोह का बच्चा)

गोधा	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'ङस्' आया ।
गोधाङस्	समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२), तस्यापत्यम् (४।१।९२), गोधाया ढ्रक् (४।१।१२९) ।
गोधा ङस् ढ्रक्	कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१) ।
गोधा ढ्रक्	पूर्ववत अङ्ग संज्ञा होकर आयनेयीनीयियः फढखछघां० (७।१।२) से 'ढ्' को 'एय्' आदेश हुआ ।
गोधा एय् र्	किति च (७।२।११८), यस्येति च (६।४।१४८) ।
गौध् एय् र्	लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) से 'य्' का लोप प्राप्त हुआ । तब अदर्शनं लोपः ने अदर्शन की लोप संज्ञा बताई ।
गौधेर	पूर्ववत् सु आकर—
गौधेरः	बन गया ।।

पचेरन् (वे सब पकायें)

डुप चष्	पूर्ववत् धातु संज्ञा, तथा इत्संज्ञा होकर—
पच्	विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् (३।३।१६१),

और लिङ: सीयुट् (३।४।१०२) से सीयुट् आगम हुआ।

पच् सीयुट् लिङ् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, आत्मनेपद का झ, तथा शप् आया।

पच् शप् सीयुट् झ लिङ: सलोपोऽनन्त्यस्य (७।२।७९) से सीयुट् के 'स्' का लोप हुआ।

पच अ ईय् झ, झस्य रन् (३।४।१०५) से 'झ' को 'रन्' आदेश हुआ।

पच ईय् रन् लोपो व्योर्वलि (६।१।६४), अदर्शनं लोप: लगकर—

पच ई रन् आद् गुण: (६।१।८४), अदेङ् गुण: (१।१।२) लगकर—

पचेरन् बना॥

जीरदानु: (जीने वाला)

जीव भूवादयो० (१।३।१), जीवेरदानुक् (उणा० २।२३) से 'रदानुक्' प्रत्यय हुआ।

जीव् रदानुक लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) से 'व्' का लोप हुआ, अदर्शनं लोप:।

जीरदानु कृत्तद्धित० (१।२।४६), पूर्ववत् सु आकर विसर्जनीय हो गया। तो—

जीरदानु: बना॥

आस्त्रेमाणम् (गति वा शोषण करनेवाले को)

आङ् स्रिवु भूवादयो० (१।३।१), अनुबन्ध लोप होकर—

आ स्रिव् सर्वधातुभ्यो मनिन् (उणा० ४।१४५), प्रत्यय:, परश्च (३।१।१,२) लगकर—

आ स्रिव् मनिन् पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६)।

आस्रेव् मन् लोपो व्योर्वलि (६।१।६४), अदर्शनं लोप:। पूर्ववत् 'अम्' विभक्ति आकर—

आस्रेमन् अम् सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (६।४।८) से दीर्घ हो गया।

आस्रेमान् अम् अट् कुप्वाङ्नुम्व्य० (८।४।२), लगकर—

आस्रेमाण् अम् = आस्रेमाणम् बना॥

—:०:—

परि० प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१।१।६०)

विशाखः (विशाखा नक्षत्र से युक्त काल में पैदा होनेवाला)

लुक् का उदाहरण—

विशाखायां जातः	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
विशाखा ङि	समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२); प्राग्दीव्यतोऽण् (४।१।८३) तत्र जातः (४।३।२५), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।
विशाखा ङि अण्	सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) लगकर—
विशाखा अण्	श्रविष्ठाफल्गुन्यनुराधास्वातितिष्यपुनर्वसुहस्तविशाखाषाढाबहुलाल्लुक् (४।३।३४) से अण् प्रत्यय का लुक् हो गया। तब लुक् कहते किसे हैं? यह प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः ने बताया।
विशाखा	यहाँ लुक् कहकर अदर्शन करने से लुक्तद्धितलुकि (१।२।४९) से स्त्री प्रत्यय "टाप्" का भी लुक् हो गया। प्रत्ययस्य लुक्०।
विशाखा	पूर्ववत् सु आकर विसर्जनीय होकर—
विशाखः	बना॥

स्तौति (स्तुति करता है)

ष्टुञ् स्तुतौ	भूवादयो० (१।३।१), धात्वादेः षः सः (६।१।६२) अनुबन्ध लोप होकर—
स्तु	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
स्तु शप् तिप्	अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२), प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः।
स्तु तिप्	=ति अब यहाँ लुक् कहकर प्रत्यय का अदर्शन किया गया है, अतः उतो वृद्धिर्लुकि हलि (७।३।८९) से हलादि पित् सार्वधातुक परे रहते, उकारान्त 'स्तु' अङ्ग को वृद्धि होकर—
स्तौति	बना॥

जुहोति (हवन करता)

श्लु का उदाहरण—

हु दानादनयोः	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
हु शप् तिप्	जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२।४।७५), प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः।

हु ति — यहाँ श्लु कहकर प्रत्यय का अदर्शन हुआ है, अतः श्लौ (६।१।१०) से द्वित्व हो गया।

हु हु ति — पूर्वोऽभ्यासः (७।४।६०) कुहोश्चुः (७।४।६२) ।

झु हु ति — अभ्यासे चर्च (८।४।५३) से जश्त्व, तथा पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर—

जु हु ति — सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४), अदेङ् गुणः (१।१।२) लगकर—

जुहोति — बना ॥

वरणाः (वरणानाम् अदूरभवो ग्रामः, वरण वृक्षों के समीप का ग्राम)

लुप् का उदाहरण—

वरण — पूर्ववत् सब होकर—

वरण आम् — समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२), प्राग्दीव्यतोऽण् (४।१।८३), अदूरभवश्च (४।२।६९) ।

वरण आम् अण् सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) ।

वरण अ — वरणादिभ्यश्च (४।२।८१) से प्रत्यय का लुप् विहित हुआ। तो प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः ने बताया कि प्रत्यय के अदर्शन की लुप् संज्ञा है। पुनः प्रत्ययलोपे० (१।१।६१) से प्रत्ययलक्षण वृद्धि न लुमताङ्गस्य (१।१।६२) के निषेध होने से नहीं हुई।

वरण — यहाँ लुप् हो जाने से लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने (१।२।५१) से युक्तवत् अर्थात् पूर्ववत् व्यक्ति वचन=लिङ्ग और सङ्ख्या प्राप्त हुये। सो यहाँ वरण शब्द यद्यपि अब एकत्ववाची है, परन्तु पहले बहुवचन वाला (विग्रह बहुवचन से ही किया था) था, अतः यहाँ बहुवचन का प्रत्यय 'जस्' आया।

वरण जस् — अस्, प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) पूर्ववत् ही सब होकर—

वरणाः — बना ॥

इसी प्रकार पञ्चालानां निवासो जनपदः=पञ्चालाः (पञ्चालों के रहने का देश) में तस्य निवासः (४।२।६८) से अण् हुआ है। उसका जनपदे लुप् (४।२।८०) से लुप् हुआ है। शेष सब पूर्ववत् ही है। लुप् कहकर अदर्शन करने के कारण यहाँ भी पञ्चाल देश के एक होते हुये भी पूर्ववत् ही बहुवचन का प्रत्यय 'जस्' हुआ है॥

—:०:—

परि० प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (१।१।५८)

अग्निचित् (जिसने अग्नि का चयन किया)

अग्नि अम् चिञ्	भूवादयो० (१।३।१) से चिञ् की धातु संज्ञा होने से धातोः (३।१।९१) लगा, तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (३।१।९२), अग्नौ चेः (३।२।९१), प्रत्यय, परश्च (३।१।१,२) से क्विप् प्रत्यय परे हुआ।
अग्नि अम् चि क्विप्	उपपदमतिङ् (२।२।१९), कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातु-प्राति० (२।४।७२)॥
अग्निचि व्	अपृक्त एकाल्प्रत्ययः, (१।१।४१), वेरपृक्तस्य (६।१।६५)।
अग्निचि	अब यहाँ ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (६।१।६९), से पित् कृत् प्रत्यय परे रहते तुक् आगम प्राप्त था। पर यहाँ क्विप् जो कि पित् तथा कृत् था, उसका तो लोप हो गया है। सो कृत् पित् परे न रहने से तुक् आगम कैसे हो? तब प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् ने कहा कि प्रत्यय के लोप हो जाने पर प्रत्ययलक्षण कार्य हो। अतः पहले जो प्रत्यय यहाँ था, उसको निमित्त मानकर तुक् आगम हो गया। आद्यन्तौ० (१।१।४५) लगकर—
अग्निचि तुक्	=त्, पूर्ववत् सु आकर—
अग्निचित् सु	=स्, हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुति० (६।१।६६) से सु का लोप होकर—
अग्निचित्	बना॥

इसी प्रकार सोम उपपद रहते 'षुञ् अभिषवे' धातु से सोमे सुञः (३।२।९०) से क्विप् प्रत्यय होकर पूर्ववत् ही सोमं सुतवान्=सोमसुत् (जिसने सोमरस को निचोड़ा) बना है। यहाँ धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से षुञ् के 'ष्' को 'स्' हो जाता है॥

अधोक् (उसने दुहा)

दुह प्रपूरणे	पूर्ववत् लङ् लकार में सब सूत्र लगकर--
अट् दुह् शप् तिप्	अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२), प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१।१।६०)।

अ दुह् ति	पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से अङ्ग की उपधा को गुण हुआ ।
अ दोह् ति	इतश्च (३।४।१००) से 'ति' के इ का लोप हुआ ।
अ दोह् त	हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६) लगकर—
अदोह्	यहाँ दादेर्धातोर्घः (८।२।३२) से 'ह्' को पदान्त में मानकर 'घ' करना है। परन्तु सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४) से सुप् या तिङ् अन्त में हो जिसके उसकी पद संज्ञा होती है। यहाँ तो 'तिप्' का लोप हो गया है, सो तिङ् अन्त में है नहीं, सो कैसे पद संज्ञा हो ? तब प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् से प्रत्ययलक्षण कार्य मानकर पद संज्ञा हो गई। और पदान्त में वर्त्तमान 'ह्' को 'घ्' हो गया।
अदोघ्	एकाचो बशो भष्झषन्तस्य स्ध्वोः (८।२।३७) लगकर—
अधोघ्	झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से जश्त्व।
अधोग्	वावसाने (८।४।५५) से चर्त्वं होकर—
अधोक्	बना ।।

—:०:—

परि० न लुमताङ्गस्य (१।१।६२)

लुक् का उदाहरण—

गर्गाः (गर्गस्य गोत्रापत्यानि बहूनि, गर्ग के बहुत से पौत्र)

गर्ग ङस्	समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२), तस्यापत्यम् (४।१।९२), गर्गादिभ्यो यञ् (४।१।१०५) से बहुत अपत्यार्थ को कहने में यञ् प्रत्यय हुआ।
गर्ग ङस् यञ्	सुपो धातुप्रातिपदि० (२।४।७१) लगकर—
गर्ग य	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'जस्' आया।
गर्ग य जस्	यञञोश्च (२।४।६४) से बहुत्व अर्थ में वर्त्तमान यञ् का लुक् हो गया।
गर्ग जस्	=अस् अब यहाँ 'यञ्' प्रत्यय का लुक् हो जाने पर प्रत्ययलोपे० से प्रत्ययलक्षण कार्य माना गया, तो ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६।१।१९१)

से आद्युदात्त, तथा तद्धितेष्वचा० (७।२।११७) से वृद्धि पाती है। सो यहाँ लुवाला अङ्ग (यञ् का लुक् कहकर अदर्शन हुआ था) होने से न लुमताङ्गस्य से प्रत्ययलक्षण कार्य का निषेध हो गया, वृद्धि एवं आद्युदात्त नहीं हुये।

गर्ग अस् प्रथमयोः पूर्व० (६।१।६८), तथा पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

गर्गाः बना॥

मृष्टः (वे दोनों शुद्ध करते हैं)

मृजूष् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

मृज् शप् तस् अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२), प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१।१।६०)।

मृज् तस् यहाँ शप् को निमित्त मानकर प्रत्ययलोपे० (१।१।६१), मृजेर्वृद्धिः (७।२।११४) से प्रत्ययलक्षण वृद्धि प्राप्त थी, पर न लुमताङ्गस्य से प्रत्ययलक्षण कार्य का निषेध होकर वृद्धि नहीं हुई। पुनः तस् के सार्वधातु० (१।२।४) से ङित्वत् होने से तस् को निमित्त मानकर भी वृद्धि नहीं होती।

मृज् तस् व्रश्चभ्रस्जसृज० (८।२।३६) से 'ज्' के स्थान में 'ष्' हुआ।

मृष् तस् ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से ष्टुत्व, तथा रुत्व विसर्जनीय होकर—

मृष्टः बना॥

श्लु का उदाहरण—जुहुतः यहाँ परि० (१।१।६०) के जुहोति के समान सब कार्य होकर 'जु हु तस्' रहा। यहाँ शप् का श्लु (लोप) होने पर भी शप् को निमित्त मानकर 'हु' को गुण (७।३।८४) पाता है। पर लुमत् के द्वारा लुप्त होने से (श्लु कहकर शप् का अदर्शन हुआ था) न लुमताङ्गस्य से प्रत्ययलक्षण कार्य का निषेध हो गया, सो गुण नहीं हो सका।

लुप् का उदाहरण—वरणाः की सिद्धि परि०(१।१।६०) में देखें। यहाँ प्रत्यय के लुप् होने पर प्रत्यय को लक्षण मानकर तद्धितेष्व० (७।२।११७) से वृद्धि प्राप्त थी, पर न लुमताङ्गस्य से प्रत्ययलक्षण कार्य का निषेध होने से नहीं हुई॥

—:०:—

परि० अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३)

अचोऽन्त्यादि टि के उदाहरण 'पचेते पचेथे' की सिद्धियाँ परि० १।१।११ में देखें। यहां आताम् का अन्तिम अच् 'ता' का आ है। सो 'आम्' भाग की टि संज्ञा होकर, उसको एत्व हुआ है। यही इस सूत्र का प्रयोजन है। 'अग्निचित्' में अन्तिम अच् 'इ' है। सो 'इत्' की, तथा सोमसुत् में 'उ' है, सो 'उत्' भाग को टि संज्ञा है। ये दोनों उदाहरण रूपोदाहरण मात्र हैं॥

—:०:—

परि० अलोऽन्त्यात् पूर्व० (१।१।६४)

भेत्ता (तोड़नेवाला)

भिदिर् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३) से तृच् प्रत्यय आया।

भिद् तृच् पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से लघु उपधा को गुण पाया। उपधा किसे कहते हैं, यह अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा ने बताया कि अन्तिम अल् से पूर्व की उपधा संज्ञा हो। ह्रस्वं लघु (१।४।१०) से ह्रस्व की लघु संज्ञा हुई।

भेद् तृ खरि च (८।४।५४) से चर्त्व हो गया।

भेत् तृ शेष सिद्धि परि० १।१।२ के चेता के समान जानें। इस प्रकार—

भेत्ता बना॥

इसी प्रकार छिदिर् धातु से छेत्ता (छेदन करनेवाला) की सिद्धि जानें॥

—:०:—

परि० तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६६)

आसीनः, द्वीपम् आदि की सिद्धि परि० १।१।५३ में देखें॥

'ओदनं प॒च॒ति॒' यहाँ पर तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से 'पचति' को निघात (सर्वानुदात्त) होता है। क्योंकि तिङ्ङतिङः सूत्र में 'अतिङः' पद में पञ्चमी विभक्ति है। सो तस्मादित्युत्तरस्य सूत्र के कारण 'अतिङः' पद का अर्थ "अतिङ् से उत्तर" ऐसा होगा। अतः यहाँ ओदनम् अतिङ् पद था, उससे उत्तर तिङ् (पचति) को निघात होकर ओदनं प॒च॒ति॒ (चावल पकाता है) बना॥

—:०:—

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः

परि० गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् (१।२।१)

सूत्र-प्रयोजन—'अध्यगीष्ट' यहाँ पर प्रकृत सूत्र से गाङ् से उत्तर सिच् को ङित्वत् होने से गाङ् को घुमास्थागापा० (६।४।६६) से ङित् परे मानकर ईकारादेश हो जाता है, यही ङित्वत् करने का प्रयोजन है ॥

अध्यगीष्ट (उसने अध्ययन किया)

अधि इङ् भूवादयो० (१।३।१) धातोः (३।१।९१) लुङ् (३।२।११०)

अधि इ लुङ् विभाषा लुङ्लृङोः (२।४।५०) से इङ् को गाङ् आदेश होकर,

अधि गाङ् ल् च्लि लुङि (३।१।४३) च्लेः सिच् (३।१।४४)

अधि गा सिच् ल्, गाङ् कुटादिभ्यो० से गाङ् से उत्तर सिच् ङित् माना गया, तो घुमास्थागापाजहातिसां हलि (६।४।६६) से हलादि एवं ङित् सिच् के परे रहते 'गा' को ईत्व प्राप्त हुआ, अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् के स्थान में होकर,

अधि गी स् ल् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'ल्' के स्थान में अनुदात्तङित० (१।३।१२) से आत्मनेपद का 'त' आया, यस्मात् प्रत्यय० (१।४।१३)

अधि गी स् त, अङ्गस्य (६।४।१) लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (६।४।७१) से अट् आगम प्राप्त हुआ, आद्यन्तौ० (१।१।४५)

अधि अट् गी स् त, इको यणचि (६।१।७४), आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९)

अध्यगीष्त ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से ष्टुत्व होकर,

अध्यगीष्ट बना ॥

इसी प्रकार 'आताम्' में अध्यगीषाताम् तथा 'झ' में आत्मनेपदेष्वनतः (७।१।५) से झ को 'अत्' आदेश होकर अध्यगीष् अत् अ=अध्यगीषत बनेगा ॥

कुटिता (कुटिलता करनेवाला) कुटितुम्, कुटितव्यम्, उत्पुटिता (अच्छी तरह मिलनेवाला) उत्पुटितुम् उत्पुटितव्यम् की सिद्धियाँ परि० १।१।४८ के समान ही हैं। यहाँ कुटादियों से उत्तर तृच् आदि प्रत्ययों को ङित् करने का यही प्रयोजन है कि पुगन्तलघूप० (७।३।८६) से प्राप्त गुण का क्क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो जावे ॥

—:o:—

परि० सार्वधातुकमपित् (१।२।४)

कुरुतः (वे दोनों करते हैं)

डुकृञ् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर,

कृ तस् तनादिकृञ्भ्य उः (३।१।७९) से शप् का अपवाद 'उ, होकर,

कृ उ तस् पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से 'कृ' अङ्ग को गुण हुआ, उरण्रपरः (१।१।५०)

कर् उ तस् अब पुनः तस् सार्वधातुक को मानकर सार्वधातुकार्ध० से 'उ' को गुण प्राप्त हुआ, उसका सार्वधातुकमपित् से 'तस्' के ङित्वत् होने से क्क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया, तथा तस् के ङित् होने से, ङित् सार्वधातुक के परे रहते अत उत् सार्वधातुके (६।४।११०) से 'क' के 'अ' को 'उ' हो गया।

कुरुतस् पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर,

कुरुतः बना।

इसी प्रकार पूर्ववत् "कृ उ झि" = कर् उ अन्ति—कुरु अन्ति इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश होकर कुर्वन्ति बन गया। झि को ङित् करने का प्रयोजन पूर्ववत् है॥ चिनुतः चिन्वन्ति की सिद्धि परि० १।१।५ में देखें॥

—:०:—

परि० असंयोगाल्लिट् कित् (१।२।५)

बिभिदतुः (उन दोनों ने तोड़ा)

भिदिर् विदारणे भूवादयो०, धातोः (३।१।९१) परोक्षे लिट् (३।२।११५)

भिदिर् लिट्=भिद् ल, पूर्ववत् सब सूत्र लगकर,

भिद् तस् परस्मैपदानां णलतुसुस्थ० (३।४।८२)

भिद् अतुस् पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८५) से अतुस् आर्द्धधातुक को निमित्त मानकर गुण प्राप्त हुआ, पर प्रकृत सूत्र से अतुस् के कित्वत् होने से क्क्ङिति च (१।१।५) से गुण निषेध हो गया,

भिद् अतुस् लिटि धातोरन० (६।१।८) एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१)

भिद् अतुस् अतुस्, पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४) हलादिः शेषः (७।४।६०)

भि भिद् अतुस् अभ्यासे चर्च (७।४।५३) तथा पूर्ववत् विसर्जनीय होकर,

बिभिदतुः　बना ॥

इसी प्रकार छिदिर् धातु से पूर्ववत् चिच्छिदतुः (उन दोनों ने काटा) बनेगा। यहाँ केवल 'चि छिद् अतुस्' इस अवस्था में छे च (६।१।७१) के छकार परे रहते तुक् आगम होकर, 'चि तुक् छिद्र अतुस्=चित् छिद् अतुस्' रहा, स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) से श्चुत्व होकर, चिच्छिदतुः बनता है। बहुवचन में झि को ३।४। ८२ से 'उस्' होकर बिभिदुः चिच्छिदुः पूर्ववत् बनेगा ॥

ईजतुः (उन दोनों ने यज्ञ किया)

यज　पूर्ववत् लिट् लकार में सब सूत्र लगकर,

यज् अतुस्　अब असंयोगाल्लिट कित् से अतुस् के कित् होने से कित् परे रहते वचिस्वपियजा० (६।१।१५) से 'यज्' को सम्प्रसारण हो गया। इग्यणः सम्प्रसारणम् (१।१।४४)

इ अ ज् अतुस्, सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४) तथा पूर्ववत् द्वित्व होकर,

इज् इज् अतुस्=इ इज् अतुस्, अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७)

ईजतुस्　पूर्ववत् विसर्जनीय होकर,

ईजतुः　बना ॥

इसी प्रकार 'झि' में ईजुः की सिद्धि भी जानें ॥

—:०:—

परि० इन्धिभवतिभ्यां च (१।२।६)

ईधे (वह प्रकाशित हुआ)

ञिइन्धी दीप्तौ, लिट् लकार में पूर्ववत् सब सूत्र लगकर अनुदात्तङित० (१।३।१२) से आत्मनेपद होकर, 'त' आया,

इन्ध् त　लिटस्तझयोरेशिरेच् (३।४।८१) अनेकाल्शित्० (१।१।४८)

इन्ध् एश्=ए, अब इन्धिभवतिभ्यां च से 'एश्' के कित्वत् होने से, अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति (६।४।२४) से न का लोप हो गया,

इध् ए　पूर्ववत् द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होकर,

इ इध् ए　अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७)

ईधे　बना ॥

इसी प्रकार सम् ईधे=समीधे भी जानें ॥

बभूव (वह था)

भू पूर्ववत् लिट् लकार में सब सूत्र लगकर—

भू णल्=अ, यहाँ णल् के णित् होने से अचो ञ्णिति (७।२।११५) से भू अंग को वृद्धि प्राप्त हुई, पर इन्धिभवतिभ्यां च से णल् के कित्वत् होने से क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया।

भू अ भुवो वुग्लुङ्लिटोः (६।४।८८) आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)

भू वुक् अ पूर्ववत् द्वित्व होकर–

भू भूव् अ ह्रस्वः (७।४।५९) अभ्यासे चर्च (८।४।५३)

बुभूव भवतेरः (७।४।७३) से भू धातु के अभ्यास को 'अ' होकर—

बभूव बन गया॥

—:०:—

परि मृडमृदगुध० (१।२।७)

मृडित्वा (आनन्द देकर)

मृड सुखने भूवादयो० धातोः (३।१।९१) समानकर्तृक० (३।४।२१)

मृड् क्त्वा=त्वा, आर्धधातुकं० (३।४।११४), आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५)

मृड् इट् त्वा, न क्त्वा सेट् (१।२।१८) से सेट् क्त्वा कित्वत् नहीं माना गया, तब पुगन्तलघूपध० (७।३।८६) से मृड् अंग को गुण प्राप्त हुआ, पर मृडमृद० सूत्र से पुनः क्त्वा को कित्वत् विधान करने से क्ङिति च से गुण का निषेध हो गया, यही कित् करने का प्रयोजन है। पूर्ववत् सु आकर, क्त्वातोसुन्कसुनः (१।१।३९) से अव्यय संज्ञा होकर

मृडित्वा सु अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से लुक् हो गया।

मृडित्वा बना॥

इसी प्रकार मृद धातु से मृदित्वा (पीस कर) गुध से गुधित्वा (रुष्ट होकर) कुष से कुषित्वा (खींच कर) क्लिश् से क्लिशित्वा (क्लेश देकर) की सिद्धियाँ भी जानें॥ क्लिशित्वा में इट् आगम क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः (७।२।५०) से होगा। शेष में पूर्ववत् है। गुध, कुष, क्लिश से उत्तर क्त्वा को रलो व्युपधाद्० (१।२।२६) से विकल्प से कित्वत् प्राप्त था, इस सूत्र से नित्य हीं कित्वत् होने से पूर्ववत् गुण निषेध हो गया॥

उदित्वा (बोलकर)

वद　　पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

वद् इट् त्वा　पूर्ववत् ही प्रकृत सूत्र से कित्वत् होने से वचिस्वपियजादीनां किति (६।१।१५) से सम्प्रसारण हुआ,

उ अ द् इ त्वा सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४)

उदित्वा सु　पूर्ववत् ही सु का लुक् होकर

उदित्वा　　बना ॥

वस् धातु को भी 'क्त्वा' के कित् होने से पूर्ववत् सम्प्रसारण होकर 'उस् इ त्वा' रहा। शासिवसिघसीनां च (८।३।६०) से 'स्' को 'ष्' होकर उषित्वा (रह कर) बन गया ॥

—:०:—

परि० रुदविदमुषग्रहि० (१।२।८)

क्त्वा प्रत्ययान्त रुदित्वा (रोकर) विदित्वा (जान कर) मुषित्वा (चुरा कर) की सिद्धि पूर्ववत् ही जानें। ७।३।८६ से प्राप्त गुण का निषेध करना ही कित् करने का प्रयोजन है।

ग्रह से उत्तर क्त्वा को कित् करने से ग्रहिज्यावयिव्यधि० (६।१।१६) से सम्प्रसारण होकर 'गृह् इट् त्वा' रहा। ग्रहोऽलिटि दीर्घः (७।२।३७) से 'इट्' को दीर्घ होकर गृहीत्वा (ग्रहण करके) बन गया ॥

स्वप् तथा प्रच्छ से उत्तर भी क्त्वा के कित् होने से वचिस्वपियजा० (६।१।१५,१६) से सम्प्रसारण होकर सुप्त्वा (सो करके) पृष्ट्वा (पूछ कर) बनता है। एकाच उपदेशे० (७।२।१०) से यहाँ इट् निषेध हो जाता है। पृष्ट्वा यहाँ इतना विशेष है कि तुक् सम्प्रसारणादि सब कार्य होकर, 'पृच्छ् त्वा' इस अवस्था में च्छ्वोः शूड० (६।४।१७) से 'च्छ्' को 'श्' तथा व्रश्चभ्रस्जसृजमृ० (८।२।३६) से 'श्', को 'ष्' होकर, 'पृष् त्वा' बना। ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से 'त्' को 'ट्' होकर पृष्ट्वा बन गया ॥

रुरुदिषति (वह रोना चाहता है)

रुविर्　　भूवादयो० (१।३।१) धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा (३।१।७) प्रत्ययः, परश्च, से इच्छा अर्थ में 'सन्' प्रत्यय होकर

रुद् सन्　आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४), आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५) आद्य-

क्ङिति (१।१।४५) पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर—

रुद् इट् स पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से गुण प्राप्त हुआ, पर रुदविदमुष० से सन् को कित्वत् होने से क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया। सनाद्यन्ता धातव (३।१।३२) से 'रुदिस' पूरे समुदाय की पुनः धातुः संज्ञा होकर, सन्यङोः (६।१।९) एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१) से सन्नन्त शब्द का जो प्रथम एकाच् समुदाय 'रुद्' उसे द्वित्व हुआ।

रुद् रुद् इ स पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४) हलादि शेषः (७।४।६०) पूर्ववत् शप्, तिप् हुये।

रुरुदिस शप् तिप् आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से षत्व होकर—

रुरुदिष अ ति अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप होकर—

रुरुदिषति बना॥

इसी प्रकार विविदिषति (जानने की इच्छा करता है) मुमुषिषति (चोरी करना चाहता है) की सिद्धि भी जानें। कित् होने से गुण निषेध हो जावे यही प्रयोजन है॥

जिघृक्षति (ग्रहण करना चाहता है)

ग्रह पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

ग्रह सन् यहाँ आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त हुआ उसका सनि ग्रहगुहोश्च से सन परे रहते निषेध होकर—

ग्रह् सन् अब रुदविदमुषग्रहि० से सन् के कित्वत् होने से ग्रहिज्यावयिव्यधि० (६।१।१६) से सम्प्रसारण हो गया।

ग् ऋ अ ह् स, सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०५) से पूर्वरूप तथा पूर्ववत् धातु संज्ञा एवं द्वित्व होकर—

गृह् गृह् स, उरत् (७।४।६६) उरण्रपरः (१।१।५०)

गर् ह् गृह् स, कुहोश्चुः (७।४।६२) हलादिः शेषः (७।४।६०)

ज गृह स सन्यतः (८।४।७९) से अभ्यास को इत्व होकर—

जिगृह् स हो ढः (८।२।३१) से ह् को 'ढ्' हो गया।

जिगृढ् स एकाचो बशो भष् झषन्तस्य० (८।२।३७) से ग् को घ्

जिघृढ् स षढोः कः सि (८।२।४१) से ढ् को 'क्' होकर—

जिघृक् स आदेशप्रत्यययो: (८।३।५९) पूर्ववत् शप् तिप् आकर—
जिघृक्षति बन गया ।

स्वप् धातु से इसी प्रकार सुषुप्सति तथा प्रछ् से पिपृच्छिषति बनेगा । कित् करने से ६।१।१५,१६ से सम्प्रसारण हो जाये, यही प्रयोजन है ॥ पिपृच्छिषति में इट् आगम किरश्च पञ्चभ्य: (७।२।७५) से होता है, तथा छे च (६।१।७१) से तुक् आगम होकर पि पृ तुक् छ् इट् स अ ति=स्तो: श्चुना श्चु: (८।४।३९) से श्चुत्व होकर पिपृच्छिषति बनता है ॥

—:०:—

परि० इको झल् (१।२।९)

चिचीषति (चुनना चाहता है)

चिञ् पूर्ववत् सन् प्रत्यय आकर—
चि सन् एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७।२।१०) से इट् का निषेध हुआ, अब सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से चि अंग को गुण प्राप्त हुआ,तो इको झल् से झलादि सन् के कित्वत् होने से क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया ।
चि स अज्झनगमां सनि (६।४।१६) से चि के इ को दीर्घ हुआ ।
ची स पूर्ववत् द्वित्व होकर, पूर्वोऽभ्यास: (६।१।४), ह्रस्व: (७।४।५९)
चि ची स पूर्ववत् धातु संज्ञा होकर शप्, तिप् आकर—
चिचीस शप् तिप्=चिचीषति, बना ॥

पक्ष में विभाषा चे: (७।३।५८) से कुत्व होकर चिकीषति भी बनता है ॥

तुष्टूषति (स्तुति करना चाहता है)

ष्टुञ् पूर्ववत् सब होकर, तथा धात्वादे: ष: स: (६।१।६२) ।
स्तु स पूर्ववत् ही कित् होने से गुण निषेध एवं दीर्घ तथा द्वित्वादि सब हो गया ।
स्तू स्तू स अब यहाँ हलादि: शेष: का अपवाद सूत्र शर्पूर्वा: खय: (७।४।६१) लगकर शर् प्रत्याहार का (स् का) लोप होकर खय् शेष रह गया ।

—:०:—

तु स्तू स आदेशप्रत्यययो: (८।३।५९) से सन् के 'स' को षत्व होकर

तुस्तूष पूर्ववत् शप् तिप् सब होकर, स्तौतिण्योरेव षण्य० (८।३।६१) से षत्व होकर—

तुष्तूष शप् तिप्=तुष्तूष अति, ष्टुना ष्टु: (८।४।४०) से ष्टुत्व होकर—

तुष्टूषति बना ॥

परि० १।१।५७ में चिकीर्षक:, जिहीर्षक: की सिद्धि की है, ठीक उसी प्रकार 'चिकीर्ष' 'जिहीर्ष' इतने तक सिद्धि करके आगे 'चिकीर्ष' 'जिहीर्ष' की सनाद्यन्ता० (३।१।३२) से नई धातु संज्ञा करके शप्, तिप् लगकर चिकीर्षति (करना चाहता है) जिहीर्षति (हरण करना चाहता है) बन जायेगा ॥

—:०:—

परि० हलन्ताच्च (१।२।१०)

बिभित्सति (तोड़ना चाहता है)

भिदिर् पूर्ववत् सन् आकर, एवं एकाच उप० (७।२।१०) से इट् निषेध होकर—

भिद् सन् पुगन्तलघू० (७।३।८६) से भिद् अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ पर भि के 'इ' के समीप यहाँ द् हल् है, उससे उत्तर झलादि सन् (जिसको इट् आगम न हो) है, सो हलन्ताच्च से कित्वत् होकर क्ङिति च से निषेध हो गया। पूर्ववत् द्वित्व होकर—

भिद् भिद् सन्=भि भिद् स, अभ्यासे चर्च (८।४।५३) से भ् को ब् तथा खरि च (८।४।५४) से द् को त् एवं पूर्ववत् शप् तिप् होकर—

बिभित् स शप् तिप्=बिभित्सति, बन गया ॥

इसी प्रकार बुभुत्सते (जानने की इच्छा करता है) यहाँ बुध अवगमने (दिवा० आ०) धातु से पूर्ववत् ही सन् के परे रहते इट् निषेध, एवं हलन्ताच्च से कित्वत् होकर गुण निषेध, तथा द्वित्वादि होकर, बुध् बुध् स=बुबुध् स रहा। एकाचो बशो भष्० (८।२।३७) से 'ब्' को 'भ्' तथा आत्मनेपद का 'त' आकर, बुभुत्स शप् त रहा, टित० आत्मनेप० (३।४।७९) लगकर बुभुत्सते बन गया ॥

—:०:—

परि० लिङ्सिचावा० (१।२।११)

भित्सीष्ट (वह फोड़े)

भिदिर्　भूवादयो० धातोः (३।१।६१), आशिषि लिङ्लोटौ (३।३।१७३)

भिद् लिङ्　लिङः सीयुट् (३।४।१०२) आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)

भिद् सीयुट् ल् पूर्ववत् स्वरितञितः (१।३।७२) आदि सब सूत्र लगकर, आत्मनेपद का 'त' आया।

भिद् सीय् त, सुट् तिथोः (३।४।१०७) आद्यन्तौ टकितौ।

भिद् सीय् सुट् त, लिङाशिषि (३।४।११६) से लिङ् की आर्धधातुक संज्ञा होकर, आर्धधातुक परे रहते पुगन्तलघू० (७।३।८६) से भिद् अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ, पर लिङ्सिचावा० से लिङ् को कित्वत् होकर, क्क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया।

भिद् सीय् स् त लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९)

भिद् सी ष् त, ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) खरि च (८।४।५४) से—

भित्सीष्ट　बना॥

इसी प्रकार बुध धातु से 'बुध् सी ष् ट'=बुध् सीष्ट=एकाचो बशो भष० (८।२।३७) से 'ब्' को 'भ्' होकर भुत्सीष्ट (वह जाने) बन गया॥

अभित्त (उसने फोड़ा)

भिदिर्　पूर्ववत् लुङ् लकार में परि० १।२।१ के अध्यगीष्ट के समान सब होकर—

अ भिद् सिच् त, पूर्ववत् गुण प्राप्त होकर प्रकृत सूत्र से कित्वत् होने से निषेध हो गया। झलो झलि (८।२।२६) से सिच् के 'स्' का लोप होकर—

अ भिद् त　खरि च (८।४।५४) से 'द्' को 'त्' होकर—

अभित त=अभित्त, बन गया॥

इसी प्रकार बुध धातु से अबुद्ध (उसने जाना) की सिद्धि जानें। अ बुध् सिच् त=अबुध् त, यहाँ झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) से 'त' को 'ध' होकर, अबुध् ध रहा। झलां जश् झशि (८।४।५२) से 'ध्' को 'द्' होकर अबुद्ध बन गया॥

—:०:—

परि० वा गमः (१।२।१३)

संगसीष्ट (अच्छी प्रकार संगत होवे)

गम्लृ पूर्ववत् आशीर्लिङ् में भित्सीष्ट के समान सब होकर —

सम् गम् सीयुट् लिङ् समो गम्यृच्छिभ्याम् (१।३।२९) से आत्मनेपद तथा पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

सम् गम् सीय् सुट् त, प्रकृत सूत्र से लिङ् के कित् होने से अनुदात्तोपदेशवन० (६। ४।३७) से गम् के अनुनासिक का लोप होकर—

सम् ग सीष्ट मोऽनुस्वारः (८।३।२३) से सम् के मकार का अनुस्वार होकर—

संगसीष्ट बना ॥

जिस पक्ष में कित्वत् नहीं हुआ, तब अनुनासिक का लोप भी नहीं हुआ, सो मकार को नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) से अनुस्वार होकर 'संगसीष्ट' बन गया ॥

इसी प्रकार लुङ् लकार में भी "सम् अट् गम् सिच् त" पूर्ववत् होकर, कित् होने से अनुनासिक लोप तथा ह्रस्वादङ्गात् (८।२।२७) से सिच् के स् का लोप होकर समगत (वह अच्छी प्रकार मिला) बन गया। जब पक्ष में कित् नहीं होता तो अनुनासिक लोप तथा (ह्रस्वान्त अङ्ग से उत्तर सिच् के न होने से) सिच् लोप भी न होकर समगंस्त बनता है ॥

—:०:—

परि० स्थाघ्वोरिच्च (१।२।१७)

उपास्थित (वह उपस्थित हुआ)

ष्ठा गतिनिवृत्तौ, भूवादयो धातवः (१।३।१) धात्वादेः षः सः (६।१।६२) ।

स्था पूर्ववत् लुङ् लकार में सब सूत्र लगकर—

उप स्था सिच् लुङ्, पूर्ववत् सब सूत्र लगकर तथा अकर्मकाच्च (१।३।२६) से आत्मनेपद का 'त' आकर—

उप अ स्था स् त अब स्थाघ्वोरिच्च से स्था को इकारादेश प्राप्त हुआ, जो कि अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्तिम अल् 'आ' को

उप अ स्थि स् त हुआ, तथा सिच् के कित्वत् होने से, सार्वधातुकार्ध० (७।३। ८४) से 'स्थि' के 'इ' को प्राप्त गुण का क्क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया। ह्रस्वादङ्गात् (८।२।२७), अकः सवर्णे दीर्घः (६। १।९७) लगकर–

उपास्थित　　बना ॥

इसी प्रकार आताम् में उपास्थिषाताम् तथा 'झ' में उपास्थिषत की सिद्धि जानें ॥

अदित (उसने दिया)

डुदाञ्　　लुङ् लकार में पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

दा सिच् लुङ्, स्वरितञितः कर्त्रं० (१।३।७२) से आत्मनेपद होकर—

अ दा स् त　　दाधाघ्वदाप् (१।१।१९) से 'दा' की घु संज्ञा होकर पूर्ववत् स्थाघ्वोरिच्च से इकारादेश तथा कित्वत् हो गया ।

अ दि स् त　　कित् होने से पूर्ववत् गुण निषेध हो गया । ह्रस्वादङ्गात् (८।२।२७) से सिच् के सकार का लोप होकर—

अदित　　बन गया ।

इसी प्रकार डुधाञ् धातु से अधित (उसने धारण किया) की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० ऊकालोऽज्झ्रस्व० (१।२।२७)

दधिच्छत्रम्

दधिच्छत्रम् यहाँ दधि का 'इ' एकमात्रिक=उकाल वाला है, सो प्रकृत सूत्र से ह्रस्व संज्ञा होने से 'छत्रम्' परे रहते छे च (६।१।७१) से ह्रस्व को तुक् का आगम होकर 'दधि तुक् छत्रम्' रहा । स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) से श्चुत्व होकर तुक् के 'त्' को 'च्' हो गया, तब दधिच्छत्रम् बन गया । मधुच्छत्रम् में भी इसी प्रकार मधु के 'उ' की ह्रस्व संज्ञा होने से तुक् आगम हो गया है ॥

कुमारी

कुमारी　　पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, सु आया ।

कुमारी सु　　यहाँ प्रकृत सूत्र से कुमारी के 'ई' की दीर्घ संज्ञा होकर हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६) से दीर्घ से उत्तर सु का लोप हो गया है ।

कुमारी　　बना ॥

इसी प्रकार गौरी में भी जानें ॥

देवदत्त३अत्र न्वसि (देवदत्त ! क्या तुम यहाँ हो)

देवदत्त३अत्र न्वसि यहाँ देवदत्त ३ में अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः (८।२।

१०५) से प्लुत होने लगा तो प्रकृत सूत्र ने बताया कि त्रिमात्रिक की प्लुत संज्ञा होती है। तत्पश्चात् देवदत्त ३ के आगे जो सम्बोधने च (२।३।४७) से 'सु' आया, उसे ससजुषो रुः (८।२।६६) से रु हो गया, पुनः 'रु' को भोभगोअघोअपू० (८।३।१७) से 'य्' होकर उस य् का लोपः शाकल्यस्य (८।३।१९) से लोप हो गया, तो देवदत्त ३ अत्र न्वसि बन गया ॥

—:o:—

परि० उच्चैरुदात्तः (१।२।२९)

औपगव की सिद्धि परि० १।१।२० में देखें ॥

ये (जो सब)

यद् — अर्थवदधातु० (१।२।४५) फिषोऽन्त उदात्तः (फिट् १) फिष् अर्थात् प्रातिपदिक अन्तोदात्त होता है, उच्चैरुदात्तः ने कहा कि ऊर्ध्वभाग निष्पन्न अच की उदात्त संज्ञा हो। यद् में अन्तिम अच् 'य' का 'अ' है, सो उसी को उदात्त हो गया। पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, 'जस्' विभक्ति आई।

यद् जस् — अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४) से जस् अनुदात्त हुआ, नीचैरनुदात्तः (१।२।३०) ने अनुदात्त संज्ञा बताई।

यद् जस् — त्यादादीनामः (७।२।१०२) अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१)।

य अ जस् — अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप होकर, एकादेश० (८।२।५) से दोनों अकारों का एकादेश उदात्त हुआ।

य जस् — जसः शी (७।१।१७) अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४)।

य शी — स्थानिवदादेशो० (१।१।५५) से स्थानिवत् होकर 'शी' जस् के समान माना गया, तब जस् का जो अनुदात्त स्वर था, वही स्वर शी का भी हो गया। अनुबन्ध लोप होकर—

य ई — आद् गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश हो गया।

ये — एकादेश उदात्तेनोदात्तः (८।२।५) से उदात्त 'य' के 'अ' के साथ जो अनुदात्त 'ई' का एकादेश हुआ है, वह उदात्त ही हुआ, उच्चैरुदात्तः से उदात्त संज्ञा हुई।

ये — बन गया ॥

इसी प्रकार तद् शब्द से 'ते' (वे सब) किम् शब्द से 'के' (कौन सब) की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० नीचैरनुदात्तः (१।२।३०)

नमस्ते देवदत्त

"नमस् तुभ्याम्" यहाँ तुभ्यं के स्थान में तेमयावेकवचनस्य (८।१।२२) से 'ते' आदेश हुआ, जो कि अनुदात्तं सर्वमपादादौ (८।१।१८) से अनुदात्त हो गया। आगे देवदत्त यह सम्बोधनवाची पद है, सो सामन्त्रितम् (२।३।४८) से आमन्त्रित संज्ञा होकर आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से 'देवदत्त' पद को सर्वानुदात्त होने लगा, तो नीचैरनुदात्तः ने नीचे भागों से बोले जानेवाले अच् की अनुदात्त संज्ञा की, तब नमस्ते देवदत्त बन गया ॥

त्व सम सिम

त्व सम सिम ये शब्द त्वत्त्वसमसिमेत्यनुच्चानि (फिट् ७८) इस फिट् सूत्र से अनुदात्त हैं ॥

—:०:—

परि० समाहारः स्वरितः (१।२।३१)

क्वं (कहाँ)

किम् ङि — पूर्ववत् किम् शब्द से ङि आकर, किमोऽत् (५।३।१२) प्रत्ययः; परश्च।

किम् ङि अत्, अनुबन्ध लोप एवं सुपो धातु० (२।४।७१) लगकर—

किम् अ — तित्स्वरितम् (६।१।१७९) से 'अ' प्रत्यय स्वरित होने लगा, तो समाहारः स्वरितः ने बताया कि स्वरित क्या है।

किम् अं — क्वाति (७।२।१०५) से किम् को क्व आदेश हुआ।

क्व अं — यहाँ फिषोऽन्त उदात्तः (फिट् १) से किम् का 'इ' उदात्त था, अतः किम् को हुआ 'क्व' आदेश भी स्थानिवत् से उदात्त ही होगा।

क्व अं — यस्येति च (६।४।१४८) से क्व के अ का लोप हुआ। कृत्तद्धित० (१।२।४६) पूर्ववत् 'सु' आकर—

क्व् अं सु — तद्धितश्चा० (१।१।३६) अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२)। इस प्रकार

क्वं — 'क्वं' स्वरित हुआ।

शिक्यंम् (छिक्का) कन्याँ

शिक्यम् तथा कन्या शब्द तिल्यशिक्यकाश्मर्यधान्यकन्याराजन्यमनुष्याणामन्तः (फिट् ७६) इस फिट् सूत्र से अन्त स्वरित हैं, शेष को अनुदात्तं पद० (६।१।१५२) से अनुदात्त हो ही जायेगा ।

सामसु साधुः साम॒न्यः (सामवेद में कुशल) यहाँ 'सामन् सुप्' इस अवस्था में तत्र साधुः (४।४।९८) से यत् प्रत्यय होकर सामन् सुप् यत्='सामन् य' रहा । तित्स्वरितम् (१।१।१७९) से य को स्वरित, तथा अनुदात्तं पद० (६।१।१५२) से शेष का निघात होकर सा॒म॒न्यः बन गया ।। यहां ये चाभाव० (६।४।१६८) से प्रकृतिभाव होने से नस्तद्धिते (६।४।१४४) से टि का लोप नहीं हुआ ।

—:०:—

परि० विभाषा छन्दसि (१।२।३६)

(१) अ॒ग्निम् (अग्नि=ईश्वर को)

अगि गतौ भूवादयो० (१।३।१), उपदेशे० (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।९)

अग् इदितो नुम्धातोः (७।१।५८) मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६)

अनुम् ग्=अन्ग्, धातोः (६।१।१५६) से धातु को अन्त उदात्त अर्थात 'अ' को उदात्त हुआ ।

अन्ग् धातोः (३।१।९१) अङ्गेर्नलोपश्च (उणा० ४।५०) से 'नि' प्रत्यय तथा नुम के 'न' का लोप होकर—

अग् नि आद्युदात्तश्च (३।१।३) से प्रत्यय उदात्त हुआ, अब यहां 'अग्नि' में 'अ' तथा 'नि' दोनों उदात्त प्राप्त थे, तब सतिशिष्टस्वरो बलीयान् (महाभाष्य ६।१।१५२) इस भाष्य वचन से पीछे आनेवाला 'नि' का स्वर बलवान् (उदात्त) रहा और अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२) से 'अ' अनुदात्त हो गया ।

अ॒ग्नि कृत्तद्धित० (१।२।४६) कर्मणि द्वितीया (२।३।२) आदि सब सूत्र लगकर 'अम्' आया ।

अ॒ग्नि अम् अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४) से 'सुप्' होने से 'अम्' अनुदात्त हुआ ।

अ॒ग्नि अ॒म् अमि पूर्वः (६।१।१०३)

अ॒ग्निम् एकादेश उदात्तेनोदात्तः (८।२।५) से उदात्त 'इ' के साथ अनुदात्त 'अ' का एकादेश उदात्त ही हुआ ।

अ॒ग्निम् बना ।।

ईडे (स्तुति करता हूँ)

'ईड्' धातु से उत्तमपुरुष के एकवचन 'इट' में ईडे की सिद्धि परि० १।१।२ के समान जानें। शेष स्वरसिद्धि निम्न प्रकार है—

ईड् को प्रथम धातोः (६।१।१५६) से धातुस्वर अन्तोदात्त प्राप्त हुआ। 'इट' आने पर आद्युदात्तश्च (३।१।३) से प्रत्यय-स्वर आद्युदात्त हुआ। तास्यनुदात्तेन्ङिद० (६।१।१८०) से लसार्वधातुक के अनुदात्त होने पर धातुस्वर ही प्राप्त हुआ। परन्तु अग्निम् ईडे इस अवस्था में तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से अतिङ् अग्निम् से उत्तर तिङन्त ईडे को सर्वनिघात=सर्वानुदात्त हो गया। पीछे उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८।४।६५) से उदात्त से उत्तर 'ईडे' के 'ई' को स्वरित हो गया। अनुदात्तं पदमेक० से (६।१।१५२) 'डे' के 'ए' को अनुदात्त होकर, स्वरितात् संहि० (१।२।३९) से उस अनुदात्त को एकश्रुति हो गई॥

पुरोहितम् (पुर एनं दधतीति=पुरोहित को)

पूर्वस्मिन् देशे; ऐसा विग्रह मानकर—

पूर्व ङि	पूर्ववत् रहा, पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् (५।३।३९) से पूर्व को 'पुर्' आदेश, तथा असि प्रत्यय हुआ।
पुर् ङि असि	सुपो धातुप्राति० (२।४।७१), तथा पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर—
पुर् अस् सु	तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (१।१।३७), अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२)।
पुरस्	यहाँ आद्युदात्तश्च (३।१।३) से प्रत्यय आद्युदात्त, अर्थात् 'पुरस्' के 'र' का 'अ' उदात्त है।

जब 'पुरो दधति एनम्' ऐसा विग्रह करके 'डुधाञ्' धातु से क्त प्रत्यय हुआ, तब—

पुरस् धा क्त	कृत्यल्युटो० (३।३।११३) से क्त प्रत्यय यहाँ बाहुलक से हुआ है। दधातेर्हिः (७।४।४२) लगकर—
पुरस् हित	अब प्रत्ययस्वर से 'क्त' भी यहाँ उदात्त हुआ। पुरोऽव्ययम् (१।४।६६) से पुरस् की गति संज्ञा होकर कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से 'पुरस हित' का समास हो गया।
पुरस्हित	अब यहाँ समासस्य (६।१।२१७) से अन्तोदात्त की प्राप्ति में गतिरनन्तरः (६।२।४९) से पूर्वपद 'पुरस्' को प्रकृतिस्वर, अर्थात् 'र' के 'अ' को जैसा उदात्त था वैसा ही रहा। अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२) से शेष निघात हो गया।

८३

पुरस्हित ससजुषो रु: (८।२।६६), हशि च (६।१।११०) लगकर—

पुर उ हित आद् गुण: (६।१।८४) से गुण होकर—

परोहित उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित: (८।४।६५) लगकर—

परोहित पूर्ववत् 'अम्' विभक्ति आकर—

परोहित अम् अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४), अमि पूर्व: (६।१।१०३) लगकर—

परोहितम् स्वरितात् संहितायाम्० (१।२।३९) लगकर—

परोहितम् बना ॥

यज्ञस्यं (यज्ञ का)

यज भूवादयो० (१।३।१), धातो: (३।१।९१), धातो: (६।१।१५६)।

यज यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् (३।३।९०), प्रत्यय:, परश्च (३।१।१,२)।

यज् नङ् आद्युदात्तश्च (३।१।३) 'सतिशिष्टस्वरो बलीयान्' से प्रत्यय को ही उदात्त हुआ, धातुस्वर हट गया। अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२) लगकर—

यज् न स्तो: श्चुना श्चु: (८।४।३९) से श्चुत्व हो गया।

यज्ञ पूर्ववत् 'ङस्' विभक्ति आकर, टाङसिङसामि० (७।१।१२) से 'ङस्' को स्य आदेश हुआ।

यज्ञस्य अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४) लगकर—

यज्ञस्य उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित: (८।४।६५) से 'स्य' के 'अ' को स्वरित होकर—

यज्ञस्यं बना ॥

देवम् (देव को)

दिव् पूर्ववत सब सूत्र लगकर धातुस्वर हुआ।

दिव् नन्दिग्रहिपचादिभ्यो० (३।१।१३४) से अच प्रत्यय होकर—

दिव अच चित: (६।१।१५७), अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२)।

दिव् अ पुगन्तलघूप० (७।३।८६) से पूर्ववत् गुण हुआ।

देव कृत्तद्धित० (१।२।४६), पूर्ववत् 'अम्' विभक्ति आकर—

देव अम् अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४) लगकर—

दे॑व अ॒म् — अमि पूर्वः (६।१।१०३), एकादेश उदात्तेनोदात्तः (८।२।५) होकर—

दे॑वम् — ऐसा स्वर रहा ॥

ऋ॒त्विज॑म् (ऋतौ यजतीति=ऋत्विक् को)

ऋतु यज — भूवादयो० (१।३।१), धातोः ((६।१।१५६) से धातु को अन्तोदात्त हुआ।

ऋतु यज् — ऋत्विग्दधृक्स्रग्दि० (३।२।५९) से क्विन्प्रत्ययान्त ऋत्विक् शब्द निपातन है। अतः—

ऋतु यज क्विन् — वचिस्वपियजादीनां० (६।१।१५), इग्यणः सम्प्रसारणम् (१।१।४४)।

ऋतु इ अ ज् क्विन् = ऋतु इ ज् व् उपपदमतिङ् (२।२।१९), इको यणचि (६।१।७४)।

ऋत्विज् व — वेरपृक्तस्य (६।१।६५), अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१।२।४१)।

ऋत्विज् — यहाँ अब समासस्य (६।१।२१७) के अन्तोदात्त को बाधकर गतिकारकोपपदात् कृत (६।२।१३८) से उत्तरपद को प्रकृतिस्वर, अर्थात् 'इ' को उदात्त हुआ। अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२), तथा पूर्ववत् 'अम' विभक्ति आकर—

ऋ॒त्विज् अम् — अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४) लगकर—

ऋ॒त्विज॒म् — उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८।४।६५) होकर—

ऋ॒त्विज॑म् — ऐसा स्वर रहा ॥

होता॑रम् (होता को)

हु — भूवादयो० (१।३।१), आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु (३।२।१३४), तृन् (३।२।१३५), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) लगकर—

हु तृन् — सार्वधातु० (७।३।८४) से पूर्ववत् गुण।

होतृ — अब यहाँ प्रत्ययस्वर आद्युदात्तश्च (३।१।३) का अपवाद ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६।१।१९१) लगा। उससे नित् प्रत्यय 'तृ' के परे रहते 'हो' के 'ओ' को उदात्त हुआ। पूर्ववत् 'अम्' विभक्ति आकर, अनुदात्तं पद० (६।१।१५२), अनुदात्तौ सु० (३।१।४)। लगकर—

होत अ॒म् — उदात्तादनुदा० (८।४।६५) लगकर—

होतृ अ॒म् — अब यहाँ ऋतो ङिसर्वना० (७।३।११०) से गुण, तथा अप्तृन्तृच्स्वसृ० (६।४।११) से दीर्घ होकर—

होतार् अम् स्वरितात् संहितायां० (१।२।३९) लगकर—

होतारम् बना ॥

रत्नधातमम् (रत्नों को धारण करनेवालों में सब से श्रेष्ठ को)

रत्नानि दधाति ऐसा विग्रह करके 'रत्नधा' बना—

रत्न शस् धा पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, क्विप् च (३।२।७६) से क्विप्।

रत्न शस् धा क्विप् पूर्ववत् ही उपपदसमासादि, तथा क्विप् का सर्वापहारी लोप हुआ।

रत्नधा अब गतिकारकोपपदात् कृत् (६।२।१३९) से उत्तरपद को प्रकृति-स्वर अर्थात् धातुस्वर ही रहा। अनुदात्तं पद० (६।१।१५२), कृत्तद्धित० (१।२।४६)।

रत्नधा अतिशायने तमबिष्ठनौ (५।३।५५) से तमप् प्रत्यय हुआ।

रत्नधा तमप् अनुदात्तौ सु० (३।१।४) लगकर—

रत्न धातम पूर्ववत् 'अम्' विभक्ति आकर उसे भी अनुदात्त हो गया।

रत्नधातम अम् उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५), अमि पूर्वः (६।१।१०३)।

होतार रत्नधातमम् स्वरितात् संहितायां० (१।२।३९) से 'होतारम्' के 'ता' स्वरित से उत्तर अनुदात्त 'र' के 'अ', तथा अनुदात्त 'रत्न' के र के अकार को एकश्रुति हो गई। एवं 'तमम्' के 'म' के अ को भी एकश्रुति हो गई। अब 'धा' उदात्त के परे रहते रत्न के न को उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः (१।२।४०) से एकश्रुति का अपवाद अनुदात्ततर स्वर हुआ। और—

होतारं रत्नधातमम् बना ॥

सर्वत्र उदाहरणों में विभाषा छन्दसि (१।२।३६) से एक पक्ष में ऐसा ही स्वर, तथा दूसरे पक्ष में एकश्रुति हो जाती है ॥

२. इषे त्वोर्जे त्वा वायवं स्थ (यजुः ४०।१)—

इषे (अन्न और विज्ञान की प्राप्ति के लिये)

इष गतौ पूर्ववत् ही क्विप् च (३।२।७६) से क्विप् प्रत्यय हुआ।

इष् क्विप् तथा पूर्ववत् ही क्विप् का सर्वापहारी लोप, तथा 'ङे' विभक्ति।

इष् ङे अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४) से 'ङे' को अनुदात्त प्राप्त हुआ। पर सावेकाचस्तृतीयादिविभक्तिः (६।१।१६२) ने अनुदात्त को बाध-

कर विभक्ति को उदात्त कर दिया।

इष् ए	अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (६।१।१५२) लगकर—
इषे	बना ॥

त्वा (तुझको)

'त्वा' यहाँ 'त्वाम्' पद के स्थान में त्वामौ द्वितीयाया: (८।१।२३) से त्वा आदेश हुआ है। तथा उसे अनुदात्तं सर्वमपादादौ (८।१।१८) से अनुदात्त भी हुआ है ॥

ऊर्जे (बल के लिये)

पूर्ववत् ही 'ऊर्ज बलप्राणनयो:' धातु से 'इषे' के समान ही क्विप्, तथा क्विप् का लोपादि होकर, 'ङे' विभक्ति को सावेकाचस्तृ० (६।१।१६२) से उदात्त हो गया, तथा शेष अनुदात्त हो गया। सो ऊर्जे शब्द अन्तोदात्त रहा। अब आगे त्वा ऊर्जे को आद्गुण: (६।१।८४) से गुण एकादेश हुआ। तो अनुदात्त 'आ' तथा अनुदात्त 'ऊ' का एकादेश अनुदात्त ही होकर त्वोर्जे बना। इषे त्वोर्जे यहाँ 'षे' उदात्त से परे त्वोर्जे के 'त्वो' अनुदात्त को उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५) से स्वरित नहीं हुआ। क्योंकि इसके बाधक नोदात्तस्वरितोदय० (८।४।६६) ने 'र्जे' उदात्त के परे रहते 'त्वो' अनुदात्त को स्वरित होने से निषेध कर दिया ॥

आगे 'त्वा' पूर्ववत् ही अनुदात्त था, पर उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित:(८।४।६५) से उदात्त से उत्तर स्वरित होकर त्वोर्जे त्वा बना ॥

वायवः (बहुत प्रकार की वायु)

वा गतिगन्धनयो:	भूवादयो० (१।३।१), धातो: (३।१।९१), धातो: (६।१।१५६) कृवापाजिमि० (उणा० १।१), प्रत्यय:, परश्च (३।१।१,२)।
वा उण्	आतो युक्चिण्कृतो: (७।३।३३) से युक् आगम हुआ।
वा युक् उ=वा य् उ	आद्युदात्तश्च (३।१।३) से प्रत्यय हुआ, तो धातुस्वर हट गया। अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२), तथा पूर्ववत् 'जस्' आया।
वायु जस्	जसि च (७।३।१०९), अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४)।
वायो अस्	उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५), एचोऽयवायाव: (६।१।७५)।
वायवस्	पूर्ववत् विसर्जनीय होकर—
वायवः	बना ॥

स्थ

'स्थ' यहाँ मध्यम पुरुष बहुवचन में अस् धातु से लट् के लकार के स्थान में थ आदेश, तथा शप् का २।४।७१ से लुक् होकर 'अस् थ' रहा। श्नसोरल्लोप: (६।४।१११) लगकर 'स्थ' बना। यहाँ तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से निघात होकर, पुनः उस अनुदात्त को स्वरितात् संहितायां० (१।२।३९) से एकश्रुति हो गई ॥

शेष पूरे मन्त्र की स्वरसिद्धि हमारे बनाये 'यजुर्वेद-भाष्य-विवरण' यजु० १।१ में देखें। अन्य मन्त्रों की स्वरसिद्धि भी विस्तारभय हम यहाँ नहीं दे रहे हैं। सर्वत्र उदाहरणों में मन्त्रपाठ के समय विभाषा छन्दसि (१।२।३६) से एक पक्ष में एकश्रुति हुआ करेगी ॥

—:०:—

परि० न सुब्रह्मण्यायां (१।२।३७)

सुब्रह्मण्योम् (सुब्रह्मणि साधुः)

सुब्रह्मन् ङि — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर रहा। समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२), तत्र साधुः (४।४।९८) से साधु (कुशल) अर्थ में यत् प्रत्यय हुआ।

सुब्रह्मन् ङि यत् — सुपो धातुप्राति० (२।४।७१), तित्स्वरितम् (६।१।१७९)।

सुब्रह्मन् यं — अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२); कृत्तद्धित० (१।२।४६), अजाद्यतष्टाप् (४।१।४)।

सुब्रह्मन्यं टाप् — अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४), अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७)।

सुब्रह्मन्या — यहाँ स्वरित और अनुदात्त के स्थान में हुआ एकादेश आन्तर्य से स्वरित ही हुआ। अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८।४।२) से न को ण हुआ।

सुब्रह्मण्या ओ३म् — अब यहाँ ओ३म् निपात का ओमाङोश्च (६।१।९२) से पररूप एकादेश हुआ।

सुब्रह्मण्यो३म् — निपाता आद्युदात्ताः (फिट् ८०) से ओम् उदात्त था। सो आन्तर्य से स्वरित और उदात्त का एकादेश स्वरित ही हुआ।

सुब्रह्मण्यो३म् — न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य० से स्वरित के स्थान में उदात्त होकर—

सुब्रह्मण्यो३म् — हो गया ॥

इन्द्र

इन्द्र यह सम्बोधन पद है। सामन्त्रितम् (२।३।४८) से इसकी आमन्त्रित

संज्ञा होकर, ग्रामन्त्रितस्य च (६।१।१९२) से ग्रादयुदात्त हुग्रा। पीछे ग्रनुदात्तं पद० (६।१।१५२) से 'द्र' ग्रनुदात्त होकर, उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५) से स्वरित हुग्रा। ग्रब इस स्वरित को न सुब्रह्मण्यायां० से उदात्त हो गया। सो इन्द्र में दोनों ग्रच् उदात्त गये॥

आगच्छ

'ग्रागच्छ' यह 'ग्राङ् पूर्वक गम्लृ' धातु का लोट् मध्यमपुरुष एकवचन का रूप है। उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट्० ८१) इस फिट् सूत्र से ग्राङ् का 'ग्रा' उदात्त है। तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से गच्छ को सर्वानुदात्त हुग्रा। उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५) से 'ग' का 'ग्र' स्वरित हुग्रा। उस स्वरित को न सुब्रह्मण्यायां० से उदात्त हो गया। तो 'ग्रा' तथा 'ग' दोनों उदात्त, तथा 'छ' को ग्रनुदात्त होकर ग्रागच्छ बना॥

हरिव आगच्छ

'हरिवः' यहाँ हरि शब्द से तदस्यास्त्य० (५।२।९४) से मतुप् हुग्रा है। उगिदचां० (७।१।७०) से नुम् ग्रागम, तथा सम्बुद्धि का सु ग्राकर हरि म नुम् त् सु= हरि म न् त् स् रहा। हल्ङ्याबि लोप, तथा संयोगान्त लोप होकर हरिमन् रहा। ग्रब मतुवसो रु सम्बुद्धौ० (८।३।१) से न् को रु, तथा छन्दसीरः (८।२।१५) से 'म' को 'व' होकर हरिवर्=हरिवः बना। हरिवः ग्रब यह ग्रामन्त्रित पद है। सो पूर्ववत् ही ग्रामन्त्रितस्य च (६।१।१९२) से आद्युदात्त है। ग्रागे उदात्त से उत्तर ग्रनुदात्त 'रि' को जो पूर्ववत् स्वरित हुग्रा, उस स्वरित को प्रकृत सूत्र ने उदात्त विधान कर दिया, तो हरिवः बना। 'व' ग्रनुदात्त ही रहा। ग्रागच्छ में पूर्ववत् ही स्वर जानें॥

मेधातिथे र्मेष

मेधातिथेः यह षष्ठयन्त सुबन्त है। मेष यह ग्रामन्त्रित पद है। सो सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे (२।१।२) से 'मेधातिथेः' को पराङ्गवत् (पर के ग्रङ्ग के समान) 'मेष' के समान स्वरवाला माना गया। 'मेष' ग्रामन्त्रितस्य च (६।१।१९२) से ग्राद्युदात्त था। पराङ्गवद्भाव होने से मेधातिथेः का 'मे' उदात्त हुग्रा, शेष सारे निघात हो गये। उस उदात्त से उत्तर जो 'धा' ग्रनुदात्त उसको उदात्ता० (८।४।६५) से स्वरित हुग्रा। उस स्वरित को प्रकृत सूत्र से उदात्त हो गया, तो 'मेधातिथ र्मेष' में ग्रादि के दो उदात्त रहे॥

वृषणश्वस्य मेने

वृषाणो ग्रश्वा यस्य स वृषणश्वः, तस्य 'वृषणश्वस्य मेने'। यहाँ भी 'मेने'

आमन्त्रित पद था। अत: सारा स्वर पराङ्गवत् होकर मेधातिथे में ष के समान ही है ॥

गौरावस्कन्दिन्

गौरावस्कन्दिन् यह भी आमन्त्रित पद है। सो पूर्ववत् ही गौ के 'औ' को उदात्त होकर, उस उदात्त से उत्तर स्वरित को प्रकृत सूत्र से उदात्त विधान हुआ ॥

अहल्यायै जार

'अहल्यायै जार' में 'मेधातिथेमेंष' के समान ही स्वरकार्य होंगे। क्योंकि 'जार' यह आमन्त्रित पद था। उसके परे रहते 'अहल्यायै' को पराङ्गवद्भाव हो गया ॥

कौशिकब्राह्मण तथा गौतमब्रुवाण यह आमन्त्रित पद हैं। अत: गौरावस्कन्दिन की तरह ही स्वर रहेगा ॥

श्वः शब्द निपाता आद्युदात्ताः (फिट् ८०) से उदात्त है ॥

सुत्याम्[1]

सुत्या यहाँ 'षुञ्' धातु से संज्ञायां समजनिषदनिपत० (३।३।९९) से क्यप् प्रत्यय हुआ है। वहां उदात्त की अनुवृत्ति मन्त्रे वृषेष० (३।३।९६) से आती है। सो यहां उदात्त क्यप् हुआ। धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से 'ष्' को 'स्', तथा ह्रस्वस्य पिति० (६।१।६९) से तुक् आगम, एवं अजाद्य० (४।१।४) से टाप् होकर सुत्या बना है। अम् आकर, तथा एकादेश होकर 'आ' ही उदात्त रहा। अनुदात्तं पद० (६।१।१५२) से सुत्या का सु अनुदात्त हो गया। अब उदात्तादनुदात्त० (८।४।६५) से 'श्वः' उदात्त से परे 'सुत्या' का 'सु' स्वरित हो गया। तब उस स्वरित को प्रकृत सूत्र ने उदात्त कर दिया। सो 'सुत्या' में दोनों अच् उदात्त रहे ॥

आगच्छ का स्वर पूर्ववत् ही जानें ॥

मघवन्

मघवन् यह आमन्त्रित पद है। सो 'आगच्छ' पद से उत्तर आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से सर्वनिघात हो गया ॥

—:०:—

---

१. 'श्वः सुत्यामागच्छ मघवन्' यह पाठ शतपथ ब्राह्मण में सुब्रह्मण्यादि निगदों के अन्तर्गत प्राप्त नहीं है। वस्तुत: यह पाठ ऊहकृत है।

परि० देवब्रह्माणो० (१।२।३८)

देवा ब्रह्मांणः

देवाः, ब्रह्माणः ये दोनों पद आमन्त्रितसंज्ञक हैं। सो आमन्त्रितस्य च (६।१।१९२) से दोनों को आद्युदात्त होने पर शेष अनुदात्त हो गया। अब उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५) से उदात्त से उत्तर अनुदात्त को जो स्वरित हुआ था, उसको पूर्व सूत्र से उदात्त प्राप्त था। पर प्रकृत सूत्र ने अनुदात्त कर दिया, तो 'देवा ब्रह्माणः' ऐसा स्वर रहा। यहां आमन्त्रितं पूर्वं० (८।१।७२) से देवाः का अविद्यमानवद्भाव होने से आष्टमिक आमन्त्रित निघात नहीं हुआ।।

—:०:—

परि० स्वरितात् संहितायां० (१।२।३९)

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि (ऋक् १०।७५।५)

'इदम्' शब्द प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त है। पूर्ववत् 'इदम्' शब्द के आगे 'अम्' विभक्ति आई। त्यदादीनामः (७।२।१०२) से इदम् के 'म्' को अकारादेश, तथा दश्च (७।२।१०९) से 'द्' को 'म' होकर—इम अम्=इमम् बना। अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४) से विभक्ति अनुदात्त थी। सो अमि पूर्वः (६।१।१०३) से उदात्त 'म' का अ (प्रातिपदिकस्वर से उदात्त है), तथा अनुदात्त अम् का एकादेश एकादेश उदात्तेनोदात्तः (८।२।५) से उदात्त ही रहा। शेष निघात होकर इमम् ऐसा स्वर रहा।।

'मे' यहाँ मम शब्द को तेमयावेकवचनस्य (८।१।२२) से अनुदात्त 'मे' आदेश हुआ। उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५) से 'मे' स्वरित हो गया। आगे गङ्गे यमुने तथा सरस्वति पद आमन्त्रितसंज्ञक हैं। सो 'मे' पद से उत्तर सब को आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से निघात हो गया। तब उन अनुदात्तों को प्रकृत सूत्र से एकश्रुति हो गई। शतुद्रि का स्वर अगले सूत्र पर देखें।।

माणवक जटिलकाध्यापक

माणवक यह आमन्त्रित पद होने से आमन्त्रितस्य (६।१।१९२) से आद्युदात्त है। शेष को निघात होकर उदात्त से उत्तर स्वरित हो गया। शेष बचे पूर्ववत् अनुदात्तों को प्रकृत सूत्र से एकश्रुति हो गई। जटिलकाध्यापक ये दोनों पद भी आमन्त्रितस्य च

(८।१।१९) से सर्वनिघात हैं। उन को भी प्रकृत सूत्र से एकश्रुति हुई है। आमन्त्रितं पूर्वम० (८।१।८२) से यहां पूर्व आमन्त्रित की अविद्यमानता प्राप्त थी। सो पद से उत्तर न मिलने से यहां निघात न होता, पर नामन्त्रिते समाना० (८।१।७३) से विद्यमानवत् ही माना गया, तो निघात होकर एकश्रुति हो गई॥

क्वं गमिष्यसि

क्वं यह स्वरितान्त पद है (देखो परि० १।२।३१)। इस क्वं से उत्तर गमिष्यसि को तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से निघात हुआ है। उस निघात को प्रकृत सूत्र से एकश्रुति हो गई है॥

—:o:—

परि० उदात्तस्वरित० (१।२।४०)

देवा मरुतः पृश्निमातरोऽपः

'देवा मरुतः पृश्निमातरः' ये तीनों पद आमन्त्रितसंज्ञक हैं। तीनों के एकीभूत होने पर आमन्त्रितस्य च (६।१।१९२) से आद्युदात्त होकर शेष निघात हो गया। विभाषितं विशेष० (८।१।७४) से विद्यमानपक्ष में भी आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से निघात हो गया। इस प्रकार 'दे' उदात्त, 'वा' उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५) से स्वरित, और शेष सब अच् स्वरितात्० (१।२।३९) से एकश्रुति हुए। परन्तु पृश्निमातरः के अनुदात्त 'र' से परे उदात्त 'प' आ रहा है। अतः यहां एकश्रुति न होकर प्रकृत सूत्र से सन्नतर आदेश हो गया है। आगे संक्षेपार्थ 'मातृ जस्' अंश को लेकर सिद्धि दर्शाई गई है—

मातृ जस्	पूर्ववत् जस् विभक्ति आकर, ऋतो ङिसर्वनाम० (७।३।११०) से मातृ को गुण हुआ।
मातरस् अपः	'अपः' शब्द यहां शस्-विभक्त्यन्त है, जो कि ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः (६।१।१६५) से अन्तोदात्त है। शेष 'अ' अनुदात्त है। अब यहां 'मातरस् के स् को रुत्व होकर—
मातरर् अपः	अतो रोरप्लुतात्० (६।१।१०९) से 'उ'। तथा—
मातर उ अपः	आद् गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश हो गया।
मातरो अपः	एङः पदान्तादति (६।१।१०५) से 'ओ' तथा 'अ' को पूर्वरूप एकादेश (ओकार) हो गया। यह ओकारादेश दोनों अनुदात्तों के स्थान में हुआ है, अतः आन्तर्य से अनुदात्त ही हुआ। एवं यह ओकार उदात्तपरक=उदात्त परेवाला ('प' उदात्त परे है)

भी है। अतः यहां प्रकृत सूत्र से 'ओ' को सन्नतर आदेश होकर—

मातरोऽव: बना ॥

सरस्वति शुतुद्रि

'शुतुद्रि' यह आमन्त्रित पद पाद के आदि में है। सो इसे आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से निघात नहीं होता। क्योंकि वहां अनुदात्तं सर्वमपादादौ (८।१।१८) का अधिकार आता है। अतः पाद के आदि में होने से 'शुतुद्रि' को निघात न होकर आमन्त्रितस्य च (६।१।१९२) से आद्युदात्त (शुतुद्रि के शु को उदात्त) होता है। इस उदात्त के परे रहते सरस्वति का इकार, जो कि आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से निघात था, उसे प्रकृत सूत्र से सन्नतर=अनुदात्ततर आदेश हो जाता है॥

अध्यापक क्व

यहां 'क्व' स्वरित के परे रहते 'अध्यापक' का 'क' जो कि आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से अनुदात्त था, उसको प्रकृत सूत्र से स्वरितपरक होने से अनुदात्ततर आदेश हो गया॥

—:०:—

परि० अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१।२।४१)

वाक् (वाणी)

वाच् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

वाच् सु=स् अपृक्त एकाल्प्रत्ययः से एक अल् 'स्' की अपृक्त संज्ञा होने से हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् (६।१।६६) से 'स्' का लोप हो गया।

वाच् चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व हुआ। झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) लगकर—

वाग् वावसाने (८।४।५५) से पुनः चर्त्व होकर क्, ग् दोनों रहे।

वाक्, और पक्ष में वाग् बना॥

लता, कुमारी यहां भी अपृक्त 'स्' का लोप पूर्ववत् ही हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से हुआ है॥

घृतस्पृक् (घृतं स्पृशतीति=घी को छूनेवाला)

घृत अम् स्पृश भूवादयो० (१।३।१), तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (३।१।९२), स्पृशोऽनुदके क्विन् (३।२।५८), प्रत्ययः परश्च (३।१।१,२) लगकर—

घृत अम् स्पृश् क्विन्[1] उपपदमतिङ् (२।२।१६), सुपो धातु० (२।४।७)।

घृतस्पृश् व् — अपृक्त एकालप्रत्ययः से एक अल् 'व' की अपृक्त संज्ञा हुई। तो वेरपृक्तस्य (६।१।६५) से उसका लोप हो गया। कृत्तद्धित० (१।२।४६) लगकर, पूर्ववत् सु आकर—

घृतस्पृश् सु — अपृक्त एकाल्०, हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६) लगकर—

घृतस्पृश् — क्विन्प्रत्ययस्य कुः (८।२।६२), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४६) से श् का ख होकर—

घृतस्पृख् — झलां जशो०(८।२।३६)से ख् को ग्, तथा वावसाने(८।४।५५) चर्त्व होकर—

घृतस्पृग्, घृतस्पृक् बना॥

अर्द्धभाक् (अर्धं भजतीति=आधे को प्राप्त करनेवाला)

अर्द्ध अम् भज — सब पूर्ववत् ही होकर, भजो ण्विः(३।२।६२) से ण्वि प्रत्यय हुआ।

अर्द्ध अम् भज ण्वि — पूर्ववत् ही समासादि सब होकर—

अर्द्ध भज् व् — अत उपधायाः (७।२।११६)से उपधा को वृद्धि हुई। तथा पूर्ववत् ही अपृक्त 'व्' का लोप हुआ।

अर्द्धभाज् — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर—

अर्द्धभाज् सु=स् — अपृक्त एकाल्०,हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) लगकर—

अर्द्धभाज — चोः कुः (८।२।३०)।

अर्द्धभाग — वावसाने (८।४।५५) लगकर—

अर्द्धभाग्,अर्द्धभाक् बना॥

इसी प्रकार 'पादं भजतीति=पादभाक्' (चौथाई को प्राप्त करनेवाला) में भी जानें॥

—:०:—

परि० तत्पुरुषः समा० (१।२।४२)

पाचकवृन्दारिका (अच्छी रोटी पकानेवाली)

पाचिका चासौ वृन्दारिका च—

पाचिका सु वृन्दारिका सु समर्थः पदविधिः (२।१।१), तत्पुरुषः (२।१।२१), वृन्दा-

१. क्विन् में इकार उच्चारणार्थ है, अनुबन्ध नहीं है।

रकनागकुञ्जरैः० (२।१।६१) से तत्पुरुष समास हुआ।
सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१) लगकर—

पाचिकावृन्दारिका अब यहाँ 'पाचिकावृन्दारिका में' वही पाचिका है, तथा वही वृन्दारिका हैं। अर्थात् समानाधिकरण तत्पुरुष है। सो तत्पुरुषः समानाधिकरणः० से कर्मधारय संज्ञा हो गई। कर्मधारय संज्ञा होने से पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु (६।३।४०) से पुंवद्भाव, अर्थात् पुंल्लिङ्ग के समान रूप हो गया। आगे पूर्ववत् सु आकर —

पाचकवृन्दारिका सु=स् हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६) लगकर—
पाचकवृन्दारिका बना॥

परमञ्च तद् राज्यञ्च=परमराज्यम् (बढ़िया राज्य); उत्तमञ्च तद् राज्यञ्च उत्तमराज्यम् (उत्तमराज्य), यहाँ पर भी समानाधिकरण है। क्योंकि वही राज्य है, तथा वही परम और उत्तम भी है। सो सन्महत्परमोत्तमो० (२।१।६०) से तत्पुरुष समास होकर प्रकृत सूत्र से कर्मधारय संज्ञा हो गई। कर्मधारय संज्ञा होने से अकर्मधारये राज्यम् (६।२।१२९) से उत्तरपद को आद्युदात्त नहीं होता। और समासस्य (६।१।२१७) से अन्तोदात्त हो जाता है। शेष सब पूर्ववत् ही जानें॥

—:०:—

परि० प्रथमानिर्दिष्टं० (१।२।४३)

कष्टश्रितः (कष्टम् श्रितः=कष्ट को प्राप्त हुआ)

कष्ट अम् श्रित सु समर्थः पदविधिः (२।१।१), प्राक्कडारात् समासः (२।१।३), तत्पुरुषः (२।१।२१), द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्त० (२।१।२३) से द्वितीया तत्पुरुष समास हुआ। द्वितीया श्रितातीत० यह सूत्र समास विधान करता है, और यहाँ "द्वितीया" पद में प्रथमा विभक्ति है। सो प्रथमानिर्दिष्ट होने से द्वितीयान्त पद 'कष्टम्' की प्रकृत सूत्र से उपसर्जन संज्ञा होकर उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०) से 'कष्टम्' पद ही पूर्व में आता है।

कष्ट अम् श्रित सु कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) पूर्ववत् सु आकर—

कष्टश्रित सु रुत्व विसर्जनीय होकर—

कष्टश्रितः बन गया ॥

शङ्कुलाखण्डः (शङ्कुलया खण्डः=सरौते के द्वारा काटा हुआ टुकड़ा)

शङ्कुला टा खण्ड सु तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन (२।१।२६) से तृतीयातत्पुरुष समास हुआ। यहाँ भी तृतीया तत्कृतार्थेन० सूत्र में 'तृतीया' पद में प्रथमा विभक्ति होने से प्रकृत सूत्र से तृतीयान्त की उपसर्जन संज्ञा होकर उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०) से तृतीयान्त उपसर्जनसंज्ञक 'शङ्कुलया' शब्द ही पूर्व में आता है। कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्राति० (२।४।७१)।

शङ्कुलाखण्ड पूर्ववत् सु आकर रुत्व विसर्जनीय होकर—

शङ्कुलाखण्डः बना ॥

यूपदारु (यूपाय दारु=खम्भे के लिये लकड़ी)

यूप ङे दारु सु चतुर्थी तदर्थार्थबलि० (२।१।३५) से चतुर्थी तत्पुरुष समास हुआ। यहाँ भी 'चतुर्थी' पद में प्रथमा विभक्ति होने से चतुर्थ्यन्त की प्रकृत सूत्र से उपसर्जन संज्ञा होकर पूर्ववत् 'यूपाय' चतुर्थ्यन्त पद ही पूर्व में आता है।

यूप ङे दारु सु कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१) लगकर—

यूपदारु पूर्ववत् सु आकर स्वमोर्नपुंसकात् (७।१।२३) से उसका लुक् होकर—

यूपदारु बना ॥

वृकभयम् (वृकेभ्यो भयम्=भेड़ियों से डर)

वृक भ्यस् भय सु पञ्चमी भयेन (२।१।३६) यहाँ भी 'पञ्चमी' में प्रथमा होने से पञ्चम्यन्त की प्रकृत सूत्र से उपसर्जन संज्ञा होकर पूर्ववत् पञ्चम्यन्त पद ही पूर्व में आता है।

वृक भ्यस् भय सु कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१) लगकर—

वृकभय पूर्ववत् सु आकर, अतोऽम् (७।१।२४) लगा। और—

वृकभयम् बना ॥

राजपुरुषः (राज्ञः पुरुषः=राजा का पुरुष)

राजन् ङस् पुरुष सु षष्ठी (२।२।८) यहाँ भी षष्ठ्यन्त की उपसर्जन संज्ञा होने से पूर्ववत् षष्ठयन्त ही पूर्व में आता है।

राजन् ङस् पुरुष सु शेष पूर्ववत् होकर, तथा नलोपः प्राति० (८।२।७) से नकार लोप होकर—

राजपुरुषः बन गया ॥

अक्षशौण्डः (अक्षेषु शौण्डः=पासों में आसक्त=धूर्त)

अक्ष सुप् शौण्ड सु सप्तमी शौण्डैः (२।१।३९) यहाँ भी 'सप्तमी' में प्रथमा विभक्ति होने से प्रकृत सूत्र से सप्तम्यन्त की उपसर्जन संज्ञा होकर सप्तम्यन्त पद ही पूर्व आता है। कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१) लगकर—

अक्षशौण्ड पूर्ववत् सु आकर, विसर्जनीय होकर—

अक्षशौण्डः बना ॥

—:o:—

परि० एकविभक्ति० (१।२।४४)

निष्कौशाम्बिः (कौशाम्बी से जो निकल गया, वह)

निर् सु कौशाम्बी ङसि निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या (वा० २।२।१८) से समास होकर, कृत्तद्धित्त० (१।२।४६), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१) लगकर—

निर् कौशाम्बी एकविभक्ति चापूर्वनिपाते से यहां 'कौशाम्बी' की उपसर्जन संज्ञा हो गई। क्योंकि विग्रह करने पर निष्क्रान्त शब्द यद्यपि सब विभक्तियों से युक्त होता है, पर कौशाम्बी यह शब्द नियत पञ्चम्यन्त ही है। पूर्व निपात कार्य को छोड़ कर उपसर्जन संज्ञा होती है। अतः कौशाम्बी का पूर्व निपात उपसर्जनं पूर्वम् (२।२।३०) से नहीं होता है। कौशाम्बी की उपसर्जन संज्ञा होने से गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१।२।४८) से उसको ह्रस्व हो जाता है।

निरकौशाम्बि खरवसानयो० (८।३।१५) से र् को विसर्जनीय होकर—

निःकौशाम्बि इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य (८।३।४१) से उस विसर्जनीय को षत्व हो गया।

निष्कौशाम्बि — पूर्ववत् सु आकर, विसर्जनीय होकर—
निष्कौशाम्बिः — बना ॥

इसी प्रकार निर्वाराणसिः में भी जानें। केवल यहां खर् परे न होने से 'र' को विसर्जनीय नहीं होता, यही विशेष है ।।

—:०:—

परि० गोस्त्रियो० (१।२।४८)

चित्रगुः (चित्रा गावो यस्य सः=चित्रित हैं गायें जिसकी)

चित्र जस् गो जस् — अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४) से बहुव्रीहि समास होकर, कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्राति० (२।४।७१), सप्तमी विशेषणे० (२।२।३५) से विशेषणवाची चित्र का पूर्व प्रयोग हुआ।

चित्रगो — बहुव्रीहि समास में सारे ही पद उपसर्जन होते हैं। अतः 'चित्रगो' उपसर्जन गोशब्दान्त प्रातिपदिक है। सो प्रकृत सूत्र से ह्रस्व प्राप्त हुआ। अब 'ओ' को क्या ह्रस्व हो, तो एच इग्घ्रस्वादेशे (१।१।४७) ने कहा कि 'एच्' को 'इक्' ह्रस्व हो। पूर्ववत् सब सूत्र लगकर सु आया।

चित्रगु सु — पूर्ववत् विसर्जनीय होकर—
चित्रगुः — बना ॥

इसी प्रकार 'शबला गावो यस्य स शबलगुः' (चितकबरी हैं गायें जिसकी, वह) की सिद्धि भी जानें। निष्कौशाम्बिः, निर्वाराणसिः की सिद्धि भी परि० १।२।४४ में देखें। कौशाम्बी वाराणसी स्त्रीप्रत्ययान्त (ङीबन्त) शब्द हैं। १।२।४४ से उपसर्जनसंज्ञक भी हैं। अतः प्रकृत सूत्र से ह्रस्व हो गया है ॥

खट्वामतिक्रान्तः=अतिखट्वः (जो खाट को अतिक्रमण=लांघ गया हो), मालामतिक्रान्तः=अतिमालः (जो माला का अतिक्रमण कर गया हो), यहां भी 'अति सु खट्वा अम्'; अति सु माला अम्, इस अवस्था में अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया (वा० २।२।१८) इस वार्तिक से समास, तथा सब कार्य पूर्ववत् होकर अतिखट्वा, अतिमाला रहा। यहां खट्वा माला स्त्रीप्रत्ययान्त (टाबन्त) शब्द हैं। इनकी उपसर्जन संज्ञा भी १।२।४४ से हो जाती है। सो प्रकृत सूत्र से ह्रस्व, तथा शेष पूर्ववत् होकर अतिखट्वः, अतिमालः बन गया है ॥

परि० लुक्तद्धितलुकि (१।२।४९)

इन्द्राणी

इन्द्र अर्थवदधातु० (१।२।४५), ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१), स्त्रियाम् (४।१।३), इन्द्रवरुणभवशर्व० (४।१।४९) से ङीष् प्रत्यय तथा आनुक् आगम इन्द्र शब्द को हुआ। आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)।

इन्द्र आनुक् ङीष्=इन्द्र आन् ई अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७)।

इन्द्रानी अट्कुप्वाङ्नुम्व्य० (८।४।२) से णत्व, तथा पूर्ववत् प्रातिपदिकसंज्ञादि।

इन्द्राणी बना॥

अब यहाँ पञ्च इन्द्राण्यो देवता अस्य स्थालीपाकस्य=पञ्चेन्द्रः (पांच इन्द्राणियाँ देवता हैं इस स्थालीपाक की) ऐसा विग्रह करके पञ्चेन्द्रः बना है।

पञ्चेन्द्रः

पञ्चन् जस् इन्द्राणी जस् तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (२।१।५०) से समास होकर, कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) लगकर—

पञ्चन्इन्द्राणी नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७), आद्गुणः (६।१।८४)।

पञ्चेन्द्राणी सास्य देवता (४।२।२३) से अण् प्रत्यय हुआ, तद्धिताः (४।१।७६)।

पञ्चेन्द्राणी अण् संख्यापूर्वो० (२।१।५१), द्विगोर्लुगनपत्ये (४।१।८८) से द्विगु-सम्बन्धी अण् प्रत्यय का लुक् हुआ।

पञ्चेन्द्राणी लुक्तद्धितलुकि से तद्धितप्रत्यय अण् के लुक् हो जाने पर इन्द्रवरुणभव० (४।१।४९) से जो स्त्रीप्रत्यय ङीष् आया था, उसका भी लुक् हो गया। तथा उस स्त्रीप्रत्यय के साथ जो आनुक् आगम हुआ था, वह भी हट गया (इस विषय में देखो परिभाषा ७५)।

पञ्चेन्द्र पूर्ववत् सु आकर विसर्जनीय होकर—

पञ्चेन्द्रः बना॥

इसी प्रकार दश इन्द्राण्यो देवता अस्य=दशेन्द्रः की सिद्धि भी जानें॥

पञ्चशष्कुलम् (पांच पूरियों से खरीदी हुई वस्तु)

पञ्चभिः शष्कुलीभिः क्रीतम्—

पञ्चन् भिस् शष्कुली भिस् पूर्ववत् ही समासादि सब कार्य होकर—

पञ्चशष्कुली तेन क्रीतम्(५।१।३६), प्रत्ययः, परश्च(३।१।१,२), तद्धिताः(४।१।७६)।

पञ्चशष्कुली ठक् सङ्ख्यापूर्वो० (२।१।५१), अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम् (५।१।२८) से ठक् प्रत्यय का लुक् हो गया।

पञ्चशष्कुली लुक्तद्धितलुकि से ठक् के लुक् हो जाने पर, स्त्रीप्रत्यय जो कि शष्कुल शब्द से षिद्गौरादिभ्यश्च (४।१।४१) से हुआ था, उसका भी लुक् हो गया।

पञ्चशष्कुल पूर्ववत् सु आकर, 'सु' को अम् अतोऽम् (७।१।२४) से हो गया।

पञ्चशष्कुल अम्=पञ्चशष्कुलम् बन गया॥

आमलकम् (आमलक्याः फलम्=आँवले वृक्ष का फल)

आमलक अर्थवदधा० (१।२।४५), षिद्गौरादिभ्यश्च (४।१।४१) लगकर—

आमलक ङीष्=आमलक ई यस्येति च (६।४।१४८)।

आमलकी पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर ङस् आया।

आमलकी ङस् वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्० (१।१।७२), वृद्धिरादैच् (१।१।१), तस्य विकारः (४।३।१३२), नित्यं वृद्धशरादिभ्यः (४।३।१४२), तद्धिताः (४।१।७६)कृत्तद्धित०,(१।२।४६),सुपो धातुप्रा०(२।४।७१)।

आमलकी मयट् अब इस मयट् का, जो कि विकार अर्थ में आया था, फले लुक् (४।३।१६१) से लुक् हो गया।

आमलकी तो लुक्तद्धितलुकि से स्त्री प्रत्यय ङीप् का भी लुक् हो गया।

आमलक पूर्ववत् 'सु' आकर अतोऽम् (७।१।२४) लगकर—

आमलकम् बना॥

बकुल, कुवल, बदर शब्द भी गौरादि में पढ़ हैं, सो पूर्ववत् ङीष् होकर बकुली, कुवली, बदरी शब्दों से अनुदात्तादेश्च (४।३।१३८) से विकार अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय आया। उसका पूर्ववत् ही फले लुक् (४।३।१६१) से लुक् होकर, प्रकृत सूत्र से स्त्रीप्रत्यय का भी लुक् हो गया। शेष सब पूर्ववत् होकर बकुलम् (कटुकी वृक्ष का फल); कुवलम् (कुवल वृक्षविशेष का फल); बदरम् (बदर वृक्ष का विकार, अर्थात् बेर) बन गया॥

—:०:—

परि० लुपि युक्तवद्० (१।२।५१)

पञ्चालाः जनपदः (पञ्चाल नाम का जनपद)

पञ्चाल पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'ङस्' विभक्ति आई।

पञ्चाल ङस्　समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२), तस्यापत्यम् (४।१।९२), जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् (४।१।१६६), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से 'पञ्चालस्यापत्यानि बहूनि' इस अर्थ में 'अञ्' हुआ ।

पञ्चाल ङस् अञ् सुपो धातुप्राति० (२।४।७१), ते तद्राजाः (४।१।१७२), तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् (२।४।६२) से बहुत्व अर्थ में आये तद्राज प्रत्यय का लुक् हो गया ।

पञ्चाल　अब यह पञ्चाल शब्द पुँल्लिङ्ग तथा बहुवचनविषयक है । क्योंकि यह पञ्चाल नामक क्षत्रिय की बहुत सी सन्तानों (पुत्र पौत्रादि) को कहता है । सो इस पुँल्लिङ्ग बहुवचन विषयक शब्द से आगे 'तेषां (पञ्चालानां) निवासो जनपदः' ऐसा विग्रह करके प्रत्यय लाना है । अतः पूर्ववत् सब सूत्र लगकर आम् विभक्ति आई ।

पञ्चाल आम् तस्य निवासः (४।२।६८) से निवास अर्थ में अण् प्रत्यय हुआ ।

पञ्चाल आम् अण् सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) लगकर—

पञ्चाल अ　जनपदे लुप् (४।२।८०) से अण् का लुप् हुआ ।

पञ्चाल　अब यह 'पञ्चाल' एक जनपद का वाचक शब्द है। सो एकत्व का वाचक होने से एकवचन होना चाहिये । पर लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने ने कहा कि—'लुप् होने पर प्रकृतिवत् ही लिङ्ग वचन हों', तो यहाँ अण् का लुप् हुआ है । अतः प्रकृतिवत् लिङ्ग वचन प्राप्त हुये । अण् प्रत्यय की उत्पत्ति से पूर्व यह पञ्चाल शब्द, "पञ्चाल क्षत्रिय" के बहुत अपत्यों को कहता था । अतः बहुवचनविषयक एवं पुँल्लिङ्ग था । सो अब यद्यपि एक जनपद को कहता है, तो भी बहुवचन एवं पुँल्लिङ्ग ही होगा । अब कृत्तद्धित० (१।२।४६) आदि सब सूत्र लगकर, बहुषु बहुवचनम् (१।४।२१) से बहुत्व विवक्षा में 'जस्' हुआ ।

पञ्चाल जस्　प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) से पूर्वसवर्ण, तथा रुत्व विसर्जनीय होकर—

पञ्चालाः जनपदः बन गया ॥

कुरवः (कुरु नाम का जनपद)

'कुरोरपत्यानि बहूनि' इस अर्थ में 'कुरु' शब्द से कुरुनादिभ्यो ण्यः (४।१।१७०) से ण्य प्रत्यय आया । और उसका पूर्ववत् तद्राजस्य बहुषु० (२।४।६२)

से लुक् होकर 'कुरु' ही रहा। पूर्ववत् ही यह 'कुरु' शब्द अब बहुवचनविषयक तथा पुंल्लिङ्ग है। सो 'कुरूणां निवासो जनपदः' ऐसा विग्रह करके पूर्ववत् अण् प्रत्यय आया। तथा उसका लुप् भी जनपदे लुप् (४।२।८०) से हो गया। अब यह 'कुरु' शब्द जनपद का वाची है, सो एकवचन होना चाहिये, पर लुपि युक्तवद्० से पूर्ववत् लिङ्ग वचन होने से पूर्व जैसे कि बहुवचनविषयक था, वैसे ही हो गया। सो 'जस्' विभक्ति आकर जसि च (७।३।१०९) से गुण होकर 'कुरो अस्'=कुरवस्=कुरवः जनपदः बन गया॥

मगधाः जनपदः, मत्स्याः, अङ्गाः, वङ्गाः, सुह्माः, पुण्ड्राः इन सारे उदाहरणों में द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण् (४।१।१६८) से बहुत अपत्यों को कहने में अण् प्रत्यय होकर पूर्ववत् तद्राजस्य० (२।४।६२) से लुक् होकर, पुनः निवास अर्थ में अण् प्रत्यय आया। सिद्धि पूर्ववत् ही जानें। प्रकृत सूत्र से बहुवचन विषयक ये सारे शब्द हो गये। ऊपर की ही सारी बात यहाँ भी लगा लेनी चाहिये॥

गोदौ ग्रामः (गोदौ नाम का ग्राम)

गोदौ नाम ह्रदौ=गोदौ यह दो जलाशयों का नाम है। सो 'गोदयोरदूरभवो ग्रामः' ऐसा विग्रह करके अदूरभवश्च (४।२।६९) से अदूरभव (निकट) अर्थ में अण् प्रत्यय होकर "गोद ओस् अण्" रहा। वरणादिभ्यश्च (४।२।८१) से पूर्ववत् ही अण् का लुप् होकर 'गोद' रहा। अब यह गोद एकत्वाभिधायी है, क्योंकि एक ग्राम को कहता है। सो यहाँ एकवचन का प्रत्यय होना चाहिये, पर अण् प्रत्यय की उत्पत्ति से पूर्व यह 'गोद' शब्द द्विवचनान्त था। अतः प्रकृत सूत्र से अब भी द्विवचन ही होकर, द्विवचन का प्रत्यय 'औ' आकर गोदौ ग्रामः बन गया॥

कटुकबदरी ग्रामः (कटुकबदरी नाम का ग्राम)

यहाँ भी 'कटुकबदर्याः अदूरभवो ग्रामः' (कटुकबदरी के समीपवाला ग्राम) इस अर्थ में पूर्ववत् अदूरभवश्च (४।२।६९) से अण् प्रत्यय होकर वरणादिभ्यश्च (४।२।८१) से पूर्ववत् अण् का लुप् हो गया, तो 'कटुकबदरी' रहा। अब यह कटुकबदरी शब्द पुंल्लिङ्ग ग्राम शब्द का वाचक है। सो समानाधिकरण होने से कटुकबदरी में भी पुंल्लिङ्ग होना चाहिये। पर लुपि युक्तवद्० सूत्र ने कहा कि पूर्ववत् लिङ्ग वचन हों। सो यहाँ अण् प्रत्यय की उत्पत्ति से पूर्व कटुकबदरी में स्त्रीलिङ्ग था। अतः अब यद्यपि ग्राम पुंल्लिङ्ग का वाचक है, तो भी स्त्रीलिङ्ग ही रहा। शेष पूर्ववत् ही सु आकर, हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से उसका लोप हो गया॥

वस्तुतः यह उदाहरण पूर्ववत् व्यक्ति=लिङ्ग करने का है, तथा ऊपर के सब उदाहरण पूर्ववत् वचन=सङ्ख्या (एकत्व द्वित्व बहुत्वादि) करने के हैं॥

—:o:—

प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः

परि० आदिर्ञिटुडवः (१।३।५)

मिन्नः (स्निग्ध हुआ-हुआ)

ञिमिदा भूवादयो० (१।३।१), आदिर्ञिटुडवः (१।३।५), उपदेशेऽजनु० (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।६), अदर्शनं लोपः (१।१।५६) लगकर—

मिद अब यहाँ 'मिद्' का 'ञि' इत् गया है। सो धातोः (३।१।६१), ञीतः क्तः (३।२।१८७) से वर्त्तमानकाल में 'क्त' प्रत्यय हुआ।

मिद् क्त आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त हुआ, पर आदितश्च (७।२।१६) से निषेध हो गया। रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः (८।२।४२) से निष्ठा के 'त' को 'न', एवं पूर्व दकार को भी 'न' होकर—

मिन्न पूर्ववत् सु आकर विसर्जनीय हो गया। सो—

मिन्नः बना॥

इसी प्रकार 'ञिधृषा' धातु से पूर्ववत् ही सब होकर 'धृष् त' रहा। ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से ष्टुत्व होकर धृष्टः (ढीठ) बन गया। 'ञिक्ष्विदा' धातु से क्ष्विण्णः (स्निग्ध हुआ-हुआ) भी इसी प्रकार बना है। केवल अट् कुप्वाङ्० (८।४।२) से पूर्व नकार को णकार होकर, ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से पर नकार को णत्व हुआ है, यही विशेष है॥

इद्धः (=प्रकाशित हुआ) यहाँ भी पूर्ववत् ही 'ञिइन्धी' धातु से 'इन्ध् त' रहा। अनिदितां हल० (६।४।२४) से अनुनासिकलोप, तथा झषस्तथोर्धो० (८।२।४०) से 'त' को 'ध' होकर 'इध् ध' रहा। झलां जश् झशि (८।४।५२) से ध् को द् होकर इद्धः बन गया॥

वेपथुः (कँपकँपी)

टुवेपृ भूवादयो० (१।३।१), आदिर्ञिटुडवः (१।३।५), उपदेशेऽज० (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।६), अदर्शनं० (१।१।५६) लगकर—

वेप् धातोः (३।१।६१), ट्वितोऽथुच् (३।३।८९) से 'वेप्' का टु इत्संज्ञक होने से अथुच् प्रत्यय हुआ।

वेप् अथुच् पूर्ववत् सु आकर —

वेप् अथुच् सु=वेप् अथु स्=वेपथुः बन गया ॥

इसी प्रकार 'टुओश्वि' धातु से पूर्ववत् सब होकर 'श्वि अथुच्' रहा। सार्व-धातु० (७।३।८४) से 'श्वि' को 'श्वे' गुण, तथा एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अयादेश होकर श्वय् अथु स्=श्वयथुः (सूजन) बना है ॥

पक्त्रिमम् (पाकेन निर्वृत्तम्=पाक से बननेवाला)

डुपचष् पाके — भूवादयो० (१।३।१), आदिर्ञिटुडवः (१।३।५), उपदेशेऽज० (१।३।२), हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९), अदर्शनं लोपः (१।१।५९) लगकर—

पच् — अब यहाँ 'पच्' डु इत्वाला है। सो ड्वितः क्त्रिः (३।३।८८) से क्त्रि प्रत्यय हुआ।

पच् क्त्रि=त्रि चोः कुः (८।२।३०), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) लगकर—

पक्त्रि — क्त्रेर्मम्नित्यम् (४।४।२०) से 'पक्त्रि' से 'मप्' प्रत्यय हुआ।

पक्त्रि मप्=म कृत्तद्धित० (१।२।४६), पूर्ववत् सु आकर—

पक्त्रिम सु — अतोऽम् (७।१।२४) से सु को अम् होकर, अमि पूर्वः (६।१।१०३) लगकर—

पक्त्रिमम् — बन गया ॥

इसी प्रकार 'डुकृञ्' धातु से कृत्रिमम् (किया हुआ=बनावटी), तथा 'डुवप्' धातु से उप्त्रिमम् (बीज बोने से होनेवाला) बनेगा। वप् को सम्प्रसारण भी वचि-स्वपि० (६।१।१५) से 'क्त्रि' प्रत्यय परे रहते हो जाता है, यही यहाँ विशेष है ॥

—:०:—

परि० षः प्रत्ययस्य (१।३।६)

नर्त्तकी (नृत्य करनेवाली)

नृती नर्त्तने — भूवादयो० (१।३।१), उपदेशेऽज० (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।९) लगकर—

नृत् — धातोः (३।१।९१), शिल्पिनि ष्वुन् (३।१।१४५), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) से ष्वुन् प्रत्यय हुआ।

नृत् ष्वुन् — षः प्रत्ययस्य से आदि षकार की इत् संज्ञा हुई, हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९) लगकर—

नृत् वु पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, युवोरनाको (७।१।१) से 'वु' को 'अक' हो गया ।

नृत् अक पुगन्तलघू० (७।३।८४) से 'नृत्' अङ्ग को गुण हुआ ।

नर्त् अक यहां 'वु' के षित् होने से षिद्‌गौरादिभ्यश्च (४।१।४१) से ङीष् हो गया ।

नर्त् अक ङीष्=ई यचि भम् (१।४।१८), यस्येति च (६।४।१४८) ।

नर्तक् ई अचो रहाभ्यां० (८।४।४५) लगकर—

नर्त्तक् ई पूर्ववत् सु आकर, हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) लगकर—

नर्त्तकी बना ॥

रजकी (धोबिन) यहां भी 'रञ्ज' धातु से पूर्ववत् ही सिद्धि हुई । केवल यहां 'रञ्ज' धातु के अनुनासिक का लोप रजकरजनरजःसूपसङ्ख्यानम् (वा० ६।४।२४) इस वार्त्तिक से हुआ है ॥

—:०:—

परि० चुटू (१।३।७)

कौञ्जायन्यः (कुञ्ज नामक व्यक्ति का पौत्र)

कुञ्ज अर्थवद० (१।२।४५), पूर्ववत् ङस् विभक्ति आकर—

कुञ्ज ङस् समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२), गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ् (४।१।९८), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) लगकर—

कुञ्ज ङस् च्फञ् कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) ।

कुञ्ज च्फञ् चुटू (१।३।७), हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९) लगकर—

कुञ्ज फ पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर आयनेयीनीयियः० (७।१।२) लगकर—

कुञ्ज आयन् अ तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७), यस्येति च (६।४।१४८) लगकर—

कौञ्ज् आयन् कृत्तद्धित० (१।२।४६), व्रातच्फञोरस्त्रियाम् (५।३।११३) से ञ्य प्रत्यय ।

कौञ्जायन ञ्य चुटू (१।३।७), तस्य लोपः (१।३।९), यस्येति च (६।४।१४८) लगकर पूर्ववत् सु आकर, विसर्जनीय होकर—

कौञ्जायन्यः बना ॥

शाण्डिक्यः (शण्डिक देश है निवास=अभिजन जिसका, वह)

शण्डिक पूर्ववत् प्रथमा विभक्ति का सु आकर—

शण्डिक सु शण्डिकादिभ्यो ञ्यः (४।३।९२) से ञ्य प्रत्यय हुआ।

शण्डिक सु ञ्य कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातु० (२।४।७१), चुटू तथा तस्य लोपः (१।३।९) लगकर—

शण्डिक य पूर्ववत् वृद्धि, एवं यस्येति लोप (६।४।१४८ से) होकर—

शाण्डिक्य सु=शाण्डिक्यः बना॥

ब्राह्मणाः (बहुत से ब्राह्मण) यहाँ पर भी जस् विभक्ति के 'ज्' की प्रकृत सूत्र से इत् संज्ञा हुई है। आगे प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) से पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर ब्राह्मणाः बना है॥

'वाच' शब्द से 'टा' विभक्ति आकर, टकार की प्रकृत सूत्र से इत् संज्ञा होकर वाच् आ=वाचा बना है॥

कुरुचरी (कुरुषु चरति=कुरु देश में घूमनेवाली)

कुरु सुप् चर् भूवादयो० (१।३।१), तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (३।१।९१), चरेष्टः (३।२।१६), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) लगकर—

कुरु सुप् चर् ट उपपदमतिङ् (२।२।१९) से समास होकर, सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) लगा।

कुरुचर ट चुटू, तस्य लोपः (१।३।९) लगकर—

कुरुचर् अ अब यहाँ टित् होने से टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय हुआ। तथा पूर्ववत् सु आया—

कुरुचर ङीप् सु=कुरुचर् ई स् हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) लगकर—

कुरुचरी बन गया॥

इसी प्रकार मद्रेषु चरति=मद्रचरी (मद्र देश में घूमनेवाली) यहाँ भी जानें॥

उपसरजः (उपसरे जातः=तालाब के समीप पैदा होनेवाला)

उपसर ङि जन पूर्ववत् ही सब होकर सप्तम्यां जनेर्डः (३।२।९७) से ड प्रत्यय, तथा समास इत्यादि पूर्ववत् ही होकर—

उपसर जन् ड् चुटू से 'ड्' की इत् संज्ञा हो गई, तस्य लोपः (१।३।९)।

उपसर जन् अ डित् होने से डित्सामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः (वा० ६।४।१४३) इस वार्त्तिक से टि भाग का लोप हो गया।

उपसर ज् अ कृत्तद्धित० (१।२।४६), पूर्ववत् सु आकर विसर्जनीय होकर—

उपसरजः बना ॥

इसी प्रकार मन्दुरायां जातः=मन्दुरजः (=अश्वशाला में पैदा होनेवाला) की सिद्धि जानें। केवल यहाँ मन्दुरा को ह्रस्व ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् (६।३।६१) से हो गया है, यही विशेष है ॥

आन्नः (अन्न लब्धा=अन्न को प्राप्त करनेवाला)

अन्न पूर्ववत् अन्न शब्द से द्वितीया विभक्ति आकर—

अन्न अम् अन्नाण्णः (४।४।८५) से ण प्रत्यय हुआ।

अन्न अम् ण चुटू, तस्य लोपः (१।३।९), सुपो धातुप्राति० (२।४।७१)।

अन्न अ तद्धितेष्व० (७।२।११७), यस्येति च (६।४।१४८), पूर्ववत् सु आकर विसर्जनीय होकर—

आन्नः बना ॥

—:०:—

परि० लशक्वतद्धिते (१।३।८)

चयनम् (चुनना)

चिञ् भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), ल्युट् च (३।३।११५), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) लगकर—

चि ल्युट् लशक्वतद्धिते, हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९) होकर—

चि यु पूर्ववत् युवोरनाकौ (७।१।१) से यु को 'अन', तथा सार्वधातु० (७।३।८४) से अङ्ग को गुण, एवं अयादेश होकर—

चयन पूर्ववत् सु आकर, अतोऽम् (७।१।२४), अमि पूर्वः (६।१।१०३) लगा, और—

चयनम् बना ॥

इसी प्रकार 'जि' धातु से जयनम् (जीतना) की सिद्धि जानें॥

भवति (होता है), पचति (पकाता है) की सिद्धि परि० १।१।२ के पचन्ति के समान ही जानें। शप् के शकार की इत् संज्ञा प्रकृत सूत्र से होती है। भू शप् तिप्, भू को गुण तथा अवादेश होकर 'भवति' बन गया। भुक्तः भुक्तवान् की सिद्धि परि० १।१।५ में देखें॥

प्रियंवदः (प्रियं वदतीति=प्रिय बोलनेवाला)

प्रिय अम् वद — प्रियंवशे वदः खच् (३।२।३८) से प्रिय उपपद रहते वद से खच् प्रत्यय हुआ।

प्रिय अम् वद् खच् — उपपदमतिङ् (२।२।१९), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१)।

प्रियवद् खच् — लशक्वतद्धिते, हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९) होकर—

प्रियवद् अ — यहाँ 'ख्' की इत संज्ञा होने से, खिदन्त उत्तरपद 'वद' के परे रहते अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् (६।३।६६) से 'मुम्' का आगम प्राप्त हुआ, मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६) लगकर—

प्रिय मुम् वद सु=प्रियम् वद स् — मोऽनुस्वारः (८।३।२३) होकर—

प्रियंवदः — बना॥

इसी प्रकार 'वशं वदति=वशंवदः: (अनुकूल वचन बोलनेवाला) की सिद्धि भी जानें॥

भङ्गुरम् (नाशवान्)

भञ्ज — भूवादयो० (१।३।१), भञ्जभासमिदो घुरच् (३।२।१६१) से घुरच् प्रत्यय हुआ।

भञ्ज् घुरच् — लशक्वतद्धिते से 'घ्' की इत् संज्ञा हुई। हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९) लगकर—

भञ्ज् उर — चजोः कु घिण्ण्यतोः (७।३।५२), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९)।

भन्ग् उर — नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४), अनुस्वारस्य० (८।४।५७)।

भङ्ग उर — कृत्तद्धित० (१।२।४६), पूर्ववत सु आकर, अतोऽम् (७।१।२४) लगकर—

भङ्गुर अम्=भङ्गुरम् बन गया॥

ग्लास्नुः (ग्लानि करनेवाला); जिष्णुः, भूष्णुः की सिद्धि परि० १।१।५

में देखें। ग्स्नु प्रत्यय के 'ग्' की इत् संज्ञा प्रकृत सूत्र से हुई है। सो गित् होने से १।१।५ से गुण-निषेध। एवं भूष्णुः में श्युकः किति (७।२।११) से इट् निषेध भी हुआ है। ग्लास्नुः में 'ग्लै' धातु है, सो उसे आदेच उपदेशे० (६।१।४४) से आत्व हुआ है॥

वाच् शब्द से ङस् विभक्ति होकर उसके 'ङ' की प्रकृत सूत्र से इत् संज्ञा होकर 'वाच् अस्' रहा। पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर वाचः बना है॥

—:०:—

परि० अनुदात्तङित० (१।३।१२)

आस्ते (बैठता है)

आस	भूवादयो० (१।३।१), उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।९), अदर्शनं लोपः (१।१।५९) लगकर—
आस्	'आस' में पाणिनि जी ने 'स' में 'अ' अनुदात्त रखा था, सो उसकी इत् संज्ञा हुई है। अतः यह अनुदात्तेत् धातु है। अनुदात्तेत् धातु होने से पूर्ववत् सारे सूत्र लगकर प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद का 'त' आया। कर्त्तरि शप् (३।१।६८) से शप् प्रत्यय भी होकर—
आस् शप् त	अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२), प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१।१।६०)।
आस् त	टित आत्मनेपदानां० (३।४।७९), अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३) लगकर—
आस्ते	बना॥

'वस' और 'एध' में भी अनुदात्त अकार अनुबन्ध पाणिनि जी ने लगाया था, सो ये अनुदात्तेत् धातुएं हैं। अतः प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद, अदि० (२।४।७२) से शप् लुक् होकर पूर्ववत् वस्ते (ढकता है) बन गया। एध धातु भ्वादिगण की है, अतः शप् का लुक् नहीं हुआ है। एध् अ ते=एधते (बढ़ता है) बना॥

'सूते' यहाँ षूङ् धातु है, सो ङित् होने से प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होकर आस्ते के समान ही सूते (पैदा करता है) बना है। 'षूङ्' के 'ष्' को 'स्' धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से हो जाता है। शीङ् धातु से शेते (=सोता है) की सिद्धि भी इसी प्रकार जानें॥

—:०:—

परि० भावकर्मणो: (१।३।१३)

आस्यते (बैठा जाता है)

आस पूर्ववत् अनुबन्ध लोप, और वर्त्तमानकाल में लट् प्रत्यय आकर—

आस् लट ल: कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्य: (३।४।६९) से 'आस्' धातु के अकर्मक होने से भाव में लकार आया है। पूर्ववत् सब सूत्र लादेश के लगकर, भावकर्मणो: से आत्मनेपद हुआ।

आस् त तिङ्शित् सार्वधातुकम् (३।४।११३), सार्वधातुके यक् (३।१।६७) से भाववाची सार्वधातुक के परे रहते यक् प्रत्यय हुआ।

आस् यक् त टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९), अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३) होकर—

आस् यक् ते=आस्यते बन गया॥

इसी प्रकार 'ग्लै' धातु को आदेच उपदेशे० (६।१।४४) से आत्व होकर, 'ग्ला' रहा। पूर्ववत् 'यक् त' आकर ग्लायते (ग्लानि की जाती है) बना है। 'स्वप' धातु से सुप्यते (सोया जाता है), यहाँ भी पूर्ववत् यक् त आकर, यक् के परे रहते वचिस्वपियजादीनां० (६।१।१५) से स्वप् को सम्प्रसारण हो गया। स् उ अ प् यक् त=सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४) लगकर सुप्यते बन गया है॥

'खाद' तथा 'पठ' धातु के सकर्मक होने से कर्मवाच्य में पूर्ववत् ही खाद्यते, पठ्यते बनेगा॥

क्रियते (किया जाता है)

डुकृञ् पूर्ववत् ही सब होकर—

कृ य ते रिङ् शयग्लिङ्क्षु (७।४।२८) से ऋकारान्त अङ्ग 'कृ' को रिङ् आदेश हुआ। ङिच्च (१।१।५२) से अन्त्य अल् को हुआ।

क् रिङ् य ते=क्रियते बन गया॥

इसी प्रकार 'हृञ् हरणे' धातु से ह्रियते (हरण किया जाता है) में भी जानें॥

—:०:—

परि० कर्त्तरि कर्म० (१।३।१४)

व्यतिलुनते (परस्पर एक-दूसरे का काटते हैं)

लूञ् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर लट् प्रत्यय आया।

वि अति लू लट् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, तथा प्रकृत सूत्र से कर्मव्यतिहार अर्थ में आत्मनेपद होकर बहुवचन का 'झ' आया।

वि अति लू झ क्र्यादिभ्यः श्ना (३।१।८१) से शप् का अपवाद श्ना हुआ।

वि अति लू श्ना झ इको यणचि (६।१।७४) लगकर—

व्यति लू ना झ तिङ्शित् सार्वधातुकम् (३।४।११३), सार्वधातुकमपित् (१।२।४), श्नाभ्यस्तयोरातः (६।४।११२)।

व्यति लू न् झ आत्मनेपदेष्वनतः (७।१।५) से 'झ्' को 'अत्' आदेश हुआ।

व्यतिलून् अत् अ प्वादीनां ह्रस्वः (७।३।८०) से 'लू' को शित् परे रहते ह्रस्व हो गया।

व्यतिलुनत टित० आत्मने० (३।४।७९) लगकर—

व्यतिलुनते बना॥

इसी प्रकार 'पूञ् पवने' धातु से व्यतिपुनते (एक-दूसरे को पवित्र करते हैं) भी बनेगा॥

—:०:—

परि० न गतिहिंसार्थेभ्यः (१।३।१५)

व्यतिगच्छन्ति (एक-दूसरे के लिये जाते हैं)

वि अति गम्लृ पूर्ववत् सारे सूत्र लगकर, पूर्व सूत्र से आत्मनेपद प्राप्त हुआ। सो प्रकृत सूत्र से निषेध होकर—

व्यति गम् शप् झि इषुगमियमां छः (७।३।७७), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१)।

व्यतिगछ अ झि छे च (६।१।७१) से तुक् आगम प्राप्त हुआ, आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) लगकर—

व्यति ग तुक् छ् अ झि स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९), झोऽन्तः (७।१।३)।

व्यतिगच्छ् अ अन्ति अतो गुणे (६।१।९४) लगकर—

व्यतिगच्छन्ति बना॥

'सृप्लृ' धातु से इसी प्रकार 'व्यति सृप् अ अन्ति' होकर, पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से गुण हुआ। सो व्यतिसर्प अन्ति=व्यतिसर्पन्ति (एक दूसरे के लिये सरकते हैं) बना। 'हिंसि' धातु से व्यतिहिंसन्ति (एक-दूसरे को मारते हैं) में भी सब पूर्ववत् है। केवल यहां यह विशेष है कि हिंसि धातु के इ की इत्संज्ञा

होकर इदितो नुम् धातोः (७।१।५८) से नुम् होकर हिन्स् बना । तथा रुधादिभ्यः श्नम् (३।१।७८) से श्नम् प्रत्यय हुआ । और वह मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६) से अन्त्य अच् से परे बैठा । सो व्यति हि श्नम् न् स् अन्ति = व्यतिहिन न् स् अन्ति रहा । श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) से 'न' के 'अ' का लोप होकर व्यतिहिन् न् स् अन्ति रहा । अब श्नान्न लोपः (६।४।२३) से पर नकार का लोप हुआ, तो व्यतिहिन्सन्ति रहा । नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) से 'न्' को अनुस्वार होकर = व्यतिहिंसन्ति बन गया ॥

व्यतिघ्नन्ति (एक-दूसरे को मारते हैं)

हन पूर्ववत् ही सब होकर—

व्यति हन् शप् झि अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२) से शप् का लुक् ।

व्यतिहन् अन्ति सार्वधातुकमपित् (१।२।४), गमहनजनखन० (६।४।९८) ।

व्यतिह् न् अन्ति हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु (७।३।५४) से 'ह्' को कुत्व प्राप्त हुआ । स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से अन्तरतम 'ह्' को घ् होकर—

व्यतिघ्नन्ति बना ॥

—:०:—

परि० परिव्यवेभ्यः क्रियः (१।३।१८)

परिक्रीणीते (सब प्रकार से खरीदता है)

परि डुक्रीञ् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, तथा प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होकर—

परि क्री त ादिभ्य श्ना (३।१।८१) से शप् का अपवाद श्ना हुआ ।

परि क्री श्ना त ई हल्यघोः (६।४।११३), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) ।

परि क्री नी त अट् कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८।४।२) ।

परि क्री णी त टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९) ।

परिक्रीणीते बना ॥

इसी प्रकार विक्रीणीते (बेचता है), अवक्रीणीते (खरीदता है) भी समझें ॥

—:०:—

परि० आङो दोऽना० (१।३।२०)

आदत्ते (ग्रहण करता है)

डुदाञ् लट् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, तथा प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होकर—

आङ् वा शप् त जुहोत्यादिभ्य:० (२।४।७५), प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुप: (१।१।६०)।

आ वा त श्लौ (६।१।१०), एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१)।

आ वा वा त पूर्वोऽभ्यास: (६।१।४), ह्रस्व: (७।४।५९)।

आ व वा त सार्वधातुकमपित् (१।१।४), श्नाभ्यस्तयोरात: (६।४।११२)।

आ व द् त खरि च (८।४।५४) से 'द्' को 'त्', तथा शेष पूर्ववत् होकर—

आवत्ते बना ॥

—:०:—

परि० आङो यमहन: (१।३।२८)

आयच्छते (लम्बा होता है)

आङ् यम पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, तथा प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होकर शप् त आया।

आ यम् शप् त=आ यम् अ त इषुगमियमां छ: (७।३।७७), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१)।

आ य छ् अ त छे च (६।१।७१), आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)।

आ य तुक् छ् अ त स्तो: श्चुना श्चु: (८।४।३९) लगकर—

आ यच्छ त टित आत्मनेपदानां० (३।४।७९) से एत्व होकर—

आयच्छते बना ॥

आहते (चोट करता है)

आ हन् पूर्ववत् ही सब होकर—

आ हन् शप् त आदिप्रभृतिभ्य: शप: (२।४।७२), प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुप: (१।१।६०)।

आ हन् ते अनुदात्तोपदेश० (६।४।३७) से 'हन्' के अनुनासिक का लोप होकर

आहते बना ॥

आघ्नाते यहां भी पूर्ववत् ही "आ हन् शप् आताम्"=आ हन् आताम् रहा। गमहनजन० (६।४।९८) से 'हन्' की उपधा का लोप होकर 'आह् न् आताम्' रहा। हो हन्तेर्ञि० (७।३।५४) से हन् के 'ह्' को कुत्व, तथा पूर्ववत् ही 'आताम्' की 'टि' को एत्व होकर=आ घ्न् आत् ए=आघ्नाते बन गया ॥

—:०:—

परि० गन्धनावक्षेपण० (१।३।३२)

उत्कुरुते (चुगली करता है)

डुकृञ् प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होकर, एवं सब सूत्र लगकर—

उद् कृ त तनादिकृञ्भ्य उ: (३।१।७९) से शप् का अपवाद 'उ' हो गया।

उद् कृ उ त सार्वधातुकार्धधातुकयो: (७।३।८४), उरण्रपर: (१।१।५०)।

उद् कर् उ त अत उत्सार्वधातुके (६।४।११०) से 'त' सार्वधातुक के परे रहते 'कर्' के 'अ' को 'उ' हो गया। खरि च (८।४।५५) द् का त् होकर—

उत् कुर् उ ते=उत्कुरुते बन गया।।

एधोदकस्य उपस्कुरुते में उदक कर्म में षष्ठी कृञ: प्रतियत्ने (२।३।५३) से हुई है। इसी प्रकार काण्डं गुडस्य उपस्कुरुते यहाँ गुडस्य में भी जानें। उपस्कुरुते, यहाँ उपपूर्वक 'कृ' धातु से उपकुरुते पूर्ववत् ही होकर उपात् प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु (६।१।१३४) से 'उप' उपसर्ग से उत्तर 'कृ' धातु को सुट् आगम होकर उप सुट् कुरुते=उपस्कुरुते बन गया है।।

—:०:—

परि० सम्माननोत्० (१।३।३६)

उन्नयते (उछालता है)

णीञ् भूवादयो० (१।३।१), णो न: (६।१।६३) से 'ण्' को 'न्' होकर—

उद् नी प्रकृत सूत्र से उत्सञ्जन अर्थ में आत्मनेपद, तथा पूर्ववत् सब होकर—

उद् नी शप् त सार्वधातुकार्ध० (७।४।८४) से गुण होकर—

उद् ने अ त एचोऽयवायाव: (६।१।७५) से अयादेश।

उद्नयते यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (८।४।४४) से द् को न् होकर—

उन्नयते बना।।

—:०:—

परि० अपह्नवे ज्ञ: (१।३।४४)

अपजानीते

अप ज्ञा प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद, तथा पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

अप ज्ञा त क्र्यादिभ्य: श्ना (३।१।८१) से श्ना।

अप ज्ञा श्ना त ज्ञाजनोर्जा (७।३।७९) से शित् परे रहते 'ज्ञा' को 'जा' आदेश हुआ।

अप जा ना ते　सार्वधातुकमपित् (१।२।४), ई हल्यघोः (६।४।११३) से ईत्व होकर—
अपजानीते　बना ॥

—:०:—

परि० ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः (१।३।५७)

सन्नन्त धातुओं की सिद्धियाँ परि १।३।६ में कर आये है । अतः उन कार्यों को छोड़कर विशेष-विशेष यहाँ दिखाते हैं । 'ज्ञा' धातु से जिज्ञासते (जानना चाहता है) की सिद्धि में तो कुछ विशेष नहीं है ॥

शुश्रूषते (सुनना चाहता है)

श्रु　भूवादयो० (१।३।१), धातोः कर्मणः समानकर्त्तृकादिच्छायां वा (३।१।७) ।
श्रु सन्　आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त हुआ। पर एकाच्० (७।२।१०) से निषेध हो गया। अब सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से 'श्रु' अङ्ग को गुण प्राप्त हुआ। पर उसका भी इको झल् (१।२।६) से झलादि सन् के कित्वत् हो जाने से क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया। अज्झनगमां सनि (६।३।१६) से दीर्घ होकर—
श्रू स　पूर्ववत् द्वित्व, हलादि शेष, तथा ह्रस्वः (७।४।५६) से ह्रस्व होकर—
शुश्रूष　पूर्ववत् सनाद्यन्ता० (३।१।३२) से धातु संज्ञा होकर, प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद का विधान होकर 'शप् त' आया ।
शुश्रूष शप् त पूर्ववत् ही सब होकर—
शुश्रूषते　बन गया ॥

सुस्मूर्षते (स्मरण करना चाहता है)

स्मृ सन्　पूर्ववत् सब होकर, अज्झनगमां सनि (६।४।१६) से दीर्घ होकर—
स्मॄ सन्　उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७।१।१०२), उरण्रपरः (१।१।५०) ।
स्मुर् स　हलि च (८।२।७७) से दीर्घ होकर—
स्मूर् स　पूर्ववत् द्वित्व होकर—

स्मूर् स्मूर् स हलादि: शेष: (७।४।६०) से सकार शेष रहा, शेष का लोप हो गया।
सुस्मूर् स पूर्ववत् ही सब होकर, तथा आत्मनेपद प्रकृत सूत्र से होकर—
सुस्मूर्षते बन गया ॥

दिदृक्षते (देखना चाहता है)

दृशिर् पूर्ववत् सब होकर—
दृश् सन् पूर्ववत् गुण प्राप्त हुआ। पर हलन्ताच्च (१।२।१०) से सन् को कित्वत् होकर क्ङिति च (१।१।५) से गुण निषेध हो गया।
दृश् स पूर्ववत् द्वित्वादि कार्य, तथा सन्यत: (७।४।७९) से इत्व होकर—
दि दृश् स व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां ष: (८।२।३६) लगकर—
दि दृष् स षढो: क: सि (८।२।४१), आदेशप्रत्यययो: (८।३।५९)।
दि दृक् ष शेष पूर्ववत् होकर, तथा आत्मनेपद प्रकृत सूत्र से होकर—
दिदृक् ष शप् त = दिदृक्षते बन गया ॥

—:०:—

परि० आम्प्रत्ययवत्० (१।३।६३)

ईक्षाञ्चक्रे (उसने देखा)

ईक्ष दर्शने भूवादयो० (१।३।१), परोक्षे लिट् (३।२।११५), प्रत्यय:, परश्च (३।१।१,२)।
ईक्ष् लिट् दीर्घं च (१।४।१२), इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छ: (३।१।३६) से लिट् परे रहते आम् प्रत्यय हुआ।
ईक्ष् आम् ल् आम: (२।४।८१) से आम् प्रत्यय से उत्तर लि का लुक् हो गया, प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुप: (१।१।६०)। कृत्तद्धित० (१।२।४६), पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर—
ईक्ष् आम् सु कृन्मेजन्त: (१।१।३८), अव्ययादाप्सुप: (२।४।८२)।
ईक्षाम् कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि (३।१।४०) से आम्प्रत्ययान्त 'ईक्षाम्' से कृञ् का अनुप्रयोग, तथा पुन: लिट् प्रत्यय हुआ।
ईक्षाम् कृ लिट् अब पूर्ववत् सब सूत्र लगकर प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद का विधान हुआ। क्योंकि आम् प्रत्यय जिस से हुआ है, वह ईक्ष् धातु आत्मनेपदी है। सो उसके समान अनुप्रयोग 'कृञ्' धातु से भी आत्मनेपद होगा।
ईक्षाम् कृ त लिटस्तझयोरेशिरेच् (३।४।८१), अनेकाल्शित्सर्वस्य (१।१।५४)।
ईक्षाम् कृ एश् इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश होकर—

ईक्षाम् कृ ए लिटि धातोरनभ्यासस्य (६।१।८), द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८)।
ईक्षाम् कृ कृ ए पूर्वोऽभ्यास: (६।१।४), उरत् (७।४।६६), उरण्रपर: (१।१।५०)।
ईक्षाम् कर् कृ ए हलादि: शेष: (७।४।६०), कुहोश्चु: (७।४।६२)।
ईक्षाम् चक्रे मोऽनुस्वार: (८।३।२३), वा पदान्तस्य (८।४।५८) से विकल्प से परसवर्ण होकर—
ईक्षाञ्चक्रे, ईक्षांचक्रे बना ॥

इसी प्रकार 'ईह चेष्टायाम्' धातु से ईहाञ्चक्रे, ईहांचक्रे (उसने चेष्टा की) की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० प्रोपाभ्यां युजेर० (१।३।६४)

प्रयुङ्क्ते (प्रयोग करता है)

प्र युजिर् पूर्ववत् ही सब सूत्र लगकर, तथा प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद का विधान होकर—
प्र युज् ते रुधादिभ्य: श्नम् (३।१।७८), मिदचोऽन्त्यात् पर: (१।१।४६)।
प्र यु श्नम् ज् ते=प्र यु न ज् त श्नसोरल्लोप: (६।४।१११) से 'श्न' के 'अ' का लोप हुआ।
प्र यु न् ज् ते चो: कु: (८।२।३०), स्थानेऽन्तरतम: (१।१।४९)।
प्र यु न् ग् ते खरि च (८।४।५४) से चर्त्व होकर—
प्रयु न् क् ते नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४), अनुस्वारस्य ययि० (८।४।५७) लगकर—
प्रयुङ्क्ते बना ॥

इसी प्रकार उपयुङ्क्ते (उपयोग करता है) की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० न पादम्याङ्यमाङ्यस० (१।३।८९)

पाययते (पिलाता है)

पा भूवादयो० (१।३।१), हेतुमति च (३।१।२६), प्रत्यय:, परश्च (३।१।१,२)।
पा णिच् शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक् (७।३।३७), आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)।
पा युक् इ=पायि सनाद्यन्ता धातव: (३।१।३२) आदि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर,

तथा निगरणार्थ होने से परस्मैपद की प्राप्ति में प्रकृत सूत्र से परस्मैपद का प्रतिषेध होकर आत्मनेपद हुआ।

पायि शप् त पूर्ववत् गुण, तथा अयादेशादि होकर—

पाययते बन गया॥

आयामयते (फैलता है)

आङ् यम पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

आ यम् णिच्=इ अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि होकर—

आ याम् इ अब यहाँ घटादयो मितः धातुपाठ के सूत्र से 'यम्' के मित् होने से मितां ह्रस्वः (६।४।९२) से ह्रस्व प्राप्त हुआ। पर धातुपाठ के सूत्र यमोऽपरिवेषणे से मित् का प्रतिषेध होने से ह्रस्व नहीं हुआ।

आयामि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, तथा चलनार्थक होने से प्राप्त परस्मैपद का प्रतिषेध होकर—

आयामि शप् त=आयामे अ ते=आयामयते बन गया॥

दमयते में कुछ भी विशेष नहीं है। केवल अत उपधायाः (७।२।११६) से जो वृद्धि हुई थी, उसको जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च से मित्संज्ञा होकर, मितां ह्रस्वः से ह्रस्व हो गया है। शेष सिद्धियाँ पूर्ववत् ही वृद्धि इत्यादि होकर समझें॥

—:०:—

परि० वा क्यषः (१।३।९०)

लोहितायति (अलोहितो लोहितो भवति=जो लाल नहीं वह लाल होता है)

लोहित सु पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, लोहितादिडाज्भ्यः क्यष् (३।१।१३), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

लोहित सु क्यष्=लोहित य पूर्ववत् सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) इत्यादि सब सूत्र लगकर, तथा वा क्यषः से परस्मैपद का विधान होकर—

लोहितय शप् तिप् अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः (७।४।२५) से दीर्घ होकर—

लोहिताय अ ति=लोहितायति बना॥

पक्ष में प्रकृत सूत्र से परस्मैपद न होकर लोहितायते भी इसी प्रकार बनेगा॥

पटपटायति (पटत्-पटत् करोति=पटपट शब्द करता है)

पटत् अर्थवदधातु० (१।२।४५), डाचि द्वे भवतः (वार्तिक ८।१।१२)

इस वार्त्तिक से डाच् प्रत्यय के विषय में 'पठत्' शब्द को द्वित्व हुआ। 'डाचि' यहाँ विषय सप्तमी है, अतः डाच् आने से पूर्व ही द्वित्व हो गया।

पटत्पटत् अव्यक्तानुकरणाद्द्व्यजवरार्धादनितौ डाच् (५।४।५७), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

पटत्पटत् डाच् तस्य परमाम्रेडितम् (८।१।२) से उस द्वित्व किये हुये परवाले 'पटत्' की आम्रेडित संज्ञा हो गई। आम्रेडित संज्ञा होने से नित्यमाम्रेडिते डाचि (महाभाष्य वा० ६।१।९६) इस महाभाष्य के वार्त्तिक से जो डाच्परक आम्रेडित उसके परे रहते, उससे पूर्व वाले पटत् के त् तथा उससे परे प इन दोनों को पररूप एकादेश हुआ।

पट पटत् डा=आ यचि भम् (१।४।१८), भस्य (६।४।१२९), टेः (६।४।१४३) से टि (अत्) भाग का लोप हुआ।

पटपट् आ लोहितादिडाज्भ्यः क्यष् (३।१।१३), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)

पटपट् आ क्यष्=पटपटाय सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) इत्यादि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, तथा वा क्यषः से परस्मैपद का विधान होकर—

पटपटाय शप् तिप्=पटपटाय अ ति अतो गुणे (६।१।९४) लगकर—

पटपटायति बन गया॥

पक्ष में प्रकृत सूत्र से परस्मैपद न होकर पटपटायते भी बनेगा॥

—:o:—

परि० द्युद्भ्यो लुङि (१।३।९१)

व्यद्युतत् (विशेष रूप से प्रकाशित हुआ)

वि द्युत् लुङ् पूर्ववत् लुङ् लकार में परि० १।१।१ के अचैषीत् के समान सब सूत्र लगकर—

वि द्युत् च्लि लुङ् प्रकृत सूत्र से परस्मैपद होकर, पूर्ववत् सब सूत्र लगें।

वि अट् द्युत् च्लि तिप् पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु (३।१।५५) से च्लि को अङ् आदेश, तथा क्ङिति च (१।१।५) से गुण निषेध होकर—

वि अ द्युत् अङ् ति इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश, तथा पूर्ववत् सूत्र लगकर—

व्यद्युत् अ त्=व्यद्युतत् बना॥

इसी प्रकार अलुठत् (उसने मारा) में भी समझें॥

व्यद्योतिष्ट

वि द्यु त पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

वि अट् द्युत् सिच् त प्रकृत सूत्र से पक्ष में परस्मैपद न होकर पूर्ववत् लादेश के सूत्र लगें ।

वि अ द्युतस् स् त आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७।२।३५), इको यणचि (६।१।७४)।

व्यद्युत् इट् स् त पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से गुण हुआ ।

व्यद्योत् इ स् त आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९), ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) लगकर—

व्यद्योतिष्ट बना ।।

इसी प्रकार अलोठिष्ट में भी समझें ।।

—:०:—

परि० वृद्भ्यः स्यसनोः (१।३।९२)

वर्त्स्यति (वह बरतेगा)

वृतु वर्त्तने भूवादयो० (१।३।१), लृट् शेषे च (३।३।१३) ।

वृत् लृट् स्यतासी लृलुटोः (३।१।३३) से लृट् परे रहते स्य प्रत्यय हुआ ।

वृत् स्य लृ अब आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त हुआ । पर न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः (७।२।५९) से निषेध हो गया । पूर्ववत् लादेश के सूत्र लगकर, तथा प्रकृत सूत्र से परस्मैपद का विधान होकर—

वृत् स्य तिप् पूर्ववत् अङ्गसंज्ञा होकर, पुगन्तलघूपधस्य च (७।३ ८६) से गुण हुआ।

वर्त् स्य ति=वर्त्स्यति बना ।।

अवर्त्स्यत् (वह बरतता)

वृत् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, लिङ्निमित्ते लृङ्० (३।३।१३९) से लृङ् प्रत्यय हुआ ।

वृत् लृङ् पूर्ववत् प्रकृत सूत्र से परस्मैपद का विधान होकर स्य प्रत्यय हुआ । तथा सब सूत्र लगकर—

वृत् स्य ति पूर्ववत् अडागम, गुण, तथा इतश्च (३।४।१००) से 'ति' के इ का लोप होकर—

अवर्त्स्यत् बना ।।

विवृत्सति (बरतना चाहता है) में सन्नन्त की प्रक्रिया परि० १।२।१० के बिभित्सति के समान ही जानें। जब पक्ष में परस्मैपद प्रकृत सूत्र से नहीं होगा, तो लृट् लकार में वर्त्तिष्यते बनेगा। इस पक्ष में न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः (७।२।५६) से इट् आगम निषेध नहीं होगा। सो 'वर्त् इट् स्य त' यहां षत्व होकर वर्त्तिष्यते बनेगा॥

अवर्त्तिष्यत, विवर्त्तिषते यहां भी इट् आगम हो जावेगा। और कुछ भी विशेष नहीं है॥

—:०:—

प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः

परि० आकडारादेका संज्ञा (१।४।१)

भेत्ता (तोड़नेवाला)

भिदिर् परि० १।१।२ के चेता के समान यहां तृच् आकर—

भिद् तृच्=भिद् तु अब यहां ह्रस्वं लघु (१।४।१०) से लघु संज्ञा हुई। अर्थात् यहां लघु संज्ञा को अवकाश मिला। लघु संज्ञा होने से पुगन्तलघू० (७।३।८६) से गुण हो गया।

भेद् तृ शेष सिद्धि परि० १।१।२ के चेता के समान जानें। केवल यहां खरि च (८।४।५४) से 'द्' को 'त्' ही विशेष होकर—

भेत्ता बना॥

इसी प्रकार छेत्ता में जानें॥

शिक्षा (पठन-पाठन)

शिक्ष भूवादयो० (१।३।१), यहां 'शिक्ष्' के 'इ' की संयोगे गुरु (१।४।११) से गुरु संज्ञा हुई। अर्थात् गुरु संज्ञा को अवकाश प्राप्त हुआ। गुरु संज्ञा होने से गुरोश्च हलः (३।३।१०३) से 'अ' प्रत्यय हुआ।

शिक्ष् अ कृत्तद्धित० (१।२।४६), अजाद्यतष्टाप् (४।१।४), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

शिक्ष् अ टाप् सु=शिक्ष आ स् हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से सु का लोप होकर—

शिक्षा बना॥

इसी प्रकार भिक्षा यहां भी जानें॥

अब यहाँ अततक्षत् इस उदाहरण में दोनों गुरु लघु संज्ञायें प्राप्त हुईं, जो कि अन्यत्र सावकाश भी हैं। सो कौन हो ? इसका निर्णय प्रकृत सूत्र ने किया ॥

अततक्षत् (उसने छीला)

तक्षू — परि० १।१।५८ के आटिटत् के समान ही यहाँ सब कार्य हुआ। केवल द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) नहीं लगा।

अट् तक्ष् तक्ष् णिच् चङ् त् = अ त तक्ष् इ अ त् अब यहाँ 'तक्ष्' के 'अ' की पूर्ववत् गुरु लघु दोनों संज्ञाएँ प्राप्त हैं। सो प्रकृत सूत्र से एक ही संज्ञा होने का नियम हुआ। वह कौनसी हो, तो परत्व से गुरु संज्ञा ही हुई। गुरु संज्ञा होने से सन्वल्लघुनि चङ्परे० (७।४।९३) से लघु धात्वक्षर न होने से सन्वद्भाव नहीं होता। यदि यहाँ लघु संज्ञा भी हो जाये, तो सन्वद्भाव होकर, सन्यतः (७।४।७९) लगकर 'अतीतक्षत्' ऐसा अनिष्ट रूप बनेगा। सो 'एक ही संज्ञा हो' इस नियम से नहीं होता। और—

अ त तक्ष् अ त् = अततक्षत् बना ॥

—:०:—

परि० यू स्त्र्याख्यौ नदी (१।४।३)

कुमार्यै (कुमारी के लिये)

कुमारी — अर्थवद० (१।२।४५), पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

कुमारी ङे — कुमारी शब्द यहाँ ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग का वाचक है। अत प्रकृत सूत्र से नदी संज्ञा हो गई। नदी संज्ञा होने से आण्नद्याः (७।३।११२) से आट् आगम हो गया। आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) लगकर—

कुमारी आट् ए आटश्च (६।१।८७) से वृद्धि एकादेश होकर—

कुमारी ऐ — इको यणचि (३।१।७४) लगकर—

कुमार्यै — बना ॥

इसी प्रकार ङस्, ङसि, ङि विभक्तियों के परे रहते भी नदी संज्ञा होकर आण्नद्याः (७।३।११२) से आट् आगम होता है। यही नदी संज्ञा का फल है ॥

इसी प्रकार गौर्यै (गौरी के लिये), शार्ङ्गरव्यै; और ब्रह्मबन्धू आट् ङे = ब्रह्मबन्ध्वै, यवाग्वै की सिद्धि भी जानें ॥

—:०:—

परि० नेयङुवङ्० (१।४।४)

हे श्रीः (हे लक्ष्मी)

श्री पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, सम्बोधने च (२।३।४७) से सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति आई।

श्री सु अब यू स्त्र्याख्यौ नदी (१।४।३) से यहाँ श्री की नदी संज्ञा प्राप्त हुई। पर श्री शब्द इयङ् स्थानी है, अर्थात् 'श्री' को अचि श्नुधातु० (६।४।७७) से इयङ् आदेश होकर श्रियौ श्रियः आदि रूप बनते हैं। अतः प्रकृत सूत्र से नदी संज्ञा का प्रतिषेध हो गया। यदि नदी संज्ञा हो जाती, तो अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः (७।३।१०७) से 'श्री' को ह्रस्व हो जाता। सो अब नहीं होता।

श्री स् पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

हे श्रीः बना॥

हे भ्रूः (हे भौंहो) यहाँ भी भ्रू शब्द उवङ् स्थानी है, अर्थात् भ्रुवौ, भ्रुवः आदि रूप बनते हैं। सो पूर्ववत् ही नदी संज्ञा का प्रतिषेध होकर सिद्धि जानें॥

—:०:—

परि० ङिति ह्रस्वश्च (१।४।६)

नदी संज्ञा पक्ष में कृति शब्द से कृत्यै (कृति के लिये), धेन्वै (गाय के लिये) की सिद्धि परि० १।४।३ के कुमार्यै के समान जानें॥

कृतये

कृति पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

कृति ङे जब पक्ष में प्रकृत सूत्र से नदी संज्ञा नहीं हुई, तो शेषो घ्यसखि (१।४।७) से घि संज्ञा होकर, घेर्ङिति (७।३।१११) से गुण हुआ।

कृते ए एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अयादेश होकर—

कृतये बना॥

इसी प्रकार घि संज्ञा पक्ष में धेनवे की सिद्धि जानें॥

श्रियै (लक्ष्मी के लिये)

श्री ङे इस अवस्था में प्रकृत सूत्र से नदी संज्ञा होकर आण्नद्याः (७।३।११२) से आट् आगम हुआ।

श्री ग्राट् ए अचि श्नुधातुभ्रुवां (६।४।७७) से इयङ् आदेश होकर—
श्रियङ् आ ए=श्रिय् आ ए आटश्च (६।१।८७) सूत्र लगकर—
श्रियै बना ।।

इसी प्रकार 'भ्रुवै' में भी जानें ।।

जब पक्ष में नदी संज्ञा नहीं हुई, तो आट् आगम नहीं हुआ । शेष सब पूर्ववत् ही होकर श्रिय् ए=श्रिये, भ्रुवे बन गया ।।

—:०:—

परि० ह्रस्वं लघु (१।४।१०)

भेत्ता छेत्ता की सिद्धि परि० १।४।१ में देखें ।।

अचीकरत् (उसने कराया)

डुकृञ् परि० १।१।५८ के आटिटत् के समान सब कार्य होकर, अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि भी हो गई ।

कारि चङ् तिप्=कारि अ त् पूर्ववत् ही णि का लोप, एवं णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः (७।४।१) से उपधा ह्रस्वत्व होकर—

कर् अ त् चङि (६।१।११), णौ कृतम् स्थानिवद् भवति (महा० १।१।५८) इस ज्ञापक के अनुसार द्विर्वचनेऽचि (१।१।५९) से रूपातिदेश स्थानिवत् होकर—

क कर् अ त् पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), उरत् (७।४।६६), उरण्रपरः (१।१।५०) ।

कर् कर् अ त् हलादिः शेषः (७।४।६०), कुहोश्चुः (७।४।६२), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) सूत्र लगे, तथा अडागम हुआ ।

अट् च कर त् ह्रस्वं लघु से 'क' के 'अ' की लघु संज्ञा होने से सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे (७।४।९३) से लघु घ त्वक्षर परे रहते अभ्यास को सन्वद्भाव हुआ । सो सन्यतः (७।४।७९) से अभ्यास को इत्व होकर—

अचि कर त् दीर्घो लघोः (७।४।९४) से अभ्यास को दीर्घ होकर—

अचीकरत् बना ।।

इसी प्रकार हृञ् धातु से अजीहरत् (उसने हरण कराया) की सिद्धि जानें । केवल यहाँ कुहोश्चुः (७।४।६२) से 'ह्' को 'झ्' कर लेने पर अभ्यासे चर्च (८।४।५३) से 'झ्' को 'ज्' होता है ।।

—:०:—

परि० संयोगे गुरु (१।४।११)

कुण्डा (जलाना)

कुडि दाहे भूवादयो० (१।३।१), उपदेशेऽजनु० (१।३।२), तस्य लोप: (१।३।६)।

कुड् इदितो नुम्धातोः (७।१।५८), मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६)।

कु नुम् ड्=कुन्ड् हलोऽनन्तराः संयोगः (१।१।७), संयोगे गुरु से 'कु' की गुरु संज्ञा हुई। गुरोश्च हलः (३।३।१०३) लगकर—

कुन्ड् अ कृत्तद्धित० (१।२।४६), ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१), अजाद्यतष्टाप् (४।१।४)।

कुन्ड् अ टाप् पूर्ववत् सु आकर—

कुन्ड् अ आ सु अकः सवर्णे० (६।१।६७), हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुति० (६।१।६६), नश्चापदा० (८।३।२४), अनुस्वारस्य ययि० (८।४।५७) लगकर—

कुण्डा बना॥

इसी प्रकार 'हुडि सङ्घाते' धातु से हुण्डा (सङ्घात) की सिद्धि जानें। शिक्षा भिक्षा की सिद्धि परि० १।४।१ में देखें॥

—:०:—

परि० यस्मात् प्रत्ययविधि० (१।४।१३)

कर्त्ता हर्त्ता की सिद्धि परि० १।१।२ में देखें। अङ्ग संज्ञा होने से तृच् परे रहते गुण हो जाता है। औपगवः, कापटवः की सिद्धि परि० १।१।१ में देखें॥

करिष्यति (करेगा)

डुकृञ् परि० १।३।६२ के वर्त्स्यति के समान सब कार्य होकर—

कृ स्य ति आर्द्धधातुकस्येड्० (७।२।३५), एकाच उपदेशे० (७।२।१०), ऋद्धनोः स्ये (७।२।७०) से इट् आगम हुआ।

कृ इट् स्य ति प्रकृत सूत्र से स्य प्रत्यय के परे रहते 'कृ' की अङ्ग संज्ञा हुई। तब 'कृ' अङ्ग को सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से गुण हुआ।

कर् इ स्य ति आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से षत्व होकर—

करिष्यति बना॥

लृङ् लकार में अकरिष्यत् (वह करता) की सिद्धि पूर्ववत् ही जानें॥

करिष्याव: (हम दोनों करेंगे)

कृ इट् स्य वस् पूर्ववत् सब होकर, यहाँ स्य के परे रहते 'कृ' की अङ्ग संज्ञा होने से पूर्ववत् गुण हुआ।

कर् इ स्य वस् तथा 'तदादि'=उस धातु और प्रातिपदिक का जो आदि अक्षर वह आदि में है जिसके, उसकी प्रत्यय के परे रहते अङ्ग संज्ञा होती है। सो 'करि स्य' की वस् परे रहते अङ्ग संज्ञा हो गयी। 'करिस य' की अङ्ग संज्ञा होने से अतो दीर्घो यञि (७।३।१०१) से अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो गया। पूर्ववत् षत्व, एवं रुत्व विसर्जनीय होकर—

करिष्याव: बन गया॥

इसी प्रकार 'मस्' में करिष्याम: बनेगा॥

—:o:—

परि० न: क्ये (१।४।१५)

राजीयति (आत्मन: राजानमिच्छति=अपने राजा को चाहता है)

राजन् अर्थवदधातु० (१।२।४५) आदि पूर्ववत सब सूत्र लगकर—

राजन् अम् सुप आत्मन: क्यच् (३।१।८), प्रत्यय:, परश्च (३।१।१,२)।

राजन् अम् क्यच् सनाद्यन्ता० (३।१।३२), सुपो धातुप्रातिपदि० (२।४.७१) से विभक्ति का लोप।

राजन् य न: क्ये से क्यच् परे रहते 'राजन्' की पद संज्ञा हो गई। तो नलोप: प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) से नकार का लोप हो गया।

राजय क्यचि च (७।४।३३) से ईत्व होकर—

राजीय पूर्ववत् शप् तिप् होकर—

राजीय शप् तिप्=राजीयति बना॥

राजायते (राजा इवाचरति=राजा के समान आचरण करता है)

यहाँ 'राजन् सु' इस सुबन्त से कर्त्तु: क्यङ् सलोपश्च (३।१।११) से क्यङ् प्रत्यय, तथा पूर्ववत् ही पद संज्ञा होकर नकार का लोप हो गया। अब 'राज य' इस अवस्था में अकृत्सार्वधातु० (७।४।२५) से दीर्घ होकर 'राजाय' रहा। क्यङ् के ङित् होने से अनुदात्तङित० (१।३।१२) से आत्मनेपद होकर राजाय शप् त=राजायते बन गया॥

चर्मायति (अचर्म चर्म होता है)

यहाँ 'चर्मन' शब्द से लोहितादि० (३।१।१३) से क्यष् प्रत्यय होकर, पूर्व-

वत् ही पद संज्ञा होने से न लोप:० (८।२।७) से नकार का लोप होकर 'चर्मय' रहा। पूर्ववत् ही सब कार्य होकर चर्मायति बना। तथा वा क्यष:(१।३।९०) से पक्ष में परस्मैपद न होकर 'चर्मायते' बन गया ॥

—:०:—

परि० सिति च (१।४।१६)

भवदीय: (आपका)

भवत् ङस् समर्थानां प्रथमाद्वा (४।१।८२), त्यदादीनि च (१।१।७३) से 'भवत्' की वृद्ध संज्ञा होकर भवतष्ठक्छसौ (४।२।११४) से छस् प्रत्यय हुआ।

भवत् ङस् छस् हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोप: (१।३।९), कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१)। पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर—

भवत् छ आयनेयीनीयिय:० (७।१।२) से 'छ्' को 'ईय्' आदेश हुआ।

भवत् ईय् अ यहाँ यचि भम् (१।४।१८) से 'भवत्' की 'भ' संज्ञा प्राप्त थी, पर 'छ' के सित् होने से सिति च से पद संज्ञा हो गई। पद संज्ञा होने से झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से 'त्' को 'द्' हो गया।

भवद् ईय पूर्ववत् सु आकर रुत्व विसर्जनीय हो गया। और—

भवदीय: बना ॥

ऊर्णायु: (ऊर्णाऽस्य विद्यते=भेड़)

ऊर्णा पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

ऊर्णा सु ऊर्णाया युस् (५।२।१२३) से मत्वर्थ में युस् प्रत्यय होकर—

ऊर्णा सु युस् सुपो धातुप्रातिपदिकयो: (२।४।७१) से सु का लोप।

ऊर्णा युस् हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोप: (१।३।९) लगकर—

ऊर्णा यु यहाँ सिति च से पद संज्ञा होने से भ संज्ञा का बाध हो गया। अत: भ संज्ञा होने से जो यस्येति लोप प्राप्त था, अब नहीं हुआ। यही पद संज्ञा का फल है।

ऊर्णायु पूर्ववत् सु आकर विसर्जनीय हो गया। और—

ऊर्णायु: बना ॥

—:०—

परि० स्वादिष्वसर्व० (१।४।१७)

राजभ्याम्, राजभिः में भ्याम् भिस् के परे रहते 'राजन्' की प्रकृत सूत्र से पद संज्ञा होने से नलोपः प्राति० (८।२।७) से नकार लोप हो गया है। सभी उदाहरणों में पद संज्ञा का नकार लोप ही प्रयोजन है ॥

राजत्वम् (राजापन), राजता यहाँ 'राजन् ङस्' इस अवस्था में क्रम से तस्य भावस्त्वतलौ (५।१।११८) से त्व, तल् प्रत्यय हुये हैं। पूर्ववत् ही नकार लोप, तथा सु आकर अतोऽम् (७।१।२४) लगकर राजत्वम् बना। राज तल्=यहाँ टाप् होकर सु का लोप हल्ङ्या० (६।१।६६) से होकर राजता बन गया है ॥

राजतरः (अधिक प्रकाशमान), राजतमः (सब से अधिक प्रकाशमान) में भी राजन् शब्द से तरप् तमप् प्रत्यय के परे रहते पद संज्ञा होने से नकार लोप हो गया है। तरप् तमप् प्रत्ययों में सिद्धियाँ परि० १।१।२१ में दिखाई हैं, उसी प्रकार जानें ॥

वाग्भिः (वाणियों के द्वारा)

वाच्	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
वाच् भिस्	प्रकृत सूत्र से भिस् परे रहते 'वाच्' की पद संज्ञा होने से चोः कुः (८।२।३०), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से च् को क्, तथा झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से 'क्' को 'ग्' हो गया।
वाग् भिस्	पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—
वाग्भिः	बना ॥

—:०—

परि० तसौ मत्वर्थे (१।४।१९)

विद्युत्वान् (बिजलीवाला)

विद्युत्	अर्थवद० (१।२।४५) आदि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
विद्युत् सु	तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (५।२।९४), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)
विद्युत् सु मतुप्	सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१) से सु लोप।
विद्युत् मत्	झयः (८।२।१०) से मतुप् के मकार को वकार होकर—
विद्युत् वत्	यहाँ 'विद्युत्' तकारान्त शब्द है। सो उसकी प्रकृतसूत्र से भ संज्ञा हो गई। स्वादिष्वसर्व०(१।४।१७)से पद संज्ञा प्राप्त थी। भ संज्ञा होने से पद संज्ञा का बाध हो गया। तो झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से

'त्' को 'द्' नहीं हुआ। शेष सिद्धि चितवान् के समान परि० १।१।५ होकर—

विद्युत्वान् बना॥

इसी प्रकार उदश्वित् शब्द से उदश्वित्वान् (दही मट्ठेवाला) में भी समझें॥

यशस्वी (बहुत यशवाला)

यशस् सु यहां पूर्ववत् ही सब होकर, अस्मायामेधास्रजो विनिः (५।२।१२१) से मत्वर्थ में विनि प्रत्यय हुआ।

यशस् सु विनि सुपो धातु० (२।४।७१)।यहां भी 'यशस्' के सकारान्त होने से प्रकृत सूत्र से भ संज्ञा हो गई। सो पद संज्ञा का बाध हो गया। अतः पदाधिकार में वर्त्तमान ससजुषो रुः (८।२।६६) से 'स्' को रुत्व नहीं हुआ।

यशस् विन् पूर्ववत् 'सु' आकर—

यशस्विन् सु सो च (६।४।१३) से उपधा को दीर्घ होकर—

यशस्वीन् स् हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (६।१।६६) से सु लोप।

यशस्वीन् नलोपः प्रातिपदि० (८।२।७) से न लोप होकर—

यशस्वी बना॥

इसी प्रकार तपस्, पयस् शब्द से तपस्वी (तप करनेवाला), पयस्वी (बहुत दूधवाला) की सिद्धि जानें॥

—:०:—

परि० अयस्मयादीनि० (१।४।२०)

अयस्मयम् (लोहे का विकार)

अयस् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

अयस् ङस् द्व्यचश्छन्दसि (४।३।१४८), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

अयस् ङस् मयट् सुपो० धातु० (२।४।७१)। यहां भी प्रकृत सूत्र से भ संज्ञा होने

अयस् मय से पद संज्ञा का बाध हो गया। तो ससजुषो रुः (८।२।६६) से रुत्व नहीं हुआ। पूर्ववत् सु आकर अतोऽम् (७।१।२४) लगा। और—

अयस्मयम् बना॥

ऋक्वता

'ऋक्वता' यहां ऋच् शब्द से पूर्ववत मतुप् प्रत्यय, तथा मतुप् के 'म' को 'व',

एवं टा विभक्ति होकर 'ऋच् वत् टा = ऋच् वत् आ' रहा। अब यहां प्रकृत सूत्र से 'ऋच्' की पद संज्ञा होने से चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व होकर 'ऋक् वता' बना। पुनः पदान्त मानकर जब झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से जश्त्व करने लगे, तो इसी सूत्र से 'ऋक्' की भ संज्ञा हो गई, सो जश्त्व नहीं हुआ। अर्थात् कुत्व के प्रति ऋच् की पद संज्ञा, तथा जश्त्व के प्रति भ संज्ञा हो गई। तात्पर्य यह है कि वेद में जैसा देखा जाता है, वैसा साधु समझा जाता है। सो यहां कुत्व तथा जश्त्वाभाव दोनों देखे गये, तो भ पद दोनों संज्ञायें माननी पड़ीं। इस प्रकार ऋक्वता हो रहा॥

—:०—

परि० गतिश्च (१।४।५९)

'प्रकृत्य' की सिद्धि परि० १।१।५५ में देखें। गति संज्ञा होने से कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से समास होता है॥

प्रकृतम् (अच्छी प्रकार से किया हुआ)

डुकृञ् — पूर्ववत् परि० १।१।५ के चितः के समान सब कार्य होकर—

प्र सु कृत — गतिश्च से गति संज्ञा होकर कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से समास हो गया। पूर्ववत् सुपो धातु० (२।४।७१)।

प्रकृत — पुनः सु आकर अतोऽम् (७।१।२४) लगा।

प्रकृतम् — अब पुनः प्रकृत सूत्र से 'प्र' की गति संज्ञा होने से गतिरनन्तरः (६।२।४९) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर हुआ। अर्थात् उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट् ८१) इस फिट् सूत्र से 'प्र' उदात्त हो गया। अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२), उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५)।

प्रकृतम् — स्वरितात् संहितायाम० (८।२।३९) लगकर—

प्रकृतम् — बना॥

यत् प्रकरोति (जो प्रारम्भ करता है)

डुकृञ् धातु से परि० १।३।३२ के समान 'कृ उ तिप्' होकर पूर्ववत् 'कृ' को 'उ' आर्द्धधातुक के निमित्त से गुण हुआ। सो 'कर् उ ति' रहा। तिप् को निमित्त मानकर पुनः 'उ' को गुण होकर प्रकर् ओ ति = प्रकरोति बन गया। यहां स्वरसिद्धि निम्न प्रकार है—

यत् प्रकरोति — यहां तिङ्ङतिङः (८।२।२८) से अतिङ् 'प्र' से उत्तर 'करोति' को

सर्वनिघात प्राप्त हुआ। पर यद्वृत्तान्नित्यम् (८।१।६६) से उसका निषेध हो गया। तब 'करोति' जो कि प्रत्ययस्वर (३।१।३) से मध्योदात्त, अर्थात् 'ओ' उदात्त था, वही रहा। तिप् तो अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४) से अनुदात्त ही था।

यहां 'प्र' को उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट् ८१) से आद्युदात्त प्राप्त था। पर गतिश्च से 'प्र' की गति संज्ञा भी हो जाने से उपसर्गाश्चा० (फिट् ८१) को बाधकर तिङि चोदात्तवति (८।१।७१) से उदात्तवान् तिङ् (करोति मध्योदात्त था ही) के परे रहते 'प्र' को अनुदात्त हो गया। शेष को अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२) से अनुदात्त, एवं उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५) से उदात्त से उत्तर स्वरित होकर—

यत् प्र करोति बना ॥

—:०—

परि० ऊर्यादिच्विडाचश्च (१।४।६०)

डाजन्त पटपटाकृत्य ('पटत्-पटत्' ऐसा शब्द करके) की सिद्धि परि० १।३।६० के समान जानें। पटपटायते के समान ही 'पटपटा' ऐसा बनकर उसकी प्रकृत सूत्र से गति संज्ञा हो गई। गति संज्ञा करने का फल परि० १।४।५९ के समान ही जानें। ऊरीकृत्य (स्वीकार करके) में भी पूर्ववत् ही गति संज्ञा का प्रयोजन समझें ॥

शुक्लीकृत्य (अशुक्लं शुक्लं कृत्वा=जो सफेद नहीं उसे सफेद करके)

शुक्ल　　कृभ्वस्तियोगे संपद्य० (५।४।५०) से च्वि।
शुक्ल च्वि=व पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर अस्य च्वौ (७।४।३२) लगकर—
शुक्ली व्　　वेरपृक्तस्य (६।१।६५) होकर—
शुक्ली डुकृञ्　　यहां 'शुक्ली' च्व्यन्त शब्द है, सो उसकी प्रकृत सूत्र से गति संज्ञा होकर, ते प्राग्धातो: (१।४।७९) से 'शुक्ली' पूर्व में आया। शेष सिद्धि परि० १।४।५९ के समान ही जानें। गति संज्ञा का फल भी पूर्ववत् ही जानें। इस प्रकार—
शुक्लीकृत्य　　बना ॥

—:०:—

परि० विभाषा कृञि (१।४।७१)

गति संज्ञा पक्ष में तिरस्कृत्य, तिरः कृत्य; तिरस्कृतम्, तिरः कृतम्; यत् तिरस्करोति, यत् तिरःकरोति की सिद्धियां परि० १।४।५६ के समान ही हैं। स्वर भी उसी प्रकार रहेगा। केवल यहाँ तिरसोऽन्यतरस्याम् (८।३।४२) से 'तिरः' के विसर्जनीय को विकल्प से सकारादेश होकर दो रूप बनते हैं। जब पक्ष में गति संज्ञा नहीं होती, तो सकारादेश विकल्प से नहीं होता। क्योंकि तिरसोऽन्यत० (८।३।४२) में 'गति' की ऊपर से अनुवृत्ति है ॥

अगतिसंज्ञा पक्ष में प्रकृत सूत्र से गति संज्ञा नहीं हुई, तो 'तिरः कृत्वा' बना। क्योंकि गति संज्ञा न होने से कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से समास नहीं हुआ। समास न होने से समासेऽनञ० (७।१।३७) से क्त्वा को ल्यप् भी नहीं हो सका ॥

तिरः कृतम् यहाँ भी गति संज्ञा न होने से समास नहीं हुआ। तथा गतिरनन्तरः (६।२।४९) का स्वर नहीं लगा। तब फिषोऽन्तोदात्तः (फिट् १) से 'तिरः' अन्तोदात्त रहा। अनुदात्तं पद० (६।१।१५२) से शेष अनुदात्त हो गया। कृतम् का भी आद्युदात्तश्च (३।१।३) से 'क्त' उदात्त है, शेष अनुदात्त रहा ॥

'यत् तिरः करोति' यहाँ भी अगतिसंज्ञा पक्ष में परि० १।४।५६ के समान स्वर न होकर तिरः तथा करोति का पृथक्-पृथक् स्वर रहा। 'करोति' परि० १।४।५६ के समान ही मध्योदात्त है। तथा तिरः पूर्ववत् प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त रहा ॥

—:o:—

परि० अधिपरि अनर्थकौ (१।४।९२)

अध्यागच्छति (आता है)

अधि आङ् पूर्वक 'अध्यागच्छति' की सिद्धि परि० १।३।१५ के समान जानें। आगे अधिपरी अनर्थकौ से 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो गई, तो गति और उपसर्ग संज्ञा का बाध हो गया। अर्थात् 'अधि' की गति या उपसर्ग संज्ञा नहीं हुई। गति संज्ञा का बाध हो जाने से यहाँ गतिर्गतौ (८।१।७०) से आङ् गति के परे रहते 'अधि' को निघात नहीं हुआ। यही कर्मप्रवचनीय संज्ञा का फल है। अब उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट् ८१) से 'आङ्' को आद्युदात्त हो गया, तथा 'अधि' का 'अ' निपाता आद्युदात्ताः (फिट् ८०) से अलग उदात्त हो गया। आगे तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से अतिङ् 'आङ्' से उत्तर 'गच्छति' को निघात हो गया। उदात्ता-

दनु० (८।४।६५) से उदात्त 'आङ्' से उत्तर गच्छति के 'ग' को स्वरित हो गया, तो अध्यागच्छति ऐसा स्वर रहा। स्वरितात् संहिता० (१।२।३६) से अनुदात्तों को एकश्रुति होकर कुतो अध्यागच्छति रहा। एङ: पदान्तादति (६।१।१०५) लगकर कुतोऽध्यागच्छति (कहाँ से आता है) बन गया॥

इसी प्रकार कुत: पर्यागच्छति (कहां से आता है) में भी जानें॥

—:०:—

परि० विभाषा कृञि (१।४।९७)

अधिकरिष्यति

अधिकरिष्यति की सिद्धि परि० १।४।१३ के करिष्यति के समान जानें। यहाँ स्वरसिद्धि निम्न प्रकार है:—

यदत्र मामधिकरिष्यति यहाँ तिङ्ङतिङ: (८।१।२८) से 'करिष्यति' को सर्वनिघात प्राप्त हुआ। पर उसका निपातैर्यद्यदिहन्त० (८।१।३०) से निषेध हो गया। तब प्रकृत सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से गति उपसर्ग-संज्ञा का बाध होकर, तिङि चोदात्तवति (८।१।७१) नहीं लग सका। यद्यपि करिष्यति उदात्तवान तिङ् परे था। तब निपाता आद्युदात्ता: (फिट् ८०) से अधि का 'अ' उदात्त हुआ। तथा शेष को निघात होकर, पूर्ववत् उदात्त से उत्तर स्वरित हो गया।

अधि तथा 'करिष्यति' का प्रत्ययस्वर से 'ष्य' उदात्त था, सो वही रहा। इस प्रकार दोनों के पृथक्-पृथक् स्वर रहे। और—

यदत्र मामधिकरिष्यति बना॥

जब पक्ष में कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं हुई, तो गतिश्च (१।४।५९) से 'अधि' की गति संज्ञा होकर तिङि चोदात्तवति (८।१।७१) लग गया। सो गतिसंज्ञक 'अधि' को निघात हो गया। शेष करिष्यति का स्वर पूर्ववत् ही रहा। इस प्रकार यदत्र मामधिकरिष्यति ऐसा स्वर रहा॥

॥इति प्रथमोऽध्याय:॥

—:०:—

अथ द्वितीयाध्याय-परिशिष्टम्

परि० सुबामन्त्रिते० (२।१।२)

कुण्डेन अटन् (कुण्ड के द्वारा हे घूमते हुए)

उदाहरण में 'अटन्' सम्बोधनान्त पद है। अतः इसकी सामन्त्रितम् (२।३।४८)से आमन्त्रित संज्ञा हुई है। आमन्त्रित संज्ञा होने से आमन्त्रितस्य च(८।१।१९)से 'कुण्डेन' पद से उत्तर 'अटन्' को सर्वानुदात्त प्राप्त हुआ। तब प्रकृत सूत्र ने कहा कि "स्वरविषय में आमन्त्रित पद परे रहते पूर्व सुबन्त को पराङ्गवत्=पर अङ्ग के समान ही माना जाये"। सो यहाँ 'अटन्' आमन्त्रित पद के परे रहते 'कुण्डेन' सुबन्त को अटन् के समान ही आमन्त्रित पद माना गया, अर्थात् एक ही पद माना गया। ऐसी अवस्था में पद से उत्तर आमन्त्रित पद नहीं रहा, तो आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से निघात न हो सका। तब षाण्ठिक=छठे अध्याय के आमन्त्रितस्य च (६।१।१९२) से आद्युदात्त हुआ, जो कि पराङ्गवद्भाव होने से 'कुण्डेन' के 'कु' को ही उदात्त हुआ। शेष को अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२) से अनुदात्त होकर उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८।४।६५) से उदात्त से उत्तर अनुदात्त 'डे' को स्वरित हो गया। पीछे 'डे' स्वरित से उत्तर, सब अनुदात्तों को स्वरितात्संहितायाम० (१।२।३९) से एकश्रुति हो गई है॥

इसी प्रकार 'परशुना वृश्चन्' (कुल्हाड़ी के द्वारा काटते हुये हे मनुष्य) में 'वृश्चन्' आमन्त्रित पद है, एवं 'परशुना' सुबन्त है। तथा मद्राणां राजन्, कश्मीराणां राजन् (हे मद्र देश तथा कश्मीर देश के राजा) में राजन् आमन्त्रित पद, एवं मद्राणां कश्मीराणां सुबन्त हैं। सो प्रकृत सूत्र से पराङ्गवद्भाव हो जाने से पूर्ववत् सुबन्त पदों 'परशुना' आदियों को आद्युदात्त हो गया। यही पराङ्गवद्भाव का प्रयोजन है। शेष स्वरसिद्धि पूर्ववत् ही है॥

—:०:—

परि० द्विगुश्च (२।१।२२)

पञ्चराजम् (पञ्चानां राज्ञां समाहारः=पाँच राजाओं का समुदाय)

पञ्चन् आम् राजन् आम् तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (२।१।५०) से समाहार गम्यमान होने से समास हुआ। कृत्तद्धित० (१।२।४६),सुपो धातुप्रा० (२।४।७१) लगकर—

पञ्चन्राजन् सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः (२।१।५१) से सङ्ख्या पूर्व में होने से समास की द्विगु संज्ञा हुई। तब द्विगुश्च ने द्विगुसंज्ञक की तत्पुरुष संज्ञा कर दी। तत्पुरुष संज्ञा होने से राजाहःसखिभ्यष्टच् (५।४।९१) से राजन् अन्तवाले प्रातिपदिक को तत्पुरुष समास में समासान्त टच् प्रत्यय हो गया।

पञ्चराजन् टच् नस्तद्धिते (६।४।१४४), अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३)।

पञ्चराज् अ पुनः पूर्ववत् सु आया।

पञ्चराज सु अतोऽम् (७।१।२४) लगकर—

पञ्चराज अम् अमि पूर्वः (६।१।१०३) होकर—

पञ्चराजम् बना॥

इसी प्रकार 'दशराजम्' की सिद्धि भी जानें॥

द्व्यहः (द्वे अहनी समाहृते=दो दिन का समुदाय)

द्वि औ अहन् औ पूर्ववत् समासादि कार्य, एवं प्रकृत सूत्र से समास की तत्पुरुष संज्ञा होने से टच् प्रत्यय हुआ।

द्विअहन् टच् नस्तद्धिते (६।४।१४४), अह्नष्टखोरेव (६।४।१४५), अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३)।

द्विअह् अ यहाँ अह्नोऽह्न एतेभ्यः (५।४।८८) से अहन् को 'अह्न' आदेश भी पाता है, जिसका न सङ्ख्यादेः समाहारे (५।४।८९) से निषेध हो जाता है। रात्राह्नाहाः पुंसि (२।४।२९) से यहाँ पुंल्लिङ्ग भी होता है। इको यणचि (६।१।७४) लगकर—

द्व्यह् अ पूर्ववत् 'सु' आकर—

द्व्यहः बना॥

इसी प्रकार 'त्रीणि अहानि समाहृतानि=त्र्यहः' की सिद्धि जानें॥

पञ्चगवम् (पञ्चानाम् गवाम् समाहारः=पांच गायों का समुदाय)

पञ्चन् आम् गो आम् पूर्ववत् समासादि कार्य, एवं प्रकृत सूत्र से समास की तत्पुरुष संज्ञा होने से गोरतद्धितलुकि (५।४।९२) से समासान्त टच् प्रत्यय हुआ।

पञ्च गो टच् एचोऽयवायावः (६।१।७५) लगकर—

पञ्चगव् अ पूर्ववत् सब होकर—

पञ्चगवम् बना॥

इसी प्रकार 'दशगवम्' की सिद्धि भी जानें॥

परि० स्वयं क्तेन (२।१।२४)

स्वयंधौतौ पादौ (स्वयं धुले हुए पैर)

धावु गतिशुद्धयोः भूवादयो० (१।३।१), उपदेशे० (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।६)।
धाव् 　धातोः (३।१।६१), निष्ठा (३।२।१०२), क्तक्तवतू० (१।१।२५)।
धाव् क्त 　आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५) से इट् प्राप्त हुआ, जिसका यस्य विभाषा (७।२।१५) से निषेध हो गया। क्योंकि यस्य विभाषा का अर्थ है-"जिस धातु को विकल्प से इट् विधान कहीं पर भी किया हो, उस धातु को निष्ठा परे रहते इट् आगम नहीं होता"। यहां धावु धातु को उदित् होने से उदितो वा (७।२।५६) से क्त्वा परे रहते विकल्प से इट् आगम प्राप्त था। अतः यहां निष्ठा परे रहते इट् निषेध हो गया।
धाव् त 　च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६।४।१९) से वकार के स्थान में ऊठ् आदेश होकर—
धा ऊठ् त=धा ऊ त अब आद् गुणः (६।४।८४) से यहां गुण एकादेश प्राप्त हुआ। पर एत्येधत्यूठ्सु (६।१।८६) ने गुण को बाध कर वृद्धि एकादेश विधान कर दिया। इस प्रकार—
धौत 　बना। अब—
स्वयं सु धौत सु 　स्वयं क्तेन से स्वयं अव्यय का धौत क्तान्त सुबन्त के साथ समास होकर, कृत्तद्धित०(१।२।४६),सुपो धातुप्राति०(२।४।७१)लगकर-
स्वयंधौत 　पूर्ववत् 'औ' विभक्ति आकर—
स्वयंधौत औ 　वृद्धिरेचि (६।१।६५) लगकर—
स्वयंधौतौ पादौ बना॥

'स्वयंभुक्तम्' की सिद्धि में कोई विशेष नहीं है॥

—:०:—

परि० कालाः (२।१।२७)

अहरतिसृताः मुहूर्त्ताः

अति पूर्वक 'सृ गतौ' धातु से क्त प्रत्यय आकर 'अतिसृत' क्तान्त शब्द बना है। सो इसी क्तान्त शब्द के साथ कालवाची 'अहन्' का समास हुआ है। अहन् अम् अतिसृज जस्, कालाः से समास होकर, पूर्ववत् सब कार्य हुए।

अहन् अतिसृत रोऽसुपि (८।२।६६) से अहन् के अकार को रेफ होकर—
अहरतिसृताः बना ॥

इसी प्रकार "रात्रि अतिसृताः=रात्र्यतिसृताः' यणादेश होकर पूर्ववत् जानें ॥
छः मुहूर्त होते हैं, जो कि क्रम से चलते हैं। जिनमें से कुछ अहर्=दिन में, अर्थात् उत्तरायण में चलते हैं। तथा कुछ रात्रि में, अर्थात् दक्षिणायण में चलते हैं। सो उनका उत्तरायण में ही, या दक्षिणायन में ही एक साथ चलना कभी नहीं हो पाता। अतः अनत्यन्त संयोग है। अहरतिसृताः का अर्थ 'दिन=उत्तरायण को उल्लङ्घन किया' ऐसा है। एवं रात्र्यतिसृताः का अर्थ रात्रि=दक्षिणायन को उल्लंघन किया ऐसा है। अत्यन्तसंयोग होने पर तो अगले सूत्र अत्यन्तसंयोगे च (२।१।२८) से ही समास होता है ॥

रात्रिसङ्क्रान्ताः (दक्षिणायन को पार किया)

सम् पूर्वक 'क्रमु पादविक्षेपे' धातु से क्त आकर'सम् क्रम् त'रहा। यस्य विभाषा (७।२।१५) से इट् प्रतिषेध, एवं अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति (६।४।१५) से अनुनासिकान्त अङ्ग क्रम को दीर्घ होकर 'संक्राम् त' बना। नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४), एवं अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८।४।५७) से 'म्' को 'न्' होकर संक्रान्त बना। अब यह क्तान्त शब्द है। सो कालवाची 'रात्रि' शब्द का इसके साथ पूर्ववत् समास हो गया है। अनत्यन्तसंयोग भी पूर्ववत् ही समझें, कुछ भी विशेष नहीं ॥

मासप्रमितः

प्र पूर्वक 'माङ् माने' धातु से आदिकर्मणि क्तः कर्त्तरि च (३।४।७१) से कर्त्ता में क्त प्रत्यय होकर 'प्र मा त' बना। द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति (७।४।४०) से 'मा' के 'आ' को इत्व होकर 'प्रमित' बन गया है। अब पूर्ववत् "मास अम् प्रमित सु" यहाँ प्रकृत सूत्र से समास होकर मासप्रमितश्चन्द्रमाः बन गया। मासप्रमितश्चन्द्रमाः का अर्थ है—'प्रतिपद के चन्द्रमा ने मास को बनाना (क्रम से बढ़ना) प्रारम्भ किया'। इस प्रकार यहाँ मास के एक देश प्रतिपद का चन्द्रमा के साथ योग दिखाया गया है, न कि पूरे मास का, सो अनत्यन्तसंयोग है ॥

—:०:—

परि० तद्धितार्थोत्तरपद० (२।१।५०)

पौर्वशालः (पूर्वस्यां शालायां भवः=पूर्व की शाला में होनेवाला)

पूर्वा ङि शाला ङि तद्धितार्थोत्तरपद[1]समाहारे च, तत्पुरुषः (२।१।२१), समर्थः पद-
विधिः, (२।१।१), कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रातिपदिकयोः
(२।४।७१) लगकर–

पूर्वाशाला स्त्रियाः पुंवद्भाषित० (६।३।३२) से, अथवा सर्वनाम्नो वृत्ति-
मात्रे पुंवद्भावः (महा० २।२।२८) इस भाष्यवचन से 'पूर्वा'
को पुंवद्भाव होकर—

पूर्वशाला दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः (४।२।१०६), तत्र भवः (४।३।५३),
तद्धिताः (४।१।७६), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) होकर—

पूर्वशाला ञ तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७) से वृद्धि ।

पौर्वशाला अ पूर्ववत् भ संज्ञा होकर, यस्येति च (६।४।१४८) लगा ।

पौर्वशाल् अ पूर्ववत् प्रातिपदिक संज्ञा, एवं सब सूत्र लगकर सु आया ।

पौर्वशाल सु तथा रुत्व विसर्जनीय होकर—

पौर्वशालः बना ॥

इसी प्रकार आपरशालः (दूसरी शाला में होनेवाला) में भी समझें ॥

पाञ्चनापितिः (पञ्चानां नापितानामपत्यम् = पांच नाइयों की सन्तान)

पञ्चन् आम् नापित आम् पूर्ववत् प्रकृत सूत्र से तद्धितार्थ में समासादि होकर, तथा
नलोपः प्राति० (८।२।७) लगकर–

पञ्चनापित अत इञ् (४।१।९५) से अपत्यार्थ में इञ् प्रत्यय हुआ ।

पञ्चनापित इञ् पूर्ववत् वृद्धि, एवं यस्येति लोप होकर–

पाञ्चनापित् इ पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, एवं रुत्व विसर्जनीय होकर—

पाञ्चनापितिः बना ॥

पञ्चकपालः (पांच कपालों पर रखके पकाया हुआ पुरोडाश)

पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः–
पञ्चन् सुप् कपाल सुप् पूर्ववत् तद्धितार्थ में समास इत्यादि होकर—

---

१. उदाहरण में पहले समास प्रकृत सूत्र से हो, तो प्रातिपदिक संज्ञा होकर तद्धित प्रत्यय आवे । तथा तद्धितार्थ में समास कहा है, सो समास जब तक तद्धित प्रत्यय न आवे, तब तक प्राप्त ही नहीं है । यहां इतरेतराश्रय दोष आता है । अतः 'तद्धितार्थे' में विषयसप्तमी मानकर, 'तद्धित का विषय आगे आयेगा' ऐसा अर्थ मानकर पहले समास करके, पश्चात् तद्धितोत्पत्ति करते हैं ।

पञ्चकपाल　संस्कृतं भक्षाः (४।२।१५) से अण् प्रत्यय हुआ ।

पञ्चकपाल अण् सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः (२।१।५१) से द्विगु संज्ञा होकर, अब द्विगोर्लुगनपत्ये (४।१।८८) से द्विगुसम्बन्धी 'अण्' प्रत्यय का लुक् हो गया ।

पञ्चकपाल　पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, एवं रुत्व विसर्जनीय होकर—

पञ्चकपालः　बना ॥

पूर्वशालाप्रियः (पूर्व का भवन जिसको प्रिय है)

पूर्वा शाला प्रिया यस्य—

पूर्वा सु शाला सु प्रिया सु यहाँ अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४) से पहले पूर्वा शाला प्रिया इन तीन पदों का बहुव्रीहि समास हुआ। कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१) ।

पूर्वाशालाप्रिया अब तद्धितार्थोत्तरपद० से 'प्रिया' उत्तरपद के परे रहते 'पूर्वाशाला' का तत्पुरुष समास हुआ। तत्पुरुष समास होने से बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (६।२।१) से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर नहीं हुआ। किन्तु 'पूर्वशाला' के 'ला' के 'आ' को समासस्य (६।१।२१७) से उदात्त हुआ है। विभक्ति का लुक् तो बहुव्रीहि समास होने से ही हो जाता। सो यहाँ स्वर करना ही तत्पुरुष समास का फल है। यहाँ यह समझना चाहिये कि तत्पुरुष संज्ञा 'पूर्वशाला' की है। सो 'ला' ही समास के अन्त में हुआ, न कि 'प्रिया' का 'या'। अतः 'ला' को ही उदात्त हुआ है। अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (६।१।१५२), उदात्तादनुदा० (८।४।६५), स्वरितात् संहितायां० (१।२।३९) लगकर=

पूर्वाशालाप्रिया स्त्रियाः पुंवद्भाषित० (६।३।३२) से, अथवा पूर्ववत् भाष्यवचन से पूर्वा को पुंवद्भाव होकर—

पूर्वशालाप्रिया गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१।२।४८) से 'प्रिया' को ह्रस्व होकर—

पूर्वशालाप्रिय पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, एवं रुत्व विसर्जनीय होकर—

पूर्वशालाप्रियः बना ॥

इसी प्रकार अपरा शाला प्रिया यस्य स=अपरशालाप्रियः (दूसरी शाला प्रिय है जिसको) की सिद्धि जानें ॥

पञ्चगवधनः (पाँच गायें हैं धन जिसका)

पञ्च गावो धनं यस्य—

पञ्चन् जस् गो जस् धन सु पूर्ववत् ही पहले त्रिपद बहुव्रीहि होकर—

पञ्चगोधन पश्चात् 'धन' शब्द के परे रहते प्रकृत सूत्र से 'पञ्चगो' की तत्पुरुष संज्ञा हो गई । तत्पुरुष संज्ञा होने से गोरतद्धितलुकि (५।४।९२) से समासान्त टच् प्रत्यय हुआ ।

पञ्चगो टच् धन=पञ्चगो अ धन एचोयवायावः (६।१।७५) लगकर—

पञ्चगवधन पूर्ववत् सु आकर, रुत्व विसर्जनीय होकर—

पञ्चगवधनः बना ॥

पूर्व सिद्धि के समान यहां भी 'पञ्चगो' की तत्पुरुष संज्ञा होने से समासस्य (६।१।२१७) से अन्तोदात्त करना भी प्रयोजन है, सो पूर्ववत् समझ लें । यहाँ टच् का प्रयोजन ही दिखाया है ॥

इसी प्रकार पञ्चनावप्रियः (पांच नौकायें प्रिय हैं जिसको) की सिद्धि भी जानें । केवल यहां नावो द्विगोः (५।४।९९) से समासान्त टच् प्रत्यय होता है, यही विशेष है । पर प्रक्रिया सब वही है ॥

पञ्चपूली (पांच पूलियों का समूह)

पञ्चानाम् पूलानाम् समाहारः—

पञ्चन् आम् पूल आम् पूर्ववत् प्रकृत सूत्र से समाहार गम्यमान होने पर समास, एवं अन्य कार्य होकर—

पञ्चपूल सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः (२।१।५१) से द्विगु संज्ञा होकर, अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते (वा० २।४।३०) इस वार्तिक से अकारान्त उत्तरपदवाले 'पञ्चपूल' से स्त्रीलिङ्ग होकर, स्त्रियाम् (४।१।३), द्विगोः (४।१।२१) से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय हो गया ।

पञ्चपूल ङीप्=ई यस्येति च (६।४।१४८) लगकर—

पञ्चपूल् ई द्विगुरेकवचनम् (२।४।१) से एकवद्भाव, अर्थात् एक अर्थ की वाचकता होकर पूर्ववत् 'सु' आ गया । जिसका हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६८) से लोप होकर—

पञ्चपूली बना ॥

इसी प्रकार अष्टानाम् अध्यायानां समाहारः=अष्टाध्यायी की सिद्धि भी समझें । अष्टन् आम् अध्याय आम्='अष्टअध्याय ङीप्=ई' रहा । सवर्ण दीर्घ होकर अष्टाध्यायी बन गया ॥

पञ्चकुमारि (पांच कुमारियों का समूह), यहां "पञ्चन् आम् कुमारी आम्" इस अवस्था में पूर्ववत् समास इत्यादि होकर 'पञ्चकुमारी रहा । द्विगुरेकवचनम् (२।

१।४१) मे एकवद्भाव, तथा स नपुंसकम् (२।४।१७) से नपुंसक लिङ्ग होकर ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य (१।२।४७) से पञ्चकुमारी के 'ई' को ह्रस्व हो जाता है। पूर्ववत् 'सु' आकर स्वमोर्नपुंसकात् (७।१।२३) से 'सु' का लुक् होकर पञ्चकुमारि बना। इसी प्रकार दशकुमारि की सिद्धि भी जानें॥

—:०:—

द्वितीयः पादः

परि० कर्त्तरि च (२।२।१६)

शायिका (सोने की बारी)

शीङ् भूवादयो० (१।३।१), हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।६)।
शी धातोः (३।१।९१), पर्यायार्हर्णोत्पत्तिषु ण्वुच् (३।३।१११)।
शी ण्वुच्=वु यस्मात् प्रत्ययवि० (१।४।१३), अङ्गस्य (६।४।१), युवोरनाकौ (७।१।१)।
शी अक अचो ञ्णिति (७।२।११५), वृद्धिरादैच् (१।१।१) लगकर—
शै अक एचोऽयवायावः (६।१।७५), कृत्तद्धित० (१।२।४६), अजाद्यतष्टाप् (४।१।४)।
शायक टाप्=आ प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः (७।३।४४) लगकर—
शाय् इ क आ=शायिका बना॥

अब यह 'शायिका' शब्द कृदन्त है। अतः शायिका का प्रयोग होने पर कर्तृकर्मणोः कृति (२।३।६५) से कर्त्ता में, अर्थात् 'तव' 'मम' शब्दों में षष्ठी विभक्ति हुई है। अब 'तव शायिका' यहाँ षष्ठी (२।२।८) से समास प्राप्त था। पर 'तव' में कर्त्ता में षष्ठी है, और शायिका अकान्त शब्द है। सो कर्त्तरि च से समास का निषेध हो गया॥

'जागरिका' में 'जागृ' धातु से पूर्ववत् ण्वुच् प्रत्यय होकर जाग्रोऽविचि० (७।३।८५) से जागृ को गुण होकर 'जागर् वु' रहा। शेष सब पूर्ववत् होकर जागरिका बन गया। पूर्ववत् 'मम जागरिका' (मेरे जागने की बारी) में समास प्राप्त था। प्रकृत सूत्र से निषेध हो गया है॥

—:०:—

परि० नित्यं क्रीडाजीविकयो: (२।२।१७)

पुष्पभञ्जिका

'भञ्ज' धातु से संज्ञायाम् (३।३।१०९) से ण्वुल् प्रत्यय होकर भञ्ज ण्वुल् रहा। पूर्ववत् वु को अक, टाप् प्रत्यय, एवं प्रत्ययस्थात्० (७।३।४४) से इत्व होकर भञ्जिका बना है। अब यहाँ 'पुष्प आम् भञ्जिका सु' इस अवस्था में प्रकृत सूत्र से समास होकर पुष्पभञ्जिका बना ॥

इसी प्रकार 'प्र' पूर्वक 'चिञ्' धातु से पूर्ववत् ण्वुल् प्रत्यय, एवं अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि, तथा सब कार्य पूर्ववत् होकर प्रचायिका बना। पश्चात् पुष्प के साथ इस सूत्र से षष्ठी समास हुआ ॥

यहाँ दोनों उदाहरणों में पहले पुष्प का भञ्जिका, वा प्रचायिका के साथ इस सूत्र से षष्ठी समास होकर पुनः उद्दालक एवं वारण का पुष्पभञ्जिका एवं पुष्पप्रचायिका के साथ षष्ठी (२।२।८) सूत्र से षष्ठी समास होता है ॥

उद्दालक लोगों के पुष्प खेड़ने का कोई खेल 'उद्दालक पुष्पभञ्जिका' कहा जाता है। इसी प्रकार वारण लोगों के पुष्पचयन करने की किसी क्रीडाविशेष का नाम 'वारणपुष्पप्रचायिका' है ॥ जो कोई दाँत की कलाविशेष से जीविका चलाये वह 'दन्तलेखक', एवं जो नाखून की कलाविशेष से जीविका चलाये, वह 'नखलेखक' है। दन्त एवं नख षष्ठ्यन्त पद हैं, सो प्रकृत सूत्र से नित्य ही समास हो जाता है ॥

—:०:—

परि० सङ्ख्ययाऽव्यया० (२।२।२५)

उपदशा: (दशानां समीपे ये=दसों के जो समीप, अर्थात् नव वा एकादश)

उप सु दशन् आम् सङ्ख्ययाऽव्ययासन्ना० से सङ्ख्या का उप अव्यय के साथ बहुव्रीहि समास हुआ। सुपो धातु० (२।४।७१)।

उपदशन् — बहुव्रीहि समास होने से बहुव्रीहौ सङ्ख्येये डजबहुगणात् (५।४।७३) से समासान्त डच् प्रत्यय हुआ।

उपदशन् डच्=अ — टे: (६।४।१४३), अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३)।

उपदश् अ — कृत्तद्धित० (१।२।४६), पूर्ववत् जस् विभक्ति आकर—

उपदश जस् — चुटू (१।३।७), तस्य लोप: (१।३।९), प्रथमयो: पूर्वसवर्ण: (६।१।९८) लगकर—

उपदशास — पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—

उपदशा: — बना ॥

इसी प्रकार विंशतेः समीपे ये=उपविंशाः: (बीस के समीप) की सिद्धि जानें। भेद केवल इतना है कि यहाँ ति विंशतेर्डिति (६।४।१४२) से विंशति के 'ति' का लोप होता है। तथा अतो गुणे: (६।१।९४) से पररूप एकादेश हो जाता है ।।

दशानाम् आसन्नाः=आसन्नदशाः (दश के निकट) दशानाम् अदूरम्=अदूरदशाः की सिद्धि भी पूर्ववत् ही है ।।

द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः (दो या तीन) में भी पूर्ववत् डच प्रत्यय, टि भाग का लोप होकर द्वित्र् अ जस् द्वित्राः बना है ।।

त्रयो वा चत्वारो वा त्रिचतुराः (तीन या चार), यहाँ इतना ही विशेष है कि समासान्त डच प्रत्यय न होकर चतुरोऽच्प्रकरणे त्र्युपाभ्यामुपसङ्ख्यानम् (वा० ५।४।७७) इस वार्त्तिक से त्रि पूर्व में रहते चतुर् शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय होता है। अच् प्रत्यय होने से यहाँ टे: (६।४।१४३) से टि भाग का लोप भी न हो सका। सो "त्रिचतुर् अच् जस्=त्रिचतुराः" बन गया ।।

—:०:—

चतुर्थः पादः

परि० रात्राह्नाहाः पुंसि (२।४।२९)

द्विरात्रः (द्वे रात्री समाहृते=दो रात्रियां)

द्वि औ रात्रि औ तद्धितार्थोत्तर० (२।१।५०), कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातु० (२।४।७१)।

द्विरात्रि अहः सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः (५।४।८७) लगकर—

द्विरात्रि अच् यस्येति च (६।४।१४८), रात्राह्नाहाः पुंसि से पुंल्लिङ्ग होकर—

द्विरात्र अ पूर्ववत् 'सु' विभक्ति आकर, रुत्व विसर्जनीय होकर—

द्विरात्रः बना ।।

इसी प्रकार त्रिरात्रः की सिद्धि जानें। चतूरात्रः की सिद्धि में केवल यह विशेष है कि 'चतुर' के रेफ का लोप रो रि (८।३।१४) से हो जाता है। तत्पश्चात् ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण: (६।३।१०९) से 'चतु' के 'उ' को दीर्घ होकर चतूरात्रः बना है ।।

पूर्वाह्णः (अह्नः पूर्वो भागः=दिन का पूर्ण भाग)

पूर्व सु अहन् ङस् पूर्वापराधरोत्तर० (२।२।१) से समास होकर, कृत्तद्धित० (१।२।४६), सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) लगकर—

पूर्ण अहन् राजाहःसखि० (५।४।९१), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

पूर्ण अहन् टच् अह्नोऽह्न एतेभ्यः (५।४।८८) से अहन् को अह्न आदेश।

पूर्व अह्न अ=पूर्वाह्न अह्नोऽदन्तात् (८।४।७) से णत्व होकर—

पूर्वाह्ण पूर्णवत् प्रकृत सूत्र से पुँल्लिङ्ग, एवं 'सु' आकर विसर्जनीय होकर—

पूर्वाह्णः बना ॥

इसी प्रकार अपराह्णः (दिन का अपर भाग), मध्याह्नः (दिन का मध्य भाग) की सिद्धि जानें। केवल मध्याह्नः में रेफ से उत्तर न होने से णत्व नहीं होगा, यही विशेष है ॥

द्व्यहः, त्र्यहः की सिद्धि परि० २।१।२२ में देखें ॥

—:o:—

परि० अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति (२।४।३६)

प्रजग्ध्य (अच्छी तरह खाकर)

प्र अद पूर्णवत् परि० १।१।५५ के प्रकृत्य के समान सारी सिद्धि होकर—

प्र अद् ल्यप् अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति से अद् को जग्धि आदेश होकर (जग्धि में इकार उच्चारणार्थ है, वस्तुतः 'जग्ध्' आदेश होता है)—

प्रजग्ध् य=प्रजग्ध्य बना ॥

इसी प्रकार विजग्ध्य (विशेष रूप से खाकर) की सिद्धि जानें ॥

जग्धः (खाया हुआ)

अद भूवादयो० (१।३।१), निष्ठा (३।२।१०२), क्तक्तवत् निष्ठा (१।१।२५)।

अद् क्त पूर्णवत् प्रकृत सूत्र से 'जग्ध्' आदेश होकर—

जग्ध् त झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) से 'त' को 'ध' हुआ।

जग्ध् ध झलां जश् झशि (८।४।५२) से पूर्ण धकार को 'द्' हुआ।

जग्द् ध झरो झरि सवर्णे (८।४।६४) से 'द' का लोप होकर—

जग्ध पूर्णवत् सु आकर, रुत्व विसर्जनीय होकर—

जग्धः बना ॥

इसी प्रकार क्तवतु प्रत्यय में 'जग्ध् तवत्' होकर पूर्ववत् ही 'त्' को 'ध्', तथा पूर्व धकार को दकार, एवं 'द्' का लोप होकर 'जग् धवत्' रहा। शेष सिद्धि परि० १।१।५ के चितवान् के समान होकर जग्धवान् बना है ॥

—:०:—

परि० लुङ्सनोर्घस्लृ (२।४।३७)

अघसत् (उसने खाया)

अद भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), लुङ् (३।३।११०)।
अद् लुङ् लुङ्सनोर्घस्लृ से अद् को घस्लृ आदेश होकर —
घस्लृ ल् शेष कार्य परि० १।१।१ के अचैषीत् के समान होकर —
अट् घस् च्लि त् पुषादिद्युताद्यॢदितः० (३।१।५५) से घस के लृदित होने से च्लि के स्थान में अङ् होकर—
अ घस् अङ् त् = अघसत् बन गया ॥

जिघत्सति (भोजन करना चाहता है)

अद यहां परि० १।२।८ के रुरुदिषति के समान सन् प्रत्यय आकर, प्रकृत सूत्र से घस्लृ आदेश होकर द्वित्वादि कार्य हुये।
घस् घस् सन् एकाच उपदेशे० (७।२।१०) से इट् आगम का निषेध।
घ घस् स कुहोश्चुः (८।४।६२), अभ्यासे चर्च (८।४।५३), सन्यतः (७।४।७९), सः स्यार्धधातुके (७।४।४९) से सकार का तकार।
जिघत् स सनाद्यन्ता० (३।१।३२) पूर्ववत् शप् तिप् आकर—
जिघत् स शप् तिप् अतो गुणे (६।१।९४) लगकर—
जिघत्सति बना ॥

—:०:—

परि० वेञो वयिः (२।४।४१)

उवाय (उसने बुना)

वेञ् भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), परोक्षे लिट् (३।२।११५)।
वेञ् लिट् आर्धधातुके (२।४।३५) वेञो वयिः से वेञ् के स्थान में वय् आदेश होकर—
वय् लिट् पूर्ववत् लिट् के स्थान में तिप् आकर—

वय् तिप परस्मैपदानां णलतु० (३।४।८२) से तिप् के स्थान में णल् ।
वय् णल् लिटि धातोरनभ्यासस्य (६।१।८) से द्वित्व ।
वय् वय् अ लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् (६।१।१७) से अभ्यास को सम्प्रसारण हुआ ।
उ अ य् वय् अ सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४), हलादिः शेषः (७।४।६०) ।
उवयअ अत उपधायाः (७।२।११६) लगकर—
उवाय बना ॥

ऊवतुः

वेञ पूर्ववत् ही वेञ को 'वय्' आदेश, तथा 'तस्' के स्थान में अतुस् आदेश होकर—
वय् अतुस् असंयोगाल्लिट् कित् (१।२।५), ग्रहिज्यावयिव्यधि० (६।१।१६) से य् को सम्प्रसारण प्राप्त हुआ। पर उसके अपवाद सूत्र लिटि वयो यः (६।१।३७) ने कहा कि लिट् परे रहते 'वय्' के यकार को सम्प्रसारण न हो, किन्तु वश्चास्यान्यतरस्यां० (६।१।३८) से 'य' को 'व' हो। सो य को 'व्', एवं पूर्व व को सम्प्रसारण होकर, लिटि धातोरनभ्यासस्य (६।१।८) से द्वित्व हुआ ।
उव् उव् अतुस् हलादिः शेषः (७।४।६०), अकः सवर्णे० (६।१।९७) ।
ऊवतुस् पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय होकर—
ऊवतुः बना ॥

इसी प्रकार 'उस्' में ऊवुः बना है ॥

वश्चास्यान्यत० (६।१।३८) में अन्यतरस्याम् कहने से पक्ष में जब 'य्' को 'व' नहीं हुआ। तो पूर्ववत् ही ऊयतु ऊयुः बन गया ॥

'वयि' आदेश के अभाव में ववौ, ववतुः ववुः रूप बनते हैं। आदेच० (६।१।६५) से आत्व सर्वत्र होता है। ववौ में आत औ णलः (७।१।३४) से णल् को औकार हुआ है। तथा अन्यत्र आतो लोपः० (६।४।६४) से आकार का लोप होता है। वेञः (६।१।४०) से सम्प्रसारण का निषेध हो जाता है ॥

—:०:—

परि० हनो वध० (२।४।४२)

वध्यात् (वह वध करे)

हन भूवादयो (१।३।१) धातोः, (३।१।९१), आशिषि लिङ्लोटौ (३।३।१७३)

हन् लिङ्	यासुट् परस्मपदेषू० (३।४।१०३) से यासुट् आगम, तथा प्रकृत सूत्र से 'हन्' को वध आदेश होकर—

वध यासुट् लिङ् पूर्ववत् लादेश होकर—

वध यास् ति	अतो लोप: (६।४।४८), इतश्च (३।४।१००)।

वध् यास् त्	सुट् तिथो: (३।४।१०७) से सुडागम।

वध् यास् सुट् त्=वध् यास् स् त्	स्को: संयोगाद्योरन्ते च (८।२।२९), हलोऽनन्तरा: संयोग: (१।१।७)।

वध् या स् त्	पुन: स्को: संयोगाद्यो० (८।२।२९) सूत्र लगकर—

वध्यात्	बना ॥

आगे द्विवचन में भी 'वध् यास् तस्' पूर्ववत् होकर, तस्थस्थमिपां तान्तन्ताम: (३।४।१०१) से तस् को ताम् आदेश होकर वध्यास्ताम् बना है । बहुवचन में 'झि' को झर्जुस् (३।४।१०८) से जुस् होकर वध् यास् जुस्=वध् यास् उस् रहा । रुत्व विसर्जनीय होकर वध्यासु: बन गया ॥

—:०—

परि० विभाषा लुङ्लृङो: (२।४।५०)

अध्यगीष्ट की सिद्धि परि० १।२।१ में देखें ॥

अध्यैष्ट

अधि इङ्	अध्यगीष्ट की सिद्धि के समान ही लुङ्, सिच्, लादेश होकर, यहाँ आडजादीनाम् (६।४।७२) से आट् आगम हुआ है ।

अधि आट इ ष् ट सार्वधातु० (७।३।८४) से गुण ।

अधि आ ए ष्ट आटश्च (६।१।८७) से वृद्धि एकादेश, तथा इको यणचि (६।१।७४) से य होकर—

अध्यैष्ट	बना ॥

द्विवचन में पूर्ववत् सब होकर, 'आताम्' आकर—अध्यै ष् आताम्=अध्यैषाताम् बन गया ॥

अध्यगीष्यत (वह पढ़ेगा)

अधि इङ्	भूवादयो० (१।३।१), धातो: (३।१।९१), लिङ्निमित्ते लृङ् क्रिया० (३।३।१३९)।

अधि इ लुङ् प्रकृत सूत्र से इङ् को गाङ् आदेश होकर—
अधि ।गाङ् लृ पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
अधि अट् गा त स्यतासी लृलुटो: (३।१।३३) से स्य होकर—
अधि अ गा स्य त गाङ् कुटादिभ्यो० (१।२।१), घुमास्थागापा० ६।४।६६)।
अधि अ गी स्य त आदेशप्रत्यययो: (८।३।५९), इको यणचि (६।१।७४) लगकर—
अध्यगीष्यत बना ॥

पक्ष में जब गाङ् आदेश नहीं हुआ, तो पूर्ववत् ही सब होकर "अधि आट् इङ् स्य त=अधि आ इ ष्य त रहा। धातु को गुण, आट् के साथ वृद्धि एकादेश, तथा यण् होकर अध्यैष्यत बना ॥ द्विवचन में अध्यै ष्य आताम् पूर्ववत् होकर, आतो ङित: (७।२।८१) से आताम् के 'आ' को 'इय्' होकर 'अध्यै ष्य इय् ताम्' बना। आद् गुण: (६।१।८४) से गुण, तथा लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) लगकर अध्यैष्येताम् बन गया ॥

—:०:—

परि० णौ च संश्चङो: (२।४।५१)

अधिजिगापयिषति (पढ़ाने की इच्छा करता है)

अधि इङ् भूवादयो० (१।३।१), उपसर्गा: क्रियायोगे (१।४।५८), हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् प्रत्यय होकर—
अधि इ णिच्=इ सनाद्यन्ता धातव: (३।१।३२), धातो: कर्मण: समानक० (३।१।७), प्रत्यय:, परश्च (३।१।१,२)।
अधि इ इ सन् अब यहाँ सन्परक णिचपरक इङ् धातु है। सो इङ् को णौ च संश्चङो: से गाङ् आदेश हुआ।
अधि गा इ स अर्त्तिह्रीव्लीरी० (७।३।३६), आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५)।
अधि गा पुक् इ स आर्धधातुकस्येड् वलादे: (७।२।३५) से सन् को इट् आगम हुआ।
अधि गा प् इ इट् स अब सन्यङो: (६।१।९), एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१) से प्रथम एकाच् 'गाप्' को द्वित्व हुआ।
अधि गाप् गाप् इ इ स पूर्वोऽभ्यास: (६।१।४), हलादि: शेष: (७।४।६०)।
अधि गा गाप् इ इ स कुहोश्चु: (७।४।६२) लगकर—
अधि जा गाप् इ इ स ह्रस्व: (७।४।५९), सन्यत: (७।४।७९)।
अधि जि गापि इ स आर्धधातुकं शेष: (३।४।११४), सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४)।
अधि जि गापे इ स एचोयवायाव: (६।१।७५), आदेशप्रत्यययो: (८।३।५९)।

अधिजिगापयिष .सनाद्यन्ता० (३।१।३२) से 'जिगापयिष' की धातु संज्ञा होकर पूर्ववत् 'शप् तिप्' आकर—
अधिजिगापयिष शप् तिप् अतो गुणे (६।१।९४) लगकर--
अधिजिगापयिषति बना ॥

जब इङ् को गाङ् आदेश नहीं हुआ, तब पूर्ववत् सब कार्य होकर 'अधि इङ् णिच् सन्' बना। णिच् को निमित्त मानकर इङ् को 'ऐ' अचो ञ्णिति (२।७। ११५) से वृद्धि हुई। तब क्रीङ्जीनां णौ (६।१।४७) से 'ऐ' को आत्व हुआ। सो 'अधि आ पुक् इ इट् स=अधि आ पि इ स रहा। पूर्ववत् गुण एवं अयादेश होकर 'अधि आपयिष' बना। अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२) से द्वितीय एकाच् को द्विवचनेऽचि (१।१।५८) से रूपातिदेश होने से पि पय् ऐसा द्वित्व होकर 'अधि आ पि पय् इ ष' रहा। यणादेश एवं पूर्ववत् शप् तिप् होकर 'अध्यापिपयिषति' बन गया॥

अध्यजीगपत् (उसने पढ़ाया)

अधि इङ् पूर्ववत् णिच् प्रत्यय आकर—
अधि इ णिच् सनाद्यन्ता धातव: ((३।१।३२) से 'इ इ' की धातु संज्ञा हुई। लुङ् (३।२।११०), प्रत्यय:, परश्च (३।१।१,२)।
अधि इ इ लुङ् च्लि लुङि (३।१।४३),णिश्रिद्रुस्रुभ्य: कर्त्तरि चङ् (३।१।४८)।
अधि इ इ चङ् ल् अब यहां चङ्परक णि होने से प्रकृत सूत्र से इङ् को गाङ् आदेश हुआ।
अधि गा इ अ ल् अर्त्तिह्रीव्लीरीक्नूयी० (७।३।३६), आद्यन्तौ टकितौ।
अधि गा पुक् इ अ ल् णेरनिटि (६।४।५१) लगकर—
अधि गाप् अ ल् णौ चङ्युपधाया ह्रस्व: (७।४।१) से चङ्परक 'गाप्' अङ्ग की उपधा को ह्रस्व हुआ।
अधि गप् अ ल् चङि (६।१।११), एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१)।
अधि गप् गप् अ ल् पूर्ववत् अभ्यासकार्य होकर—
अधि ज गप् अ ल् सन्वल्लघुनि चङ्परे० (७।४।९३) से अभ्यास को लघु धात्वक्षर परे रहते सन्वद्भाव हुआ। सन्वद्भाव होने से सन्यत: (७। ४।७९) से अभ्यास को इत्व हो गया।
अधि जि गप् अ ल् दीर्घो लघो: (७।४।९४) से अभ्यास को दीर्घ हुआ।
अधि जी गप् अ ल् पूर्ववत् लादेश होकर तिप् आया।

अधि जी गप तिप् पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (६।४।७१) लगा।

अधि अट् जी गप ति इको यणचि (६।१।७४), इतश्च (३।४।१००) लगकर—

अध्यजीगपत् बना ॥

जब पक्ष में गाङ् आदेश नहीं हुआ, तो निम्न प्रकार से अध्यापिपत् बना—

अध्यापिपत्

अधि इङ् पूर्ववत् ही णिच् आकर, तथा इङ् को वृद्धि होकर—

अधि ऐ णिच् क्रीङ्जीनां णौ (६।१।४७) से आत्व होकर, पूर्ववत् अर्तिह्रीव्ली० (७।३।३६) से पुक् आगम हुआ।

अधि आ पुक् इ =अधि आपि सनाद्यन्ता० (३।१।३२) से 'आपि' की धातु संज्ञा होकर लुङ् प्रत्यय हुआ।

अधि आपि लुङ् च्लि लुङि (३।१।४३), णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ् (३।१।४८)।

अधि आपि चङ् ल् पूर्ववत् हीं णिलोप, तथा उपधाह्रस्वत्व होकर—

अधि अप् अ ल् चङि (६।१।११), अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२) से अजादि के द्वितीय एकाच् को द्वित्व प्राप्त हुआ। पर द्वितीय वर्ण 'प्' के अच्वाला न होने से द्वित्व न हो सका। तब पूर्ववत् द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) से रूपातिदेश होकर द्वित्व हुआ।

अधि अपि प् अ ल् पूर्ववत् लादेश होकर—

अधि अपिप तिप् पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर आडजादीनाम् (६।४।७२) लगा।

अधि आट् अपिप त् आटश्च (६।१।८६), इको यणचि (६।१।७४) लगकर—

अध्यापिपत् बना ॥

—:०:—

परि० ण्यक्षत्रियार्षञितो० (२।४।५८)

कौरव्यः पिता

कुरु अर्थवदधातु० (१।२।४५), ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१)। पूर्ववत् ङस् विभक्ति आकर—

कुरु ङस् तस्यापत्यम् (४।१।९२), कुर्वादिभ्यो ण्यः (४।१।१५१) से गोत्रापत्य में ण्य प्रत्यय हुआ। अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् (४।१।१६२) से पौत्रप्रभृति अपत्य की गोत्रसंज्ञा होती है। सो ण्य प्रत्यय गोत्रसंज्ञक हुआ।

कुरु ङस् ण्य	सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२।४।७१), यचि भम् (१।४।१८) ।
कुरु य	ओर्गुणः (६।४।१४६) लगकर—
कुरो य	तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७), वृद्धिरादैच् (१।१।१) ।
कौरो य	वान्तो यि प्रत्यये (६।१।७६) लगकर—
कौरव्य	पूर्ववत् सु आकर, रुत्व विसर्जनीय होकर—
कौरव्यः	बना ॥

यह कौरव्य शब्द गोत्रापत्य में अर्थात् पौत्रादि को कहने में प्रयुक्त होता है। सो 'कौरव्य' युवापत्य की अपेक्षा से पिता हुआ। अतः 'कौरव्यः पिता' कहलाया॥

कौरव्यः (पुत्रः)

कौरव्य	पूर्ववत् ही 'कौरव्य' बनकर, कौरव्य शब्द से युवापत्य को कहने में अत इञ् (४।१।९५) से इञ् प्रत्यय हुआ। जीवति तु वंश्ये युवा (४।१।१६३)।
कौरव्य इञ्	यहाँ इञ् प्रत्यय युवापत्य में ण्यप्रत्ययान्त से आया है। अतः ण्यक्षत्रियार्षञितो० से इस इञ् का लुक् हो गया।
कौरव्य	पूर्ववत् 'सु' आकर, रुत्व विसर्जनीय होकर—
कौरव्यः पुत्रः	बना ॥

इस प्रकार युवापत्य को कहने में भी कौरव्यः ही बना। गोत्रापत्य की अपेक्षा से युवापत्य (चौथा) पुत्र था। अतः 'कौरव्यः पुत्रः' बना। वस्तुतः इस सूत्र का 'कौरव्यः पुत्रः' ही उदाहरण है। पर कौरव्यः पिता (गोत्रापत्य का) यह उदाहरण गोत्रापत्य तथा युवापत्य दोनों में एक जैसा प्रयोग बनता है, यह साम्य दिखाने के लिये है। इसी प्रकार और उदाहरणों में भी जानें॥

श्वाफल्कः पुत्रः

'श्वाफल्क' शब्द क्षत्रियवाची है। सो ऋष्यन्धकवृ० (४।१।११४) से गोत्रापत्य में अण् प्रत्यय हुआ, तो 'श्वाफल्कः पिता' कहलाया। पुनः अत इञ्(४।१।९५) से युवापत्य में इञ हुआ। जिसका कि प्रकृत सूत्र से लुक् होकर 'श्वाफल्कः पुत्रः' प्रयोग बना॥

'वसिष्ठ' ऋषिवाची शब्द से पूर्ववत् अण् आकर वासिष्ठः पिता बना। तत्पश्चात् इञ् आकर, तथा इञ् का लुक् होकर 'वासिष्ठः पुत्रः' बन गया॥

बैदः पुत्रः

'बिद' शब्द से गोत्रापत्य में अनृष्यानन्तर्ये० (४।१।१०४) से अञ् प्रत्यय

आया। सो वृद्धि आदि होकर बैदः पिता बना। पुनः पूर्ववत् युवापत्य में इञ् होकर बैद के ञित्प्रत्ययान्त होने से उसका लुक् प्रकृत सूत्र से हो गया। सो बैदः पुत्रः बन गया॥

तैकायनिः पुत्रः

'तिक' शब्द से तिकादिभ्यः फिञ् (४।१।१५४) से फिञ् प्रत्यय गोत्रापत्य में हुआ। आयनेयीनीयियः० (७।१।२) से फ् को 'आयन्' होकर 'तिक आयन् इ' रहा। पूर्ववत् वृद्धि आदि होकर 'तैकायनिः पिता' बना। पश्चात् इस ञित् गोत्र-प्रत्ययान्त 'तैकायनि' शब्द से प्राग्दीव्यतोऽण् (४।१।८३) से अण् प्रत्यय हुआ। जिसका कि प्रकृत सूत्र से लुक् होकर 'तैकायनिः पुत्रः' बना॥

—:०:—

परि० तद्राजस्य बहुषु० (२।४।६२)

अङ्गाः (अङ्ग के बहुत से पुत्र-पुत्रियां)

अङ्गस्यापत्यानि बहूनि—

अङ्ग — अर्थवदधातु० (१।२।४५), पूर्ववत् सब सूत्र लगकर ङस् विभक्ति आई।

अङ्ग ङस् — द्वयञ्मगधकलिङ्गसूर० (४।१।१६८) से द्वयच् मानकर बहुत अपत्यों को कहने में अण् प्रत्यय हुआ।

अङ्ग ङस् अण् सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) लगकर—

अङ्ग अ — ते तद्राजाः (४।१।१७२) से अण् प्रत्यय की तद्राजसंज्ञा हो गई। तद्राजसंज्ञा होने से तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् से बहुत्व अर्थ में (बहुत अपत्यों को कहने में) अण् प्रत्यय आया था, आये अण् का लुक् हो गया। प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१।१।६०)।

अङ्ग — कृत्तद्धित० (१।२।४६), पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, तथा बहुषु बहुवचनम् (१।४।२१) लगकर बहुत्व विवक्षा में 'जस्' विभक्ति आई।

अङ्ग जस् = अस् प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) आदि सूत्र लगकर—

अङ्गाः — बना॥

अङ्ग के एक या दो अपत्य को कहना होगा, तो प्रकृत सूत्र से अण् प्रत्यय का लुक् नहीं होगा। सो आङ्गः आङ्गौ प्रयोग बनेंगे। पर बहुत अपत्यों को कहने में पूर्ववत् अङ्गाः बनेगा॥

इसी प्रकार बङ्गाः, मगधाः, कलिङ्गाः की सिद्धि जानें॥

परि० आगस्त्यकौ० (२।४।७०)

अगस्तयः (अगस्त्य ऋषि के पौत्र-प्रपौत्र)

अगस्त्यस्य गोत्रापत्यानि बहूनि—

अगस्त्य अर्थवदधातु० (१।२।४५), पूर्ववत् ङस् विभक्ति आकर—

अगस्त्य ङस् तस्यापत्यम् (४।१।९२), ऋष्यन्धकवृष्णि० (४।१।११४) से ऋषि-वाची अगस्त्य शब्द से बहुत अपत्यों को कहने अर्थ में अण् प्रत्यय हो गया ।

अगस्त्य ङस् अण् सुपो धातुप्राति० (२।४।७१) लगकर—

अगस्त्य अ अब प्रकृत सूत्र से अण् का लुक् हुआ । पुनः इसी सूत्र से अगस्त्य प्रकृति को 'अगस्ति' आवेश भी हो गया ।

अगस्ति पूर्ववत् बहुवचन में जस् आकर—

अगस्ति जस् जसि च (७।३।१०९) से गुण, तथा अयादेश, एवं रुत्व विसर्जनीय होकर—

अगस्तयः बना ॥

एक या दो अपत्य को कहने में अण् का लुक्, एवं अगस्ति आदेश न होने से आगस्त्यः आगस्त्यौ ही बनेगा ॥

इसी प्रकार कुण्डिनाः में 'कुण्डिनी' शब्द से बहुत्व अपत्य विवक्षा में गर्गा-दिभ्यो यञ् (४।१।१०५) से यञ् प्रत्यय हुआ । प्रकृत सूत्र से यञ् का लुक् हो गया । पुनः प्रकृत सूत्र से ही 'कुण्डिनी' को कुण्डिनच् आदेश भी हो गया । पूर्ववत् हो जस् विभक्ति आकर कुण्डिनच् जस्=कुण्ठिन अस्, प्रथमयोः पूर्व० (६।१।९८) आदि लगकर कुण्डिनाः बना ॥

एक वचन द्विवचन में कौण्डिन्यः, कौण्डिन्यौ ही बनेगा ॥

—:०:—

परि० सुपो धातुप्रा० (२।४।७१)

पुत्रीयति (आत्मनः पुत्रमिच्छति=अपने पुत्र को चाहता है)

पुत्र अम् सुपः आत्मनः क्यच् (३।१।८) प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) ।

पुत्र अम् क्यच् सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) से धातु संज्ञा हुई ।

पुत्र अम् य सुपो धातुप्रातिपदिकयोः से धातु के अन्तर्गत जो सुप् (अम्) उसका लुक् हो गया । प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१।१।६०) ।

पुत्रय क्यचि च (७।४।३३) से ईत्व होकर—
पुत्रीय पूर्ववत् शप् तिप् आकर—
पुत्रीय शप् तिप् =पुत्रीय अ ति अतो गुणे (६।१।६४) लगकर—
पुत्रीयति बना ।।

इसी प्रकार घटमिवाचरति=घटीयति (किसी छोटे वर्त्तन को घड़े जैसा व्यवहार करता है) में उपमानादाचारे (३।१।१०) से क्यच प्रत्यय हुआ है। शेष सब पूर्ववत् ही जानें ।।

कष्टश्रितः आदि की सिद्धि परि० १।२।४३ में देखें ।।

—:०:—

परि० यङोऽचि च (२।४।७४)

लोलुवः, पोपुवः, मरीमृजः, सरीसृपः की सिद्धि परि० १।१।४। में देखें ।।

पापठीति (बार बार पढ़ता है)

पठ भूवादयो० (१।३।१) धातोरेकाचो हलादेः० (३।१।२२), प्रत्ययः परश्च (३।१।१,२)।
पठ यङ् यङोऽचि च में बहुल की अनुवृत्ति होने से अच् प्रत्यय के बिना भी यङ् का लुक् हो गया। तब प्रत्ययलक्षण से यङन्त मानकर सन्यङोः (६।१।६) से द्वित्व हुआ।
पठ् पठ् पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), पूर्ववत् अभ्यासकार्य होकर—
प पठ् दीर्घोऽकितः (७।४।८३) से अभ्यास को दीर्घ होकर—
पा पठ् सनाद्यन्ताः धातवः (३।१।३२), पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
पापठ शप् तिप् चर्करीतञ्च (धातुपाठ अजमेर सं० पृ० १८) इस सूत्र से यङ्लुगन्त धातुओं से परस्मैपद, तथा अदादिवत् कार्य, अर्थात् अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२) से शप् का लुक् हो जाता है।
पापठ तिप् यङो वा (७।३।६४) से तिप् हलादि पित् सार्वधातुक को ईट् का आगम होकर—
पापठ् ईट् ति=पापठीति बना ।।

इसी प्रकार 'लप' धातु से लालपीति (बार-बार बोलता है) की सिद्धि जानें ।।

—:०:—

परि० जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२।४।७५)

परि० १।१।६० में जुहोति की सिद्धि देखें।

बिभर्त्ति (भरण-पोषण करता है)

डुभृञ् धारणपोषणयोः भूवादयो० (१।३।१), आदिर्ञिटुडवः (१।३।५), हलन्त्यम् (१।३।३), तस्य लोपः (१।३।९) ।

भृ — पूर्ववत् ही सब सूत्र लगकर—

भृ शप् तिप् — जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२।४।७५), प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१।१।६०)।

भृ ति — परि० १।१।६० के समान ही द्वित्व, उरत् तथा रपरत्व होकर—

भर् भृ ति — भृञामित् (७।४।७६) से अभ्यास को इत्व होकर, हलादिः शेषः (७।४।६०), अभ्यासे चर्च (८।४।५३)।

बि भृ ति — सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४), अदेङ् गुणः (१।१।२) होकर—
बि भर् ति = बिभर्ति बना ॥

नेनेक्ति (शुद्ध करता है)

णिजिर् — भूवादयो० (१।३।१), णो नः (६।१।६३)। पूर्ववत् ही सब सूत्र लगकर—

निज् निज् ति = नि निज् ति निजां त्रयाणां गुणः श्लौ (७।४।७५) से अभ्यास को गुण होकर—

ने निज् ति — पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से उपधा को गुण होकर—

ने नेज् ति — चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व होकर—

ने नेग् ति — खरि च (८।४।५४) से चर्त्व होकर—

नेनेक्ति — बना ॥

—:०:—

परि० बहुलं छन्दसि (२।४।७६)

दाति, धाति

'डुदाञ् दाने, डुधाञ् धारणपोषणयोः' ये जुहोत्यादिगण की धातुएँ हैं। सो शप् को 'श्लु' प्राप्त था, पर यहाँ बहुल कहने से श्लु नहीं हुआ। शप् का लुक् हो गया। शप् को श्लु न होने से 'दा' 'धा' को श्लौ (६।१।१०) से द्वित्व भी नहीं हुआ। सो दाति धाति बन गया ॥

विवष्टि

'वश कान्तौ' धातु अदादिगण की है। सो शप् का लुक् अदि० (२।४।७२) से होकर, भाषाविषय में वष्टि प्रयोग बनता है। पर वेदविषय में प्रकृत सूत्र से बहुल कहने

से अदादिगण की होते हुये भी शप् को श्लु हो गया है। तो श्लौ (६।१।१०) से द्वित्व भी होकर 'वश्-वश् तिप्' रहा। अन्य अभ्यासकार्य, तथा बहुलं छन्दसि (७।४।७८) से अभ्यास को इत्व होकर वि वश् ति रहा। व्रश्चभ्रस्जसृज० (८।२।३६) से 'श्' को 'ष्', तथा ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से ष्टुत्व होकर 'विवष्टि' बन गया॥

विवक्ति

पूर्ववत् ही 'वच परिभाषणे' धातु अदादिगण की है। सो भाषाविषय में 'वक्ति' प्रयोग बनता है। पर वेद-विषय में प्रकृत सूत्र से शप् को श्लु होकर पूर्ववत् ही कार्य हुये, तो 'वि वच् ति' रहा। चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व होकर 'विवक्ति' बन गया॥

—:o:—

परि० मन्त्रे घसह्वरणश० (२।४।८०)

'अक्षन्' की सिद्धि परि० १।१।५७ में देखें॥

मा ह्वः

ह्वृ कौटिल्ये — भूवादयो० (१।३।१)। पूर्ववत् लुङ् लकार में सब सूत्र लगकर—

ह्वृ च्लि तिप् — प्रकृत सूत्र से च्लि का लुक् होकर—

मा ह्वृ त् — न माङ्योगे (६।४।७४) से अट् आगम का निषेध, तथा सार्वधातुका० (७।३।८४), उरण्रपरः (१।१।५०) से गुण एवं रपरत्व हुआ।

मा ह्वर् त् — हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से 'त्' लोप, तथा विसर्जनीय होकर—

मा ह्वः — बना॥

प्रणङ् मर्त्यस्य

णश् अदर्शने — भूवादयो० (१।३।१), णो नः (६।१।६३)। पूर्ववत् सब कार्य होकर—

प्र नश् च्लि तिप् — प्रकृत सूत्र से च्लि का लुक्, तथा उपसर्गादसमासेऽपि० (८।४।१४) से नश् के 'न' को णत्व होकर—

प्र णश् त् — पूर्ववत् न माङ्योगे (६।४।७४) से अट् आगम का अभाव हुआ। क्योंकि मन्त्र "मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य" यहाँ 'माङ्' का योग है। हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) लगकर—

प्र णश् — नशेर्वा (८।२।६३) से कुत्व='ख्' होकर, झलां जशो० (८।२।३९) से 'ग्' हुआ।

प्रणग् मर्त्यस्य यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (८।४।४४) लगकर—
प्रणङ् मर्त्यस्य बना ॥

आवः

'ह्वः' के समान ही 'आङ् पूर्वक वृञ्' धातु से 'आवः' की सिद्धि जानें। केवल यहाँ अट् आगम का अभाव माङ् का योग न होने से नहीं होता। सो अट् आगम होकर सवर्ण दीर्घ करके 'आवः' बनता है ॥

धक्

'दह भस्मीकरणे' पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

दह् च्लि सिप् पूर्ववत् माङ् का योग होने से अट् आगम का अभाव, एवं प्रकृत सूत्र से च्लि का लुक् होकर—

दह् स्	हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से 'स' का लोप होकर—
दह्	दादेर्धातोर्घः (८।२।३२) से 'ह्' को 'घ' होकर—
दघ	एकाचो बशो भष्झषन्तस्य० (८।२।३७) से 'द' को 'ध्' हुआ।
धघ	झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से 'घ्' को 'ग्'।
धग्	वावसाने (८।४।५५) से 'ग्' को क् होकर—
धक्	बना ॥

आप्राः

आङ् प्रा	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

आ अट् प्रा च्लि सिप् प्रकृत सूत्र से च्लि का लुक् होकर—

आ अ प्रा स्	सवर्ण दीर्घ, एवं रुत्व विसर्जनीय होकर—
आप्राः	बना ॥

वर्क्

वृज्	पूर्णवत् सब सूत्र लगकर, तथा प्रकृत सूत्र से 'च्लि' का लुक् होकर—
वृज् तिप्	पूर्ववत् अट् आगम का अभाव, तथा पुगन्तलघू० (७।३।८६) से गुण होकर—
वर्ज् त्	हल्ङ्यादि लोप, एवं चोः कुः (८।२।३०) से 'ज्' को 'ग्' होकर—
वर्ग्	वावसाने (८।४।५५) से चर्त्व होकर—
वर्क्	बन गया ॥

क्षन्

डुकृञ्	पूर्ववत् सब लुङ् के कार्य होकर—

अट् कृ च्लि झि प्रकृत सूत्र से च्लि का लुक्, एवं झोऽन्तः (७।१।३) लगकर—
अ कृ अन्ति=अ कृ अन्त् संयोगान्तस्य लोपः (८।२।२३) लगकर—
अ कृ अन् इको यणचि (६।१।७४) लगकर—
अक्रन् बना ॥

अग्मन्

'गम्लृ' धातु से पूर्ववत् ही 'झि' में अग्मन् रूप जानें। केवल यहाँ गमहनजन० (६।४।९८) से उपधा लोप ही विशेष होगा ॥

अज्ञत

'जन' धातु से पूर्ववत् 'अट् जन् च्लि झ' रहा। प्रकृत सूत्र से च्लि का लुक्, एवं गमहनजन० (६।४।९८) से उपधा लोप होकर 'अ ज् न् झ' रहा। आत्मनेपदेष्वनतः (७।१।५) से 'झ' को 'अत' आदेश, तथा स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) से श्चुत्व होकर 'अज्ञत' बन गया ॥

इति द्वितीयाऽध्याय-परिशिष्टम् ॥

—:०:—

अथ तृतीयाध्याय-परिशिष्टम्

परि० आद्युदात्तश्च (३।१।३)

कर्त्तव्यम् (करना चाहिये)

डुकृञ् भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), धातोः (६।१।१५६)।

कृ तव्यत्तव्यानीयरः (३।१।९६) से तव्य प्रत्यय हुआ। प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।

कृ तव्य आद्युदात्तश्च से तव्य के 'त' का 'अ' उदात्त हुआ। सो सति शिष्ट-स्वरो बलीयान् (महाभाष्य ६।१।१५२) से धातुस्वर हट गया। अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (६।१।१५२)।

कृ तव्य सार्वधातुकार्ध ० (७।३।८४), उरण्रपरः (१।१।५०)।

कर्तव्य पूर्ववत् सु विभक्ति आकर—

कर्तव्य सु अतोऽम् (७।१।२४) से 'सु' को अम् हुआ।

कर्तव्य अम् अमि पूर्वः (६।१।१०३), अचो रहाभ्यां द्वे (८।४।४५), उदात्तादनु-दात्त० (८।४।६५) लगकर—

कर्त्तव्यम बना॥

तैत्तिरीयम् (तित्तिरि प्रोक्त ग्रन्थ)

तित्तिरि अर्थवदधातु० (१।२।४५), फिषोऽन्त उदात्तः (फिट् १)। पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

तित्तिरि टा तित्तिरिवरतन्तुखण्डि० (४।३।१०२) से तेन प्रोक्तम् (४।३।१०१) अर्थ में छण् प्रत्यय हुआ। प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) लगकर—

तित्तिरि टा छण् सुपो धातुप्राति० (२।४।७१)। पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर आयने-यीनीयियः० (७।१।२) से छ को 'ईय्' हुआ।

तित्तिरि ईय् अ स्थानिवदादेशो० (१।१।५५) से 'ईय्' आदेश प्रत्यय माना गया, तो आद्युदात्तश्च से ईय् का 'ई' उदात्त हुआ। सति शिष्टस्वरो बलीयान् से प्रातिपदिक का उदात्त स्वर हट गया। अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (६।१।१५२), तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७), यस्येति च (६।४।१४८) लगकर

तैत्तिरीय कृत्तद्धित० (१।२।४६)। पूर्ववत् सु आकर, सु को अम् हो गया।

तै॒त्ति॒रीय् अम् अमि पूर्वः (६।१।१०३) से पूर्वरूप हो गया। और उदात्तादनुदा० (८।४।६५) लगकर—

तै॒त्ति॒रीयम्॑ बना ॥

—:०:—

परि० अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४)

दृ॒षदौ॑ (दो सिल)

दृ विदारणे भूवादयो० (१।३।१), धातोः (६।१।१५६), दृणातेः षुग्घ्रस्वश्च (उणा० १।१३१) से दृ धातु को ह्रस्व, षुक् आगम एवं 'अदि' प्रत्यय हुआ।

दृ षुक् अदि॑=दृष् अद् अब यहां आद्युदात्तश्च से 'अद्' का 'अ' उदात्त हुआ। सो सतिशिष्टस्वरो० से धातुस्वर हट गया। अनुदात्तं पद० (६।१।१५२) लगकर—

दृ॒षद् कृत्तद्धित० (१।२।४६)। पूर्ववत् 'औ' विभक्ति आकर—

दृ॒षद॒ औ अनुदात्तौ सुप्पितौ से 'औ' के सुप् होने से अनुदात्त हो गया।

दृ॒षदौ॑ उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८।४।६५) लगकर—

दृ॒षदौ॑ बना ॥

इसी प्रकार जस् विभक्ति में दृ॒षदः॑ बनेगा ॥

प॒च॑ति (पकाता है)

'डुपचष् पाके' धातु से पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'पच् शप् तिप्' रहा। धातोः (६।१।१५६) से पच् के 'अ' को उदात्त हुआ। शप् तिप् आकर शप् तिप् के पित् होने से अनुदात्तौ सुप्पित्तौ से उनको अनुदात्त हो गया। सो 'पच् अ॒ ति॒' यह स्वर रहा। पुनः उदात्तादनुदात्तस्य० (८।४।६५) से शप् के 'अ' को स्वरित, और स्वरितात् संहिता० (१।२।३९) से 'ति' को एकश्रुति होकर पच॑ति बना॥

इसी प्रकार पठ॑ति की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० मान्बधदान्० (३।१।६)

मीमांसते (जिज्ञासा करता है)

मान भूवादयो० (१।३।१) मान्बधदान्शान्भ्यो० से सन् प्रत्यय हुआ।

मान् सन् द्वित्व इत्यादि सारे कार्य परि० १।२।८ के अनुसार होकर—

मा मान् स ह्रस्वः (७।४।५९), सन्यतः (७।४।७९) लगकर—

मि मान् स अब पुनः प्रकृत सूत्र से अभ्यास को दीर्घ हो गया।
मीमान् स यहां सिद्धि में यह बात ध्यान रखनी चाहिये कि सन्यतः (७।४।७६)से इत्व करने के पश्चात् ही प्रकृत सूत्र से से दीर्घ होगा। क्योंकि सूत्र में अभ्यासस्य विकारः (तस्य विकारः ४।३।१३२ से अण् हुआ है)'आभ्यासस्य'=अभ्यास के विकार को दीर्घ कहा है, न कि अभ्यासमात्र को। तत्पश्चात् दीर्घ-विधान-सामर्थ्य से ह्रस्वः (७।४।५६) से ह्रस्व नहीं होगा। पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, तथा अनुदात्तङित० (१।३।१२) से आत्मनेपद हुआ।
मीमान्स शप् त टित आत्मनेपदानां० (३।४।७६), अतो गुणे (६।१।६४)।
मीमान्सते नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) लगकर—
मीमांसते बना ॥

बीभत्सते (विपरीत आचरण करता है), यहां पूर्ववत् 'बध' धातु से सन् प्रत्यय, द्वित्वादि कार्य, तथा अभ्यास को दीर्घ होकर 'बी बध् स' रहा। एकाचो बशो० (८।२।३७) से ब को 'भ', खरि च (८।४।५४) से 'धं' को त् होकर 'बीभत्स' रहा। पूर्ववत् सनाद्यन्ता० (३।१।३२) से धातुसंज्ञा होकर 'शप् त' आकर 'बीभत्सते' बन गया ॥

इसी प्रकार 'दान' तथा 'शान' धातु से दीदांसते (सरलता का व्यवहार करता है), शीशांसते (तेज करता है) की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० धातोरेकाचो० (३।१।२२)

पापच्यते (बार-बार पकाता है)

डुपचष् भूवादयो० (१।३।१),धातोरेकाचो हलादेः क्रिया० (३।१।२२)।
पच् यङ् शेष सारे कार्य परि० २।४।७४ के पापठीति के समान जानें।
पा पच् य पूर्ववत् सब सूत्र लगकर शप्, तथा अनुदात्तङित० (१।३।१२) से आत्मनेपद हुआ।
पा पच् य शप् त अतो गुणे (६।१।६४) से पररूप हुआ।
पापच्यत टित आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७६) लगकर—
पापच्यते बना ॥

इसी प्रकार 'पठ' धातु से पापठ्यते (बार-बार पढ़ता है); 'ज्वल' धातु से जाज्वल्यते (खूब जलता है); 'दीपी दीप्तौ' से देदीप्यते (खूब प्रकाशित होता है)

की सिद्धि जानें। देदीप्यते में अभ्यास को गुणो यङ्लुकोः (७।४।८२) से गुण होता है ॥

—:०:—

परि० नित्यं कौटिल्ये गतौ (३।१।२३)

चङ्क्रम्यते (टेढ़ी गति से जाता है)

क्रम भूवादयो० (१।३।१), नित्यं कौटिल्ये गतौ लगकर—

क्रम् यङ् पूर्ववत् ही सब कार्य होकर, कुहोश्चुः (७।४।६२) आदि लगकर—

च क्रम् य नुगतोऽनुनासिकान्तस्य (७।४।८५) से अभ्यास को नुक् आगम, तथा पूर्ववत् शप् त आकर—

च नुक् क्रम् य शप् त=चन् क्रम् य शप् त नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४)। चंक्रमय शप् त अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८।४।५७) लगकर—

चङ्क्रम्य त=चङ्क्रम्यते बन गया ॥

इसी प्रकार 'द्रम' धातु से दन्द्रम्यते (कुटिल गति करता है) की सिद्धि जान ॥

—:०:—

परि० लुपसदचर० (३।१।२४)

चञ्चूर्यते (गन्दे ढङ्ग से चलता है)

चर भूवादयो० (१।३।१), लुपसदचर०, तथा पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

च चर् य चरफलोश्च (७।४।८७) से अभ्यास को नुक् आगम हुआ।

च नुक् चर् य=चन्चर् य उत्परस्यातः (७।४।८८) से अभ्यास से उत्तर 'अ' को उकारादेश हुआ।

चन् चुर् य हलि च (८।२।७७) से दीर्घ होकर, सनाद्यन्ता० (३।१।३२)।

चन्चूर्य पूर्ववत् शप् त आकर, तथा नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) अनुस्वारस्य ययि० (८।४।५७) ये सूत्र लगकर—

चञ्चूर्यते बना ॥

जञ्जप्यते (ठीक जप नहीं करता है)

'जञ्जप्यते' यहाँ भी पूर्ववत् सब कार्य होकर 'ज जप् य' रहा। जपजभदहदश-भञ्जपशां च (७।४।८६) से अभ्यास को नुक् आगम होकर, तथा शेषकार्य पूर्ववत् होकर 'जञ्जप्यते' बन गया। पूर्ववत् जपजभदह० (७।४।८६) से नुक् आगम, एवं

सब कार्य पूर्ववत् होकर 'जभ' धातु से जञ्जभ्यते (बुरे ढङ्ग से शरीर को मरोड़ता है)। 'दह्' से दन्दह्यते (बुरे ढङ्ग से जलाता है)। 'दंश' से दन्दश्यते (बुरे ढङ्ग से काटता है) की सिद्धि भी जानें। दंश के अनुनासिक का लोप अनिदितां हल० (६।४।२४) से होगा। पश्चात् पूर्ववत् नुक् आगम हो जायेगा॥

निजेगिल्यते (बुरे ढ़ंग से निगलता है)

गॄ	भूवादयो० (१।३।१), लुपसदचरजप० लगकर—
गॄ यङ्	यस्मात् प्रत्ययविधि० (१।४।१३), अङ्गस्य (६।४।१), ऋत इद्धातोः (७।१।१००), उरण्रपरः (१।१।५०) होकर—
गिर् य	पूर्ववत् द्वित्व, एवं अभ्यासकार्य। कुहोश्चुः (७।४।६२) आदि होकर—
जि गिर् य	गुणो यङ्लुकोः (७।४।८२) से अभ्यास को गुण होकर—
जे गिर् य	ग्रो यङि (८।२।२०) से गॄ धातु के रेफ को लत्व हो गया।
जे गिल् य	सनाद्यन्ता० (३।१।३२)। पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
निजेगिल्य शप् त	प्रादय उपसर्गाः० (१।४।५८)। पूर्ववत् सब कार्य होकर—
निजेगिल्यते	बन गया॥

—:०—

परि० आयादय० (३।१।३१)

गोप्ता (वह रक्षा करेगा)

गुपू	भूवादयो० (१।३।१), अनद्यतने लुट् (३।३।१५) से लुट्।
गुप लुट्	गुपूधूपविच्छि० (३।१।२८) से 'आय' प्रत्यय प्राप्त हुआ। पर आयादय आर्धधातुके वा० से आय प्रत्यय का पक्ष में निषेध हो गया। शेष सिद्धि परि० १।१।६ के समान जानें। यहां विशेष यही है कि गुप् धातु के ऊदित् होने से स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा (७।२।४४) से पक्ष में इट् आगम नहीं होगा। इस प्रकार—
गोप्ता	बना॥

जिस पक्ष में इट् आगम होगा, उस पक्ष में 'गोपिता' रूप बनेगा। जिस पक्ष में आयादय आर्धधातुके वा से 'आय' प्रत्यय का निषेध नहीं हुआ, तो गुपूधूपविच्छि० (३।१।२८) से आय प्रत्यय होकर पूर्ववत् 'गोपाय' धातु बनकर लुट् प्रत्यय आया। शेष कार्य परि० १।१।६ के समान होकर 'गोपायिता' बन गया। यहां आर्धधातु-

कस्येड् वलादेः (७।२।३५) से इट् आगम हो जायेगा। तथा अतो लोपः (६।४।४८) से 'आय' के अ का लोप होगा।

इसी प्रकार 'ऋति' धातु से जिस पक्ष में प्रकृतसूत्र से ऋतेरीयङ् (३।१।२९) से प्राप्त ईयङ् का निषेध हो गया, उस पक्ष में अत्तिता (वह घृणा करेगा)। एवं जिस पक्ष में ईयङ् हो गया, उस पक्ष में 'ऋतीयिता' बनेगा। 'कमु' धातु से जब कमेर्णिङ् (३।१।३०) से प्राप्त णिङ् का निषेध हो गया, तो कमिता (वह कामना करेगा)। तथा जिस पक्ष में णिङ् हो गया, तो पूर्ववत् अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि आदि होकर 'कामयिता' बन गया॥

—:०:—

परि० सिब्बहुलं लेटि (३।१।३४)

भविषति

भू भूवादयो० (१।३।१), लिङर्थे लेट् (३।४।७) से वेदविषय में लेट् प्रत्यय होकर—

भू लेट्=भू ल् पूर्ववत् सारे सूत्र लगकर 'ल्' के स्थान में तिप् हुआ।

भू तिप् सिब्बहुलं लेटि से लेट्-स्थानिक तिप के परे रहते सिप् प्रत्यय हुआ।

भू सिप् तिप् लेटोऽडाटौ (३।४।९४) से लेट् को पर्याय से से अट् और आट् का आगम होता है। सो यहाँ अट् आगम होकर आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) लगा।

भू सिप् अट् तिप् आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४), आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५)।

भू इट् सिप् अट् तिप्=भू इ स अ ति सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) लगकर—

भो इ स अ ति आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९), एचोयवायावः (६।१।७५) लगकर—

भविष् अट् ति=भविषति बन गया॥

भविषाति, यहाँ पूर्ववत् ही 'भविष् ति' बनकर लेटोऽडाटौ (३।४।९४) से आट् आगम होकर भविषाति बन गया॥ इसी प्रकार अट आगम, तथा पक्ष में इतश्च लोपः परस्मैपदेषु (३।४।९७) से तिप् के इकार का लोप, एवं झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से त् को द् होकर भविषद् बना। 'आट्' आगम होकर भविषाद् बनेगा। वावसाने (८।४।५५) से पक्ष में 'द्' को 'त्' होकर भविषात् रूप बनेगा॥

भाविषति

भू इ ष् अट् ति पूर्ववत् ही होकर, सिब्बहुलं छन्दसि णित् (महा० वा० ३।१।३४)

इस वार्त्तिक से सिप् प्रत्यय बहुल से णित्वत् माना गया। तो अचो ञ्णिति (७।२।११५) से 'भू' को वृद्धि हुई।

भौ इ ष अ ति एचोयवायाव: (६।१।७५) से आवादेश होकर—

भाविषति　बना ॥

आट् आगम पक्ष में भाविषाति। पूर्ववत् तिप् के इकार का लोप होकर भाविषद् भाविषाद। द को त् होकर भाविषत भाविषात् रूप बन गये। बहुल कहने से जब णित्वत् नहीं होता, उस पक्ष के रूप भविषति आदि दर्शा चुके हैं ॥

सिब्बहुलं लेटि में बहुल कहने से जब पक्ष में सिप् प्रत्यय नहीं हुआ, तो कर्त्तरि शप् (३।१।६८) से शप् प्रत्यय होकर भू शप् अट् ति=भो अ अ ति रहा। अतो गुणे (६।१।९४), तथा एचोयवायाव: (६।१।७५) लगकर भवति बन गया। आट् पक्ष में सवर्ण दीर्घ होकर भवाति बना। तिप् से इकार का लोप होकर भवद् भवाद् तथा भवत् भवात् रूप बनेंगे। ये सब १८ रूप तिप् प्रत्यय में बनते हैं ॥

तस् में पूर्ववत् सब होकर, 'स्' को रुत्व विसर्जनीय होकर भविषत:, भविषात:। णित् पक्ष में वृद्धि होकर भाविषत: भाविषात:। शप् पक्ष में भवत: भवात: ये ६ रूप बनेंगे ॥

झि में भविष् अट् झि=भविष अन्ति, यहाँ पूर्ववत् पक्ष में अन्ति के इकार का लोप होकर 'भविष अन्त्' रहा। संयोगान्तस्य लोप: (८।२।२३) से 'त्' का लोप, तथा अतो गुणे (६।१।९४) लगकर भविषन् बना। शेष लेट् लकार के रूप प्रकृत सूत्र की प्रथमावृत्ति में देख लें। कोई विशेष नहीं हैं, पूर्ववत् ही कार्य हुये हैं ॥

सिप् में भविषसि आदि प्रयोग भी पूर्ववत् बनेंगे। जिस पक्ष में सिप् के इकार का लोप हो जायेगा, उस पक्ष में सिप् के 'स्' को रुत्व विसर्जनीय होकर भविष: भविषा: रूप बनेंगे ॥ थस्, थ में कोई विशेष नहीं है ॥

मिप् ने भविषमि की सिद्धि पूर्ववत् होगी। केवल यहां यह समझना चाहिये कि अतो दीर्घो यञि (७।३।१०१) से दीर्घ यहाँ इसलिये नहीं होता कि अट् आगम मिप् को हुआ है, अत: मिप् का भाग है। सो भविष् अदन्त अङ्ग नहीं रहता। एवं उधर मिप् को अट् का आगम होने से यञादि परे भी नहीं मिलता ॥ इसी प्रकार वस् मस् में भी जानें। शेष रूप पूर्ववत् जानें। वस् मस् के सकार का स उत्तमस्य (३।४।९८) से पक्ष में लोप होकर भविषव भविषाव, तथा भाविषव भाविषाव आदि प्रयोग भी बनेंगे। जब सकारलोप नहीं होगा तो 'स्' को रुत्व विसर्जनीय हो जायेगा ॥

जोषिषत्

'जुष' धातु से जिस पक्ष में णित्वत् नहीं हुआ, एवं सिप् प्रत्यय हुआ, उस

पक्ष में भी लघूपध गुण होकर 'जोषिषत्' ही रूप बनेगा। 'तृ' धातु से णित् पक्ष में वृद्धि होकर 'तारिषत्' बना। 'मदि' धातु को इदितो नुम्धातोः (७।१।५८) से नुम् होकर 'मन्द्' बना। पुनः पूर्ववत् सब कार्य होकर 'मन्दिषत्' बना। जोषिषत्, मन्दिषत् में व्यत्यय से परस्मैपद हुआ है ॥

'पत्' धातु से जब प्रकृत सूत्र से सिप् प्रत्यय नहीं हुआ, तो शप् प्रत्यय होकर आट् पक्ष में 'पताति' बना। णिजन्त 'च्युङ्' धातु से शप् एवं आट् पक्ष में 'च्यावयाति', तथा 'जीव' धातु से भी शप् एवं आट् होकर 'जीवाति' की सिद्धि पूर्ववत् जानें ॥

—:०:—

परि० उषविदजागृभ्यो० (३।१।३८)

ओषाञ्चकार (उसने जलाया); विदाञ्चकार (उसने जाना), जागराञ्चकार (वह जागा) इन सब की सिद्धि परि० १।३।६३ के समान जानें। यहाँ केवल यही विशेष है कि 'उष विद जागृ' धातुएँ परस्मैपदी हैं। अतः कृञ् का जो अनुप्रयोग हुआ है, वह भी परस्मैपदी में हुआ है। सो कृञ् के अनुप्रयोग से परस्मैपदानां णलतु० (३।४।८२) से णल् होकर 'चकार' बन गया है ॥ इस सूत्र में विद का अकारान्त उच्चारण (निपातन) किया है। सो अतो लोपः (६।४।४८) से उस अकार का लोप हो जाता है। अतः जब विद् को आम् परे रहते लघूपध गुण होने लगता है, तो वह अकार स्थानिवत् हो जाता है। इस प्रकार उपधा इक् नहीं मिलती, सो गुण नहीं हो पाता। परि० १।१।५६ के अवधीत् के समान यह बात समझें ॥

उवोष

उष — उषविदजागृ० से जब पक्ष में आम् नहीं हुआ, तो द्वित्वादि सब कार्य पूर्ववत् होकर—

उ उष् णल् — पुगन्तलघू० (७।३।८६) से गुण हुआ।

उ ओष् अ — अभ्यासस्यासवर्णे (६।४।७८) से असवर्ण 'ओ' के परे रहते अभ्यास की उवङ् आदेश हुआ।

उवङ् ओष् अ — उव् ओष् अ = उवोष बन गया ॥

'विवेद' में कोई विशेष नहीं है। यहाँ अदन्त निपातन का अभाव होने से गण हो जाता है। 'जजागार' में सब पूर्ववत् ही है। केवल यहाँ जागृ के 'गृ' को वृद्धि अचो ञ्णिति (७।२।११५) से हुई है। यही विशेष है ॥

—:०:—

परि० कृञ्चानुप्रयु० (३।१।४०)

पाठयाञ्चकार (उसने पढ़ाया)

पठ भूवादयो० (१।३।१), हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् प्रत्यय होकर—

पठ् णिच्=इ अत उपधाया: (७।२।११६), सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२)।

पाठि परोक्षे लिट् (३।२।११५), प्रत्यय:, परश्च (३।१।१,२)।

पाठि लिट् कास्प्रत्ययादाम० (३।१।३५) से पाठि-प्रत्ययान्त धातु से लिट् परे रहते 'आम्' प्रत्यय हुआ।

पाठि आम् ल् णेरनिटि (६।४।५१) से णि का लोप प्राप्त हुआ। तो अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु (६।४।५५) ने णि लोप को बाधकर 'णि' को अयादेश विधान कर दिया।

पाठय् आम् ल्=पाठयाम् ल् शेष परि० १।२।६३ के समान जानें॥ यहाँ केवल विशेष यह है कि 'पठ' धातु परस्मैपदी है। अतः कृञ् का अनुप्रयोग भी परस्मैपद में होगा। इस प्रकार—

पाठयाञ्चकार बना॥

प्रकृत सूत्र से 'भू' का अनुप्रयोग करने पर भू के अभ्यास को भवतेर: (७।४।७३) से अत्व, तथा अभ्यासे चर्च (८।४।५३) से जश्त्व होकर पाठयाम्बभूव बना है। अस् का अनुप्रयोग करने पर अस्-अस् द्वित्व, एवं अत आदे: (७।४।७०) से अभ्यासदीर्घ, पश्चात् सवर्ण दीर्घ होकर आस्=पाठयामास बन गया॥

—:०:—

परि० अभ्युत्सादयाम्० (३।१।४२)

अभ्युदसीषदत् (उसने ज्ञान प्राप्त किया)

षद्लृ भूवादयो० (१।३।१), धात्वादेः षः सः (६।१।६२)।

सद् पूर्ववत् सब कार्य परि० १।१।५८ के आटिटत् के समान होकर—

अभि उद् साद् इ चङ् ल् णेरनिटि (६।४।५१) लगकर—

अभ्युद् साद् अ ल् णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः (७।४।१) से उपधा को ह्रस्व।

अभ्युद सद् अ ल् शेष सिद्धि परि० २।४।५१ के अध्यजीगपत् के समान जानें।

अभ्युद् अ सी सदत् आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से षत्व होकर—

अभ्युदसीषदत् बन गया॥

'प्र पूर्वक जन' धातु से प्राजीजनत् की सिद्धि जानें। प्रजनयामकः, रमयामकः

में णिच को परे मानकर जो जन् तथा रम् की उपधा को वृद्धि हुई थी, उसको जनिजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च (धातुपाठ पृ० १२) इस धातुपाठ के सूत्र से जन् तथा रम् के मित् माने जाने के कारण मितां ह्रस्वः (६।४।९२) से ह्रस्व हो गया है। शेष निपातन कार्य प्रथमावृत्ति में देखें।।

'रम' धातु से अरीरमत की सिद्धि भी णिच् चङ् आकर पूर्ववत् जानें।। अचैषीत् की सिद्धि परि० १।१।१ में देखें ॥

पाव्यात्

यहाँ 'पूङ् या पूञ्' धातु से णिच् प्रत्यय आकर 'पू' को वृद्धि, तथा आवादेश होकर 'पावि' रहा। सनाद्यन्ता० (३।१।३२) से धातु संज्ञा होकर, आशिषि लिङ्लोटौ (३।३।१७३) से लिङ् आया। शेष लिङ् लकार की सिद्धि के समान ही यासुट् पर० (३।४।१०३) से यासुट, तथा सुट् तिथोः (३।४।१०७) से सुट् होकर 'पावि यासुट सुट तिप्'=पावि यास् स् त् रहा। णेरनिटि (६।४।५१) से णिच् का लोप हो गया, तो 'पाव् यास् स् त्' रहा। स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (८।२। २९) से यासुट् के सकार का लोप हुआ। तथा पुनः यही सूत्र लगकर सुट् के सकार का भी लोप हो गया, तो 'पाव्यात्' बन गया ॥

अवेदिषुः

लङ् लकार में पूर्ववत् ही 'अट् विद् इट् सिच् झि' होकर सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च (३।४।१०९) से झि को जुस् होकर 'अ विद् इ स् जुस्' रहा। लघूपधगुण, षत्व, एवं रुत्व विसर्जनीय होकर 'अवेदिषुः' बन गया ॥

—:०:—

परि० शल इगुपधा० (३।१।४५)

अधुक्षत् (उसने दुहा)

दुह प्रपूरणे भूवादयो० (१।३।१)। पूर्ववत् ही सारे लुङ् लकार के कार्य परि० १।१।१ के अचैषीत् के समान होकर—

अट् दुह् च्लि त् शल इगुपधादनिटः क्सः से दुह धातु के शलन्त (शल् प्रत्याहार अन्तवाली), अनिट् एवं इक् उपधावाली होने से च्लि के स्थान में क्स आदेश हुआ।

अ दुह् क्स त् दादेर्धातोर्घः (८।२।३२) से 'ह्' को 'घ्' आदेश होकर—

अ दुघ् स त् एकाचो बशो भष्० (८।२।३७) से 'द्' को 'ध्' होकर—

अ घुघ् स त् खरि च (८।४।५४) से घ् को क् होकर—
अ धुक् स त् आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) लगकर—
अ धुक् ष त् यहाँ दुह धातु को क्स को परे मानकर पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से गुण प्राप्त था। पर क्ङिति च (१।१।५) से निषेध होकर—
अधुक्षत् बन गया ॥

इसी प्रकार 'लिह आस्वादने' धातु से अलिक्षत् (उसने स्वाद लिया) की सिद्धि जानें। यहाँ केवल यही विशेष है कि हो ढः (८।२।३१) से लिह् के ह् को ढ्, तथा षढोः कः सि (८।२।४१) से ढ् को 'क्' हो जाता है ॥

—:o:—

परि० न दृशः (३।१।४७)

अदर्शत्

दृशिर् भूवादयो० (१।३।१), हलन्त्यम् (१।३।३), उपदेशऽज० (१।३।२), तस्य लोपः (१।३।९)। पूर्ववत् ही लुङ् लकार के सब कार्य होकर—
अट् दृश् च्लि त् यहाँ दृश् धातु के शलन्त अनिट् एवं इगुपध होने से शल इगुपधादनिटः० (३।१।४५) से च्लि के स्थान में क्स आदेश प्राप्त हुआ, जिसका कि प्रकृत सूत्र से निषेध हो गया। तब दृश् धातु के इरित् होने से इरितो वा (३।१।५७) से च्लि के स्थान में 'अङ्' आदेश हो गया।
अ दृश् अङ् त् अब यहाँ अङ् को परे मानकर पुगन्तलघू० (७।३।८६) से दृश् की उपधा को गुण प्राप्त हुआ। जिसका क्ङिति(१।१।५) च से निषेध हो गया। तब ऋदृशोऽङि गुणः (७।४।१६) ने अङ् परे रहते गुण कर दिया। उरण्रपरः (१।१।५०) लगकर—
अदर् श् अ त् = अदर्शत् बन गया ॥

अद्राक्षीत्

दृशिर् पूर्ववत् लुङ् के कार्य होकर—
अ दृश् च्लि त् प्रकृत सूत्र से क्स आदेश का निषेध होकर, इरितो वा (३।१।५७) से पक्ष में च्लि के स्थान में यथाप्राप्त च्लेः सिच् (३।१।४४) से सिच् आदेश होकर—
अ दृश् सिच् त् सृजिदृशोर्झल्यमकिति (६।१।५७), मिदचोऽन्त्यात् परः(१।१।४६)।

अ वृ अम् श् स् त् इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश हुआ ।

अ व्रश् स् त् पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, वदव्रजहलन्तस्याचः (७।२।३) से वृद्धि हुई ।

अ व्राश् स् त् अस्तिसिचोऽपृक्ते (७।३।९६) लगकर—

अ व्राश् स् ईट त् व्रश्चभ्रस्जसृजमृ० (८।२।३६) से श् को 'ष्' होकर—

अ व्राष् स् ई त् षढोः कः सि (८।२।४१) लगकर—

अ व्राक् स् ई त् आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से स् को ष् होकर—

अव्राक्षीत् बन गया ।।

—:o:—

परि० णिश्रिद्रुस्रुभ्यः० (३।१।४८)

परि० १।४।१० में अचीकरत्, अजीहरत् की सिद्धि देखें ।।

श्रि, द्रु, स्रु से बिना णिच् आये ही च्लि को चङ् होगा । श्रि को चङि (६।१।११) से द्वित्व, तथा हलादिः शेषः (७।४।६०) लगकर अट् शि श्रि अ त् रहा । अचि श्नुधातु० (६।४।७७) से श्रि को इयङ् होकर अ शि श्रियङ् अ त्=अशिश्रियत् (उसने आश्रय लिया) बन गया ।। इसी प्रकार द्रु स्रु धातुओं को अचिश्नु० (६।४।७७) से उवङ् आदेश होकर, तथा शेष सब पूर्ववत् ही होकर अदुद्रुवत् (वह गया), असुस्रुवत (वह टपक पड़ा) बन गये हैं ।।

—:o:—

परि० विभाषा धेट्श्व्योः (३।१।४९)

चङ् पक्ष में 'धेट्' धातु से आतो लोप इटि च (६।४।६४) से 'धा' के 'आ' का लोप होकर, तथा पूर्ववत् द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) लगकर चङि (६।१।११) से द्वित्वादि कार्य हुये, तो अट् धा ध् अ त् रहा । अभ्यासे चर्च (८।४।५३), ह्रस्वः (७।४।५९) से अभ्यास को जश्त्व तथा ह्रस्व होकर अ द ध् अ त्='अदधत्' बन गया ।।

जिस पक्ष में प्रकृत सूत्र से चङ् नहीं होगा, तो यथाप्राप्त च्लेः सिच् (३।१।४४) से सिच् होगा । उस सिच् का भी विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः (२।४।७८) से पक्ष में लुक् हो गया, तो 'अधात्' रूप बना ।

जिस पक्ष में विभाषा घ्राधेट्० (२।४।७८) से सिच् का लुक् नहीं हुआ, तो अधासीत्' बना । इसकी सिद्धि २।४।७८ सूत्र पर ही देख लें ।।

'श्वि' धातु से प्रकृत सूत्र से चङ्, तथा पूर्ववत् द्वित्वादि होकर 'अ शि श्वि अ त्' रहा। अचि श्नुधातुभ्रुवां० (६।४।७७) से इयङ् होकर—अ शि श्वि यङ् अ त् =अशिश्वियत् बन गया॥

जब प्रकृत सूत्र से पक्ष में चङ् नहीं हुआ, तो जॄस्तम्भुम्रुचु० (३।१।५८) से च्लि के स्थान में अङ् होकर 'अट् श्वि अङ् त्' बना। श्वयतेरः (७।४।१८) से श्वि अङ्ग के अन्तिम अल् इ' को अलो० (१।१।५१) से 'अ' आदेश अङ् परे रहते होकर 'अ श्व अ त्' रहा। अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप होकर 'अश्वत्' बन गया॥

अश्वयीत् (वह फूला=सूजा)

जॄस्तम्भु० (३।१।५८) से अङ् का भी विकल्प होता है। अतः पक्ष में जब अङ् नहीं हुआ, तो यथाप्राप्त सिच् हो गया। शेष कार्य परि० (१।१।१) के अलावीत् के समान होकर 'अट् श्वि इट् सिच् ईट् त्' रहा। अब यहाँ सिचि वृद्धिःपरस्मैपदेषु (७।२।१) से वृद्धि प्राप्त हुई, तो ह्म्यन्तक्षणश्वस० (७।२।५) से निषेध हो गया। तब सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से गुण, तथा एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अयादेश होकर 'अ श्वय इ स् ई त्' रहा। इट ईटि (८।२।२८) से स् का लोप, तथा दोनों इकारों को सवर्ण दीर्घ एकादेश हो गया, तो 'अश्वयीत्' बन गया॥

—:o:—

परि० गुपेश्छन्दसि (३।१।५०)

अजूगुपतम्

'गुपू रक्षणे' धातु से चङ् पक्ष में पूर्ववत् द्वित्व, तथा अभ्यासादि कार्य होकर, मध्यम पुरुष के द्विवचन में लुङादेश 'थस्' हुआ। सो 'अट् जु गुप् चङ् थस्' रहा। तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य (६।१।७) से अभ्यास को दीर्घ होकर 'अ जू गुप् अ थस्' बना। तस्थस्थमिपां तांतंतामः (३।४।१०१) से थस् को 'तम्' होकर 'अजूगुपतम्' बन गया॥

अगौप्तम्

गुप्　　पूर्ववत् सब कार्य होकर—

अट् गुप् च्लि थस् प्रकृत सूत्र से जब पक्ष में चङ् नहीं हुआ, तो च्लि को यथाप्राप्त सिच् हो गया।

अ गुप् सिच् थस् आर्धधातु० (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त हुआ। जिसका स्वरतिसूतिसूयति० (७।२।४४) से पक्ष में निषेध हो गया। वदव्रजहलन्तस्याचः (७।२।३) से वृद्धि।

अ गौप् स् तम् झलो झलि (८।२।२६) लगकर—
अगौप्तम् बन गया॥

अगोपिष्टम्

जब स्वरति० (७।२।४४) से पक्ष में इट् आगम हो गया, तो 'अगोपिष्टम्' बना। यहां वदव्रजहलन्तस्याचः (७।२।३) से वृद्धि प्राप्त थी। पर नेटि (७।२।४) से उसका निषेध हो गया। तब लघूपध गुण हो गया॥

अगोपायिष्टम्

'गुप्' धातु से जब गुपूधूपविच्छि० (३।२।२८) से प्राप्त आय प्रत्यय आयादय आर्धधातुके वा (३।१।३१) से पक्ष में हुआ, तो गुप् को लघूपधगुण होकर, सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) से 'गोपाय' नयी धातु बन गई। तत्पश्चात् पूर्ववत् सब कार्य होकर 'अट् गोपाय सिच् थस्' रहा। आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५) से इट् आगम, तथा अतो लोपः (६।४।४८) से 'य' के अ का लोप होकर 'अ गोपाय् इ स् तम्' =अगोपायिष्टम् बन गया॥

—:०:—

परि० अस्यतिवक्ति० (३।१।५२)

पर्यास्थत (उसने फेंका)

परि असु क्षेपणे उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वा वचनम् (वा० १।३।२६) इस वार्तिक से आत्मनेपद, और पूर्ववत् सारे लुङ् लकार के कार्य होकर—

परि अस् च्लि त अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् से च्लि के स्थान में अङ् हुआ।

परि अस् अङ् त पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर अस्यतेस्थुक् (७।४।१७), आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५), आडजादीनाम् (६।४।७२) से आट् आगम हुआ।

परि आट् अस् थुक् अङ् त इको यणचि (६।१।७४) लगकर—
पर्यास्थ् अ त=पर्यास्थत बन गया॥

पर्यास्थेताम्, यहां पूर्ववत् सब होकर 'पर्यास्थ् अ आताम्' रहा। आतो ङितः (७।२।८१) से आताम् के आ को 'इय्' होकर 'पर्यास्थ इय् ताम्' रहा। लोपो व्योर्वलि

(६।१।६४) से यकार लोप, तथा आद् गुण:(६।१।८४) से पूर्व पर को गुण एकादेश होकर 'पर्यास्थेताम्' बन गया ॥

अवोचत (वह बोला)

वच परिभाषणे पूर्ववत सब सूत्र लगकर, तथा प्रकृत सूत्र से च्लि को अङ् होकर—
अट् वच् अङ् त् पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, वच उम् (७।४।२०), मिदचोऽन्त्यात्पर: (१।१।४६)।

अ व उम् च् ा त्=अ व उ च अ त् आद् गुण: (६।१।८४) लगकर—
अवोचत् बन गया ॥

'अवोचताम्' में तस् को तस्थस्थमिपां० (३।४।१०१) से ताम् हो गया है ॥ 'अवोचन्' यहाँ पूर्ववत् सब होकर 'अवोच झि' रहा। झि को अन्ति आदेश, तथा इतश्च (३।४।१००) से इकार लोप होकर 'अवोच अन्त्' रहा। संयोगान्तस्य लोप: (८।२।२३) से 'त्' का लोप होकर अवोचन् बन गया ॥

आख्यत् (उसने वर्णन किया)

आख्यत्, यहां आङ् पूर्वक 'ख्या' धातु से पूर्ववत् सब होकर 'आङ् अट् ख्या अङ् त्' रहा। आतो लोप इटि च (६।४।६४) से 'ख्या' के आ का लोप होकर 'आ अ ख्य् अ त्'। सवर्ण दीर्घ होकर 'आख्यत्' बन गया ॥

—:o:—

परि० लिपिसिचिह्वश्च (३।१।५३)

'अलिपत्' (उसने लीपा), यहां 'लिप' धातु से पूर्ववत् सब कार्य होकर, तथा प्रकृत सूत्र से अङ् आदेश होकर 'अ लिप् अ त्' रहा। यहाँ पुगन्तलघू० (७।३।८६) से गुण प्राप्त था। जिसका क्ङिति च (१।१।५) से निषेध होकर 'अलिपत्' बन गया ॥

'षिच' धातु के 'ष्' को धात्वादे: ष: स: (६।१।६२) से 'स्' हो गया है। शेष सब पूर्ववत् ही होकर 'असिचत्' (उसने सींचा) बन गया ॥

आह्वत् (उसने बुलाया), यहां 'ह्वेञ्' धातु को आदेच उपदेशे० (६।१।४४) से आत्व, तथा शेष कार्य पूर्ववत् होकर 'आङ् अट् ह्वा अङ् त्' रहा। आतो लोप० (६।४।६४) से आकार लोप, तथा आङ् एवं अट् के 'अ' को सवर्ण दीर्घ होकर 'आह्वत्' बन गया ॥

—:o:—

परि० आत्मनेपदेष्वन्य०(३।१।५४)

'लिप'तथा'सिच'धातुएं स्वरितेत् हैं । अतः स्वरितेत् होने से कर्त्रभिप्राय क्रिया-फल में स्वरितञितः० (१।३।७२) से आत्मनेपद होता है । तथा 'ह्वेञ्' धातु के भी ञित् होने से स्वरितञितः० (१।३।७२) से ही आत्मनेपद होगा । आत्मनेपद होने पर प्रकृत सूत्र से अङ्, तथा पक्ष से यथाप्राप्त सिच् होता है । अङ् पक्ष में पूर्ववत् सब होकर अलिपत, असिचत बन जायेगा । सिच् पक्ष में झलो झलि (८।२।२६) से सिच् के स् का लोप होकर 'अलिप्त, असिक्त' बनेगा । यहाँ लघूपधगुण लिङ्सिचावात्मने० (१।२।११) से कित्वत् होने से नहीं हुआ है। सिच् के 'च्' को 'क्' भी चोः कुः (८।२।३०) से हो जाता है ॥

'ह्वेञ्'धातु से अङ् पक्ष में पूर्ववत् ही 'आह्वत'के समान आत्मनेपद में 'अह्वत' बनेगा । सिच् पक्ष में 'अह्वास्त' पूर्ववत् ही बनेगा ॥

—:०:—

परि० सर्तिशास्त्य० (३।१।५६)

असरत् (वह सरक गया)

सृ पूर्ववत् सब सूत्र लगकर, तथा प्रकृत सूत्र से अङ् होकर—

अट् सृ अङ् त् अब सार्वधातु० (७।३।८४) से गुण प्राप्त हुआ । जिसका क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो गया । तब ऋदृशोऽङि गुणः (७।४।१६) से गुण हो गया । उरण्रपरः (१।१।५०) लगकर—

असरत् बन गया ॥

इसी प्रकार 'ऋ' धातु से 'आरत्' (वह प्राप्त हुआ) बनेगा । केवल यहां अट् आगम न होरर आडजादीनाम् (६।४।७२) से आट् आगम होगा। यही विशेष है ॥

'अशिषत्' यहाँ शास इदङ्हलो: (६।४।३४) से शास् की उपधा को इत्व, तथा शासिवसिघसीनां च (८।३।६०) से शास् के 'स्' को 'ष्' होकर 'अ शिष् अङ् त्'=अशिषत् बन गया ॥

—:०:—

परि० इरितो वा(३।१।५७)

रुधिर् भिदिर् छिदिर् धातुओं से प्रकृत सूत्र से अङ् होकर,पूर्ववत् अरुधत् (उसने रोका), अभिदत् (उसने फाड़ा), अच्छिदत् (उसने छेदा) बन जायगा । अच्छिदत्

में छे च (६।१।७१) से तुक् आगम, तथा स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) से श्चुत्व ही विशेष है ॥

जिस पक्ष में प्रकृत सूत्र से अङ् नहीं हुआ, तो यथाप्राप्त सिच् होकर, तथा शेष कार्य पूर्ववत् होकर 'अ रुध् सिच् त्' रहा। अस्तिसिचोऽ० (७।३।९६) से ईट् आगम, तथा वदव्रजहलन्तस्याचः (७।२।३) से हलन्तलक्षणा वृद्धि होकर 'अरौध स् ईट् त्' रहा। खरि च (८।४।५४) से चर्त्व होकर 'अरौत्सीत्' बन गया। इसी प्रकार 'अभैत्सीत्, अछैत्सीत्' में भी समझें ॥

—:०:—

परि० जॄस्तम्भु० (३।१।५८)

अङ् पक्ष में 'अजरत्' (वह जीर्ण हो गया) की सिद्धि परि० ३।१।५६ के 'असरत्' के समान जानें। शेष 'स्तम्भु' तथा 'ग्लुञ्चु' धातु से अङ् परे रहते अनिदितां हल० (६।४।२४) से अनुनासिक लोप होकर पूर्ववत् ही 'अस्तभत्' (उसने रोका), 'अग्लुचत्' (वह गया) बनेगा। 'अम्रुचत् (वह गया), 'अग्लुचत्' (वह गया), 'अग्रुचत्' (उसने चुराया), 'अग्लुचत्' (उसने चुराया) में कुछ भी विशेष नहीं है ॥

सिच पक्ष में अजारीत्, अस्तम्भीत् की सिद्धि परि० १।१।१ के अलावीत् के समान जानें। यथाप्राप्त गुण एवं वृद्धि सर्वत्र जानें ॥ अश्वत्, अश्वयीत्, अशिश्वियत् की सिद्धि परि० ३।१।४९ में देखें ॥

—:०:—

परि० दुहश्च (३।१।६३)

'अदोहि' की सिद्धि ३।१।६० सूत्र के समान जानें ॥

जिस पक्ष में प्रकृत सूत्र से चिण नहीं हुआ, तो शल इगुपधा० (३।१।४५) से च्लि के स्थान में क्स होकर 'अट् दुह् क्स त' रहा। लुग्वा दुहदिह० (७।३।७३) से क्स का लुक्, तथा दादेर्धातोर्घः (८।२।३२) से दुह् के 'ह्' को 'घ्' होकर 'अदुघ त' रहा। झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) से त् को ध् होकर, 'अदुघ् ध' रहा। झलां जश् झशि (८।४।५२) से 'घ्' को 'ग्' होकर 'अदुग्ध गौः स्वयमेव' (गौ स्वयं दुही गई) कर्मकर्त्ता में बन गया ॥

—:०:—

परि० कर्त्तरि शप् (३।१।६८)

'भवति, पठति' की सिद्धि परि० १।१।२ के जयति के समान जानें ।।

'भवतु, पठतु' में सब पूर्ववत् ही होगा । केवल यहाँ एरुः (३।४।८६) से तिप् के 'इ' को 'उ' हो जायेगा ।

लङ् लकार में पूर्ववत् ही सब होकर, तथा लुङ्लङ्लृङ्क्ष्व० (६।४।७१) से अट् आगम होकर, 'अट् भू शप् तिप्' रहा । भू को पूर्ववत् गुण, तथा अवादेश, एवं इतश्च (३।४।१००) से तिप् के इकार का लोप होकर 'अभवत्' बना है । इसी प्रकार 'अपठत्' में भी जानें ।।

भवेत् (होवे)

भू — भूवादयो० (१।३।१), विधिनिमन्त्रणा० (३।३।१६१), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) ।

भू लिङ् — पूर्ववत् लादेश 'तिप्' होकर—

भू तिप् — यासुट् परस्मैपदेषू० (३।४।१०३), आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) ।

भू यासुट् ति — सुट् तिथोः (३।४।१०७), तिङ्शित् सार्व० (३।४।११३) ।

भू यास् सुट् त् — कर्त्तरि शप् लगकर—

भू शप् यास् सुट् त् = भो अ यास् स् त्, एचोऽयवायावः (६।१।७५) ।

भव् अ यास् स् त् — लिङः सलोपोऽन० (७।२।७९) से दोनों सकारों का लोप ।

भव या त् — पर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर, अतो येयः (७।२।८०) से 'या' को इय् ।

भव इय् त् — लोपो व्योर्वलि (६।१।६४), आद् गुणः (६।१।८४) लगकर—

भवेत् — बन गया ।।

इसी प्रकार 'पठेत्' की सिद्धि जानें ।।

—:o:—

परि० दिवादिभ्यः श्यन् (३।१।६९)

दीव्यति (वह चमकता है)

दिव् — पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

दिव् तिप् — तिङ्शित् सार्व० (३।४।११३), दिवादिभ्यः श्यन् लगकर -

दिव् श्यन् ति — =दिव् य ति, पुगन्तलघू० (७।३।८६) से श्यन् को परे मानकर दिव् की उपधा को गुण प्राप्त हुआ । पर श्यन् के अपित् होने से

सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से ङित्वत् होकर क्ङिति च (१।१।५) से गुण का निषेध हो गया।

दिव् य ति — हलि च (८।२।७७) से हल् परे रहते वकारान्त दिव् की उपधा इक् को दीर्घ होकर—

दीव्यति — बन गया॥

'षिवु' धातु के 'ष्' को धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से स् होकर, शेष कार्य सब पूर्ववत् ही होकर 'सीव्यति' (वह सीता है) बना है॥

—:०:—

परि० स्वादिभ्यः श्नुः (३।१।७३)

सुनोति (सोमरस निकालता है) की सिद्धि० परि० १।१।५ के सुनुतः के समान ही जानें। केवल यहाँ विशेष यह है कि 'सु नु तिप्' इस अवस्था में तिप् को परे मानकर सार्वधातुका० (७।३।८४) से गुण हो जाता है। किन्तु जब श्नु को परे मानकर 'सु' को गुण करने लगेंगे, तो सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से 'श्नु' को ङित्-वत् होकर क्ङिति च (१।१।५) से गुण का निषेध हो जाता है। गुण करते समय 'सु' तथा 'नु' दोनों की, एवं 'सु' मात्र की कैसे अङ्ग संज्ञा है, यह बात परि० १।४।१३ के समान जान लें॥ षिञ् धातु से सिनोति (बांधता है) की सिद्धि भी इसी प्रकार है॥

—:०:—

परि० धिन्विकृण्व्योर च (३।१।८०)

धिनोति (तृप्त करता है)

धिवि — भूवादयो० (१।३।१), उपदेशेऽज० (१।३।२), इदितो नुम्धातोः (७।१।५८)।

धि नुम् व=धिन्व् पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

धिन्व् तिप् — अब धिन्विकृण्व्योर च से 'उ' प्रत्यय हुआ, तथा अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से 'व्' के स्थान में 'अ' अन्तादेश भी हो गया।

धिन् अ उ ति — अतो लोपः (६।४।४८) से उस 'अ' का लोप हो गया।

धिन् उ ति — सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) लगकर—

धिन् ओ ति — यहां लघूपध गुण अचः परस्मिन्० (१।१।५६) से अकार लोप के स्थानिवत् हो जाने से प्राप्त ही नहीं होता, ऐसा जानें। अतः—

धिनोति — बन गया॥

इसी प्रकार 'कृवि' धातु से 'कृणोति' (हिंसा करता है) की सिद्धि जानें। ऋवर्णाच्चेति वक्तव्यम् (वा० ८।४।१) इस वार्तिक से यहाँ णत्व भी हो जाता है ॥

—:०:—

परि० लिङ्याशिष्यङ् (३।१।८६)

उपस्थेयम्

६ठा भूवादयो० (१।३।१), धात्वादेः षः सः (६।१।६२), आशिषि लिङ् लोटौ (३।३।१७३), प्रत्ययः परश्च (३।१।१,२)।

उप स्था लिङ् परि० ३।१।६३ के समान यासुट् आगम, तथा लादेश 'मिप्' होकर—
उप स्था यासुट् मिप् तस्थस्थमिपां तां० (३।४।१०१), लिङ्याशिष्यङ् लगकर—
उप स्था अङ् यास् अम् लिङाशिषि (३।४।११६) से यहाँ लिङ् आर्धधातुकसंज्ञक है। पर छन्दस्युभयथा (३।४।११७) से सार्वधातुक आर्धधातुक दोनों संज्ञायें होने से सार्वधातुक मानकर, लिङः सलोपो० (७।२।७६) से सकारलोप, तथा अतो येयः (७।२।८०) से 'या' को इय् हुआ है।
उप स्था अ इय् अम् आतो लोप इटि च (६।४।६४) से अङ् परे रहते 'था' के 'आ' का लोप होकर—
उप स्थ् अ इय् अम् आद्गुणः (६।१।८४) लगकर—
उपस्थेयम् बना ॥

'गै' धातु को आदेच उपदेशे० (६।१।४४) से आत्व होकर, शेष कार्य पूर्ववत् होकर 'उपगेयम्' की सिद्धि जानें ॥

'गमेम' यहाँ पूर्ववत् सब होकर 'मस्' विभक्ति आई। तथा प्रकृत सूत्र से अङ् हो गया, तो 'गम् अङ् यासुट् मस्'=गम् अ यास् मस् रहा। नित्यं ङितः (३।४।९९) से मस् के सकार का लोप। तथा शेष कार्य सब पूर्ववत् होकर 'गमेम' बना है ॥

'वोचेम' 'वच' धातु से वोचेम की सिद्धि इसी प्रकार जानें। केवल यहाँ विशेष यह है कि अङ् परे रहते वच उम् (७।४।२०) से 'उम्' आगम होता है, जो कि मिदचोऽन्त्यात्० (१।१।४६) से अन्त्य अच् परे बैठता है। सो 'व उम् च् अङ् या मस्=व उ च् अ इय् मस' रहा। आद् गुणः (६।१।८४) लगकर 'वोच् अ इ म' रहा। पुनः आद्गुणः (६।१।८४) लगकर 'वोचेम' बन गया ॥

गमेम के समान ही शक्लृ धातु से 'शकेम'; 'वह' धातु से 'वहेम' की सिद्धि जानें। यहाँ अन्येषाम० (६।३।१३७) से सांहितिक दीर्घ हुआ है ॥

'विद' धातु से 'विवेयम्', तथा 'शक्लृ' से 'शकेयम्' की सिद्धि उपस्थेयम् के के समान ही जानें ॥

—:०:—

परि० कर्मवत्० (३।१।८७)

भिद्यते

'भिदिर्' धातु से 'भिद्यते' की सिद्धि परि० १।३।१३ के आस्यते के समान जानें। 'अभेदि' की सिद्धि चिण् ते पदः (३।१।६०) सूत्र पर की गई सिद्धि के समान जानें ॥

कारिष्यते

'कारिष्यते' यहाँ लृट् लकार में प्रकृत सूत्र से कर्मवद्भाव होने से कर्माश्रित कार्य स्यसिच्सीयुट्० (६।४।६२) से 'चिण्वद्भाव करना' हो गया है। तथा इसी सूत्र से इट् आगम भी हो गया है। चिण्वत्कार्य यहाँ अचो ञ्णिति (७।२।११५) से 'कृ' को वृद्धि करना ही है। शेष सारी सिद्धि परि १।४।१३ के करिष्यति के समान ही है। आत्मनेपद भी भावकर्मणोः (१।३।१३) से हो ही जायेगा। सो यहाँ वृद्धि, स्यसिच० (६।४।६२) से इट् आगम, तथा आत्मनेपद करना ही विशेष है ॥

—:०:—

परि० न दुहस्नुनमां० (३।१।८९)

दुग्धे

दुह भूवादयो० (१।३।१), यहाँ कर्मकर्त्ता में कर्मवत् कर्मणा० (३।१।८७) से कर्मवद्भाव होने से कर्मवाच्य के सब कार्य प्राप्त हुये। पर प्रकृत सूत्र से यक् का प्रतिषेध हो जाने से, कर्त्तरि शप् (३।१।६८) से शप् हो गया। भावकर्मणोः० (१।३।१३) से आत्मनेपद हो ही जायेगा। टित आत्मने० (३।४।७९) लगकर—

दुह् शप् ते अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२), दादेर्धातोर्घः (८।२।३२)।

दुघ् ते झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) लगकर—
दुघ् धे झलां जश् झशि (८।४।५२) लगकर—
दुग्धे बना ॥

अदोहि; अदुग्ध

'अदोहि' की सिद्धि ३।१।६० सूत्र के समान जानें । जिस पक्ष में कर्मकर्त्ता में दुहश्च (३।१।६३) से चिण् हो गया, उस पक्ष का यह रूप है ॥ जब पक्ष में चिण् नहीं हुआ, तो सिच् हो गया, तब 'अदुग्ध' बना । सिद्धि इस पक्ष में परि० ३।१।६३ में ही देखें ॥

प्रास्नोष्ट; प्रास्नाविष्ट

'प्र पूर्वक स्नु' धातु से पूर्ववत् ही शप् का लुक् होकर 'प्रस्नुते' बना है । लुङ् लकार में कर्मवत् कर्मणा० (३।१।८७) से चिण् प्राप्त था । जिसका प्रकृत सूत्र से निषेध हो गया । तो च्लेः सिच् (३।१।४४); से सिच्, तथा पूर्ववत् सब कार्य होकर 'प्र अट् स्नु सिच् त=प्र अ स्नु स् त' रहा । आदेशप्र० (८।३।५९) से षत्व, एवं ष्टुत्व तथा सवर्ण दीर्घ होकर 'प्रास्नोष्ट' बना है ॥ स्यसिच्सीयुट्० (६।४।६२) से पक्ष में चिण्वत् कार्य होने से इट् आगम, तथा अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि होकर—'प्र अट् स्नौ इट् स् त' रहा । आवादेश होकर 'प्रास्नाविष्ट' बन गया ॥

अनंस्त

'नम' धातु से प्रकृत सूत्र से यक् का प्रतिषेध होने पर शप् होकर 'नमते' बना है । लुङ् में भी चिण् का प्रतिषेध होकर सिच् हो गया, तो 'अट् नम् सिच् त' रहा । नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४) से 'म्' को अनुस्वार होकर 'अनंस्त' बना है ॥

—:०:—

परि० अचो यत् (३।१।९७)

गेयम् (गाने योग्य)

गै शब्दे भूवादयो० (१।३।१), आदेच उपदेशे० (६।१।४४), धातोः (३।१।९१), अचो यत्, प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) ।
गा यत् यस्मात् प्रत्यय० (१।४।१३), अङ्गस्य (६।४।१), ईद्यति (६।४।६५), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) ।
ग् ई य सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४), कृत्तद्धित० (१।२।४६) ।

गेए य　　पूर्ववत् सु आकर, अतोऽम् (७।१।२४), अमि पूर्वः (६।१।१०३) लगकर—

गेयम्　　बना ॥

इसी प्रकार 'पा' धातु से 'पेयम्' (पीने योग्य) की सिद्धि जानें ॥ 'चि यत् जि यत्' यहाँ पूर्ववत् गुण होकर 'चेयम्' (चुनने योग्य), 'जेयम्' (जीतने योग्य) बनेगा ॥ ये प्रत्यय कृत्याः (३।१।९५) से कृत्यसंज्ञक हैं। अतः तयोरेव कृत्य० (३।४।७०) से भाव कर्म में ही होंगे, न कि कर्त्तरि कृत् (३।४।६७) से कर्त्ता में ॥

—:०:—

परि० पाघ्राध्मा० (३।१।१३७)

उत्पिबः (उठाकर पीनेवाला)

पा　　भूवादयो० (१।३।१) धातोः (३।१।९१), पाघ्राध्माधेट्दृशः शः, कर्त्तरि कृत् (३।४।६७)।

पा श　　तिङ्शित् सार्व० (३।४।११३), कर्त्तरि शप् (३।१।६८)।

पा शप् अ　　पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्० (७।३।७८) से पा को 'पिब' आदेश।

उद् पिब अ अ अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप होकर—

उत्पिब अ　　अतोगुणे (६।१।९४), खरि च (८।४।५४), पूर्ववत् सु आकर, रुत्व विसर्जनीय होकर—

उत्पिबः　　बन गया ॥

इसी प्रकार पूर्ववत् सब कार्य, तथा पाघ्राध्मास्थाम्ना० (७।३।७८) से घ्रा को जिघ्र, ध्मा को धम, तथा दृश् को 'पश्य' आदेश शप् प्रत्यय के परे रहते होकर— उज्जिघ्रः (सूँघनेवाला), विजिघ्रः (विशेष रूप से सूँघनेवाला), उद्धमः (धौंकनेवाला), विधमः (विपरीत धौंकनेवाला), उत्पश्यः (ऊपर को देखनेवाला), विपश्यः (विशेष देखनेवाला), पश्यः (देखनेवाला) बनेगा। 'धेट्' धातु से पूर्ववत् सब कार्य होकर 'धे' अ अ' रहा। अयादेश तथा अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप होकर उद्धयः (पीनेवाला), विधयः (विशेष पान करनेवाला) बनेगा ॥

—:०:—

परि० अनुपसर्गाल्लिम्प० (३।१।१३८)

'लिप' तथा 'विद्लृ' धातुएं तुदादि गण की हैं। सो इनसे प्रकृत सूत्र से श

प्रत्यय होकर, तुदादिभ्यः शः (३।१।७७) से श विकरण भी हुआ है। शे मुचादीनाम् (७।१।५९) से श प्रत्यय के परे रहते नुम् आगम होकर 'लि नुम् प् अ अ' रहा। पूर्ववत् दोनों अकारों को पररूप होकर 'लिम्पः' (लीपनेवाला), 'विन्दः' (प्राप्त होनेवाला) बनेगा॥ 'धृञ्, पृ' तथा 'उत् पूर्वक एजृ' इन धातुओं से हेतुमति च (३।१।२६) से णिच्, तथा वृद्धि होकर 'धारि पारि उदेजि' धातुएं (३।१।३२) बनी हैं। तत्पश्चात् प्रकृत सूत्र से श प्रत्यय, तथा शप् विकरण होकर 'धारि शप् श' रहा। गुण तथा अयादेश होकर 'धारयः' (धारण करानेवाला), 'पारयः' (पालन करानेवाला), 'उदेजयः' (कंपानेवाला) बनेगा॥ शेष 'विद' 'चिती संज्ञाने' 'षह मर्षणे' धातुएं चुरादि की हैं। सो चुरादिभ्यो णिच् (३।१।२५) से णिच् होकर, तथा शेष पूर्ववत् होकर 'वेदयः' (जतलानेवाला), 'चेतयः' (चेतना लानेवाला), 'साहयः' (सहनेवाला) बनेगा। 'साति' सौत्र पाठ की धातु है, उससे पूर्ववत् सब होकर 'साति शप् श' = 'सातयः' बना है॥

—:०:—

परि० ददातिदधा० (३।१।१३९)

ददः (देनेवाला)

डुदाञ्	भूवादयो० (१।३।१), ददातिदधात्योर्विभाषा, प्रत्ययः परश्च (३।१।१,२)।
दा श	तिङ्शित् सार्व० (३।४।११३), कर्त्तरि शप् (३।१।६८), जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२।४।७५)। प्रत्ययस्य लुक० (१।१।६०), श्लौ (६।१।१०), पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४)।
दा दा अ	ह्रस्वः (७।४।५९), सार्वधातुकमपित् (१।२।४), श्नाभ्यस्तयोरातः (६।४।११२)।
द द् अ	पूर्ववत् सु आकर रुत्व विसर्जनीय होकर—
ददः	बना॥

इसी प्रकार 'डुधाञ्' धातु से 'दधः' (धारण करनेवाला) की सिद्धि जानें। अभ्यासे चर्च (८।४।५३) से यहाँ अभ्यास के 'ध' को द' हो जाता है। अकारान्त धातु होने से पक्ष में श्याद्व्यधास्रु० (३।१।४१) से ण प्रत्यय होकर 'दायः' 'धायः' बनेगा। आतो युक् चिण्कृतोः (७।३।३३) से यहाँ युक् आगम ही विशेष है॥

—:०:—

परि० श्याद्व्यधास्रु०(३।१।१४१)

'श्यैङ्' धातु को आदेच उपदेशे० (६।१।४४) से आत्व, तथा प्रकृत सूत्र से ण प्रत्यय होकर 'अव श्या ण' रहा। आतो युक० (७।३।३३) से युक् आगम होकर 'अवश्यायः' (ओस), प्रतिश्यायः (जुकाम) बना है। 'दायः धायः' की सिद्धि परि० ३।१।१३९ में देखें॥

अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि होकर 'व्याधः' (शिकारी), 'श्वासः' (सांस लेनेवाला) की सिद्धि जानें। 'स्रु' धातु को ण परे रहते अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि, तथा आवादेश होकर 'आस्रावः' (बहनेवाला), संस्रावः (बहनेवाला) बनेगा। 'अति पूर्वक इण्' धातु से भी इसी प्रकार वृद्धि आयादेश करके 'अत्यायः' (उल्लङ्घन करनेवाला), तथा 'हृ' धातु से 'अवहारः' (ले जानेवाला) बनेगा। 'षो' धातु को धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से 'ष्' को 'स्', तथा पूर्ववत् आदेच उप० (६।१।४४) से आत्व एवं युक् आगम होकर 'अवसायः' (समाप्त करनेवाला) की सिद्धि जानें। 'लेहः (चाटनेवाला), श्लेषः (चिपकनेवाला) में कुछ भी विशेष नहीं है। केवल यहाँ पुगन्तलघू० (७।३।८६) से लघूपधगुण हुआ है॥

—:०:—

द्वितीयः पादः

परि० एजेः खश् (३।२।२८)

अङ्गमेजयः (अङ्गों को कंपा देनेवाला)

एज्	भूवादयो० (१।३।१), हेतुमति च (३।१।२६)।
एज णिच् = एजि	सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२)।
अङ्ग अम् एजि	तत्रोपपदं सप्त० (३।१।९२), एजेः खश् लगकर—
अङ्ग अम् एजि खश्	उपपदमतिङ् (२।२।१९), सुपो धातुप्रा० (२।४।७१)।
अङ्ग एजि अ	तिङ्शित् सार्व० (३।४।११३), कर्त्तरि शप् (३।१।६८)।
अङ्ग एजि शप् अ	सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४), अरुर्द्विषदजन्तस्य० (६।३।६५)।

अङ्ग मुम् एजे अ अ=अङ्गम् एजे अ अ एचोयवायावः (६।१।७५), अतो गुणे (६।१।९४), कृत्तद्धित० (१।२।४६)। पूर्ववत् सु आकर—

अङ्गमेजयः बन गया॥

इसी प्रकार 'जनमेजयः' (हस्तिनापुर का प्रसिद्ध राजा), 'वृक्षमेजयः' (वृक्षों को कंपा देनेवाला=वायु) की सिद्धि जानें॥

—:०:—

परि० नासिकास्तनयो० (३।२।२९)

नासिकन्धमः (नासिका को धौंकनेवाला)

'नासिका' कर्म उपपद रहते 'ध्मा' धातु से प्रकृत सूत्र से खश् प्रत्यय होकर, पूर्व सूत्र के अनुसार ही सिद्धि जानें। केवल यहाँ विशेष यह है कि खित्यनव्ययस्य (६।३।६४), से नासिका के 'का' को ह्रस्व हो गया है। तथा पाघ्राध्मास्था० (७।३।७८) से ध्मा को धम आदेश हो गया है॥

'स्तनन्धयः' (स्तन को पीनेवाला बच्चा), 'नासिकन्धयः' (नासिका को पीनेवाला कोई बच्चा) यहाँ भी धेट् के धे को अयादेश होकर, पूर्ववत् सिद्धि जानें। धेट् के टित् होने से 'स्तनन्धयी' में टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से ङीप् भी होता है॥

—:०:—

परि० कुमारशीर्ष० (३।२।५१)

कुमारघाती (कुमारं हन्तीति=कुमार को मारनेवाला)

कुमार अम् हन् भूवादयो० (१।३।१), तत्रोपपदं० (३।१।९२), कुमारशीर्षयोर्णिनिः।

कुमार अम् हन् णिनि उपपदमतिङ् (२।२।१९), सुपो धातु० (२।४।७१)।

कुमारहन् इन् हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु (७।४।५४), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९)।

कुमारघन् इन् हनस्तोऽचिण्णलोः (७।३।३२) से 'न्' को 'त्' होकर—

कुमारघत् इन् अत उपधायाः (७।२।११६) लगकर—

कुमारघातिन् कृत्तद्धित० (१।२।४६)। पूर्ववत् 'सु' आकर—

कुमारघातिन् सु सौ च (६।४।१३) से दीर्घ होकर—

कुमारघातीन् स् अपृक्त एका० (१।२।४१), हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६)।

कुमारघातीन् नलोपः प्रातिपदि० (८।२।७) से 'न्' लोप होकर—

कुमारघाती बना ॥

इसी प्रकार 'शिरस' कर्म उपपद रहते 'शीर्षघाती' (सिर काटनेवाला) की सिद्धि जानें। प्रकृत सूत्र के ही निपातन से शिरस् को शीर्षभाव भी हो जायेगा ॥

—:०:—

परि० ऋत्विग्दधृक्० (३।२।५६)

प्राङ् (पूर्व)

अञ्चु भूवादयो० (१।३।१), ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगु०, प्रत्ययः परश्च (३।१।१,२)।

प्र अञ्च् क्विन्=प्र अञ्च् व अनिदितां हल उपधायाः० (६।४।२४)।

प्र अच् व् अपृक्त एकाल्० (१।२।४१), वेरपृक्तस्य (६।१।६५)।

प्र अच् अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७), कृत्तद्धित० (१।२।४६)। पूर्ववत् सु विभक्ति आकर—

प्राच् सु उगिदचां सर्वनाम० (७।१।७०), मिदचोन्त्यात् परः (१।१।४६)।

प्रा नुम् च् स् हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६)।

प्रा संयोगान्तस्य लोपः (८।२।२३), हलोऽनन्तराः० (१।१।७)।

प्रान् क्विन्प्रत्ययस्य कुः (८।२।६२), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९)। लगकर—

प्राङ् बना ॥

इसी प्रकार 'प्रति पूर्वक अञ्चु' धातु से पूर्ववत् सब होकर 'प्रति अङ्' बना। यणादेश होकर 'प्रत्यङ्' (पश्चिम) बन गया। 'उद् पूर्वक अञ्चु' धातु से 'उदङ्' (उत्तर) की सिद्धि जानें। 'युज् धातु' से 'युङ्' (जोड़नेवाला) की सिद्धि में युजेरसमासे (७।१।७१) से नुम् होता है। शेष पूर्ववत् है। 'क्रुञ्च' धातु से क्रुङ् (एक प्रकार का बगला) की सिद्धि भी प्राङ् के समान ही पूर्ववत् जानें। निपातनों के साथ पाठ होने के कारण क्रुञ्च की उपधा नकार का लोप नहीं हुआ ॥

—:०:—

परि० सत्सूद्विषद्रुह० (३।२।६१)

वेदि शुचि तथा अन्तरिक्ष उपपद रहते षद्लृ धातु से प्रकृत सूत्र से क्विप्

प्रत्यय होकर, तथा क्विप् का सर्वापहारी लोप होकर—वेविषत् (होता); शुचिषत्; अन्तरिक्षसत् बनेगा। षद्लृ के 'ष्' को 'स्' धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से होता है। वेविषत्, शुचिषत् में 'स' को ष्' पूर्वपदात् (८।३।१०६) से होता है। ये सब छान्दस प्रयोग हैं। ऋग्०४।४०।५ में इनका इस प्रकार पाठ है—

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ॥

प्रसत् (अच्छी तरह बैठनेवाला); वत्ससूः गौः (बछड़ा देनेवाली गौ); अण्डसूः (अण्डे को पैदा करनेवाली=मुर्गी); शतसूः (सौ को उत्पन्न करनेवाली); प्रसूः (प्रसव करनेवाली) की सिद्धियों में कुछ भी विशेष नहीं है। मित्रद्विट् (मित्र से द्वेष करनेवाला), प्रद्विट् (शत्रु) यहाँ 'द्विष' के ष को ड् झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से, तथा 'ड्' को ट् वावसाने (८।४।५५) से हुआ है॥

मित्रध्रुक् (मित्र से द्रोह करनेवाला); प्रध्रुक् (द्रोही), यहाँ 'द्रुह्' धातु के ह् को घ वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् (८।२।३३) से होकर, एकाचो बशो भष्० (८।२।३७) से भषत्व, तथा पूर्ववत् झलां जशोऽन्ते (८।२।३९), वावसाने (८।४।५५) लगकर मित्रध्रुक्, प्रध्रुक् बन गया॥

गोधुक् (ग्वाला), प्रधुक् (ग्वाला), यहाँ 'दुह्' के 'ह्' को 'घ' दादेर्धातोर्घः (८।२।३२) से हुआ है। शेष मित्रध्रुक के समान जानें॥ अश्वयुक् (घोड़े को जोतनेवाला), प्रयुक् (जोतनेवाला), यहाँ युज् के ज् को चोः कुः (८।२।३०) से ग्, तथा वावसाने (६।४।५५) से क् हुआ है, शेष पूर्ववत् है॥ वेदवित् (वेद को जाननेवाला); ब्रह्मवित् (ब्रह्म को जाननेवाला); प्रवित् (वेत्ता); काष्ठभित् (काष्ठ को फाड़नेवाला); प्रभित् (बढ़ई); रज्जुच्छित् (रस्सी को काटनेवाला); प्रच्छित् (काटनेवाला), यहां छे च (६।१।७१) से तुक् आगम, तथा श्चुत्व ही विशेष हुआ है॥ शत्रुजित्(शत्रु को जीतनेवाला); प्रजित् (जीतनेवाला),यहां ह्रस्वस्य पिति० (६।१।६९)से तुक् आगम होकर—शत्रु जि तुक्=शत्रुजित् बना॥'णीञ्' धातु के ण को णो नः(६।१।६३)से 'न' होकर सेनानीः (सेनापति); प्रणीः(नेता); अग्रणीः(नेता); ग्रामणीः (ग्राम का नायक)बना है। प्रणीः में उपसर्गाद०(८।४।१४) से णत्व होता है। अग्रणीः,ग्रामणीः में णत्व प्राप्त नहीं होता, क्योंकि पूर्वपदात् संज्ञा० (८।४।३) से संज्ञा में ही नियम है, और 'अग्रणी ग्रामणी' संज्ञा नहीं हैं। परन्तु स एषां ग्राम०(५।२।७८) सूत्र में ग्रामणी पद के प्रयोग से ज्ञापित होता है कि असंज्ञा में भी णत्व होता है। अतः दोनों उदाहरणों में णत्व सिद्ध हो जाता है। विश्वराट् (परमेश्वर),विराट् (परमेश्वर), सम्राट् यहाँ 'राज्' धातु के 'ज्' को 'ष्' व्रश्चभ्रस्जसृज० (८।२।३६) से होकर, शेष जश्त्व चर्त्व मित्रद्विट् के समान जानें। 'सम्राट्'

यहां 'सम्' के मकार को मोऽनुस्वारः (८।३।२३) से अनुस्वार प्राप्त था, सो मो राजि समः क्वौ (८।३।२५) से मकार को मकारादेश ही विधान कर दिया है, ताकि अनुस्वार न हो ॥

—:०:—

परि० अन्येभ्योऽपि० (३।२।७५)

शोभनं शृणाति=सुशर्मा (अच्छे सुखवाला), यहाँ 'सु' उपपद रहते 'शॄ हिंसायाम्' धातु से प्रकृत सूत्र से मनिन् होकर, पूर्वसूत्र के 'सुदामा' के समान सिद्धि जानें ॥ प्रातरित्वा (प्रातःकाल जानेवाला), यहाँ प्रातर् शब्द उपपद रहते 'इण् गतौ' धातु से क्वनिप् प्रत्यय होकर—'प्रातर् इण् क्वनिप्'=प्रातर् इ वन् रहा। ह्रस्वस्य पिति कृति० (६।१।६९) से तुक् आगम होकर—'प्रातरि तुक् वन्' बना। पूर्ववत् दीर्घ इत्यादि होकर 'प्रातरित्वा' बन गया ॥

'जनी प्रादुर्भावे' धातु से वनिप् प्रत्यय के परे रहते विड्वनोरनुनासि० (६।४।४१) से अन्त्य अल् (१।१।५१) न् को आत्व होकर—'प्र ज आ वनिप्=प्रजावन् सु' रहा। शेष पूर्ववत् होकर प्रजावा (पैदा होनेवाला) बनेगा। अग्रेगावा (आगे जानेवाला) में भी 'अग्रे उपपद रहते गम् धातु' से पूर्ववत् 'म्' को आत्व होकर सिद्धि जानें ॥

'रिष्' धातु से विच् प्रत्यय होकर तथा विच् का सर्वापहारी लोप, और लघूपध गुण होकर 'रेष् सु' रहा। हल्ङ्यादि लोप, तथा झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से जश्त्व होकर रेड् असि='रेडसि' बन गया ॥

—:०:—

परि० क्विप् च (३।२।७६)

उखास्रत् (उखायाः स्रंसति=बटलोई से गिरनेवाला)

'उखास्रत्' यहाँ उखा उपपद रहते 'स्रंसु' धातु से प्रकृत सूत्र से क्विप् प्रत्यय हुआ है। अनिदितां हल उप० (६।४।२४) से अनुनासिक का लोप, तथा क्विप् का सर्वापहारी पूर्ववत् लोप होकर—'उखास्रस् सु' रहा। हल्ङ्यादि लोप, तथा वसुस्रंसुध्वंस्वन० (८।२।७२) से 'स्रस्' के स् को द् होकर—उखास्रद् बना। वाऽवसाने (८।४।५५) से चर्त्व होकर 'उखास्रत्' बन गया ॥

इसी प्रकार 'पर्ण' उपपद रहते 'ध्वंसु' धातु से पर्णानि ध्वंसते='पर्णध्वत्' (पत्ते गिरानेवाला) बनेगा। वाह उपपद रहते 'भ्रन्शु अधःपतने' धातु से पूर्ववत् सब होकर, तथा व्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से श को ष्, एवं पूर्ववत् जश्त्व चर्त्व होकर 'वाहभ्रट्' बना। अन्येषामपि दृश्यते (६।३।१३५) से दीर्घ होकर वाहाभ्रट् बन जायेगा॥

—:o:—

परि० लिटः कानज्वा (३।२।१०६)

चिक्यानः

चिञ् भूवादयो० (१।३।१), छन्दसि लिट् (३।२।१०५) से लिट् प्रत्यय होकर—

चि लिट् प्रकृत सूत्र से लिट् के स्थान में कानच् आदेश होकर, तथा लिटि धातोर० (६।१।८) से द्वित्व होकर—

चि चि कानच् =चि चि आन विभाषा चेः (७।३।५८) लगकर—

चि कि आन अचि श्नुधातु०(६।४।७७)से इयङ् आदेश प्राप्त हुआ। पर इयङ् को बाधकर एरनेकाचोऽसं० (६।४।८२) से यणादेश हो गया।

चिक्यान कृत्तद्धित० (१।२।४६)। पूर्ववत् 'सु' आकर, रुत्व विसर्जनीय होकर—

चिक्यानः बन गया॥

'षुञ्' धातु से पूर्ववत् ही सुषुवाणः की सिद्धि जानें। अचि श्नुधातु० (६।४।७७) से उवङ् आदेश। आदेशप्रत्ययोः (८।३।५९) से षत्व, तथा अट्कुप्वाङ्० (८।४।२) से णत्व होना ही यहां विशेष है॥

जब पक्ष में कानच् आदेश नहीं हुआ, तो 'दृशिर्' धातु से लिट् के स्थान में णल् होकर 'ददर्श' बन गया॥

—:o:—

परि० भाषायां सद० (३।२।१०८)

उपसेदिवान् कौत्सः (कौत्स पहुँचा)

'षद्लृ' धातु से प्रकृत सूत्र से भूतसामान्य में लिट् के स्थान में क्वसु विधान करने से लिट् प्रत्यय भी भूतसामान्य में इसी सूत्र से हो जाता है, ऐसा अनुमान

किया गया। पुनः लिट् को क्वसु आदेश होकर–'सद् क्वसु' रहा। क्वसु को स्थानिवत् से लिट् ही मानकर द्वित्वादि कार्य पूर्ववत् हो गये, तो–'सद् सद वस्' रहा। वस्वेकाजाद्घसाम् (७।२।६७) से इट् आगम होकर—सद् सद् इट् वस्' बना। अत एकहल्मध्ये० (६।४।१२०) से अभ्यासलोप, तथा एत्व होकर 'सेद् इ वस्' रहा। सान्तमहतः० (६।४।१०) से दीर्घ होकर 'उपसेदिवास्' रहा। शेष सिद्धि परि० १।१।५ के चितवान् के समान जानें॥

लुङ् लकार में 'उपासदत्' की सिद्धि परि० ३।१।५३ के अलिपत् के समान जानें। यहां पुषादिद्युता० (३।१।५५) से च्लि के स्थान में अङ् होता है॥ लङ् लकार में सद् को पाघ्राध्मास्था० (७।३।७८) से शप् परे रहते सीद आदेश होकर 'अट् सीद् शप् तिप्=उप असीदत्' रहा। सवर्ण दीर्घ होकर 'उपासीदत्' बन गया॥

परोक्षे लिट् (३।२।११५) से लकार होकर तिप् को णल्, तथा पूर्ववत् द्वित्वादि होकर 'उपससाद' बन गया। अत उपधाया: (७।२।११६) से वृद्धि हो ही जायेगी॥

अनूषिवान् (वह रहा), यहाँ अनुपूर्वक 'वस' धातु से पूर्ववत क्वसु होकर, तथा वचिस्वपि० (६।१।१५) से सम्प्रसारण होकर—'अनु उस् वस्' रहा। पूर्ववत् ही द्वित्वादि सारे कार्य, तथा शासिवसिघसीनां च (८।३।६०) से षत्व होकर—'अनु उ उष् इट् वस्' रहा। सवर्ण दीर्घ, तथा पूर्ववत् सब होकर 'अनूषिवान्' बन गया॥

'अन्ववात्सीत्' की सिद्धि परि० १।१।१ के अलावीत् के समान ही है। केवल वदव्रजहल० (७।२।३) से वृद्धि, तथा सः स्यार्धधातुके (७।४।४९) से 'स' को 'त' करना ही यहाँ विशेष है। यहाँ इट् का प्रतिषेध एकाच उपदे० (७।२।१०) से हो जाता है॥

लङ् लकार 'अन्ववसत्' में कुछ भी विशेष नहीं है। तथा लिट् लकार 'अनुवास' में पूर्ववत् सम्प्रसारण कार्य जानें॥

'उपशुश्रुवान्' की सिद्धि क्वसु परे रहते पूर्ववत् जानें॥ लुङ् लकार में 'उपाश्रौषीत्' की सिद्धि भी परि० १।१।१ के अकार्षीत् के समान ही जान लें॥ लिट् लकार के 'उपशुश्राव' में भी कोई विशेष नहीं है॥ लङ् लकार में श्रुवः शृ च (३।१।७४) से श्नु विकरण तथा श्रु धातु को 'शृ' भाव होकर—'अ शृ श्नु त्' रहा। गुण होकर 'अशृणोत्' बना॥

—:०:—

परि० उपेयिवान० (३।२।१०९)

'उपागात्' यहाँ 'इण्' धातु को इणो गा लुङि (२।४।४५) से लुङ् परे रहते 'गा' आदेश हुआ है। गातिस्थाघुपा० (२।४।७७) से यहाँ सिच् का लुक् होता है। शेष कार्य लुङ् की सिद्धि के समान जानें॥

'उपैत्' यहाँ लङ् लकार के पूर्ववत् सब कार्य होकर—'उप आट् इ शप् तिप्' रहा। अदिप्रभृतिभ्यः शपः (६।१।४४) से शप् का लुक्, और सार्वधा० (७।३।८४) से गुण होकर 'उप आ ए त्' रहा। आटश्च (६।१।८७) से वृद्धि एकादेश, तथा पुनः 'उप' के साथ वृद्धि एकादेश होकर 'उपैत्' बन गया॥

उपेयाय

इण् गतौ — भूवादयो० (१।३।१)। पूर्ववत् ही यहाँ भी लिट् के स्थान में तिप्, तथा तिप् को परस्मै० (३।४।८२) से णल् आदेश होकर—

इ णल् — अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि। एवं आयादेश होकर—

आय् अ — लिटि धातो० (६।१।८), एकाचो द्वे० (६।१।१), द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८)।

इ आय् अ — अभ्यासस्यासवर्णे (६।४।७८), ङिच्च (१।१।५२)।

उप इयङ् आय् अ = उप इय् आय आद् गुणः (६।१।८४) लगकर—

उपेयाय — बन गया॥

'अश' धातु से लुङ् में पूर्ववत् आट् आदि होकर—'आट् अश् इट् स् ईट् त्' रहा। सिच् के स् का लोप, सवर्णदीर्घ, तथा आटश्च (६।१।८७) से वृद्धि एकादेश होकर आशीत् बना। न आशीत् = 'नाशीत्' सवर्णदीर्घ होकर बन गया॥

लङ् लकार में न आश्नात् = 'नाश्नात्' बना है। क्र्यादिभ्यः श्ना (३।१।८१) से श्ना विकरण, तथा आट् आगम हो ही जायेगा॥

'नाश' यहाँ लिट् लकार में पूर्ववत् द्वित्व, तथा णल् आकर 'अ अश् अ' रहा। उपधावृद्धि तथा अत आदेः (७।४।७०) से अभ्यास को दीर्घ होकर 'आश' बना। न आश = 'नाश' बन गया॥

'अनु पूर्वक ब्रूञ्' धातु को ब्रुवो वचिः (२।४।५३) से वच् आदेश होकर—'अन्ववोचत्' की सिद्धि परि० (३।१।५२) के अवोचत् के समान जानें। 'अनु अवोचत्' यणादेश होकर 'अन्ववोचत्' बन गया॥

लङ् लकार में पूर्ववत् सब कार्य होकर 'अनु अट् ब्रू शप् तिप्' रहा। ब्रुव

ईट् (७।३।९३) से ईट् आगम, तथा अदि प्रभृतिभ्य:० (२।४।७२) से शप् का लुक् होकर-'अनु अ ब्रू ईट् त्'=अन्व ब्रो ई त्, अवादेश होकर अन्वब्रवीत् बन गया ।। लिट् लकार में परि० २।४।४१ के 'उवाच' की सिद्धि के समान ही यहाँ सब कार्य होकर 'वच्' धातु से 'अनु उवाच'='अनूवाच' बन गया ।।

—:०:—

परि० विभाषा साकाङ्क्षे (३।२।११४)

'वत्स्याम:' की सिद्धि सूत्र ३।२।११२ में देखें। उसी प्रकार 'पास्याम:' की भी समझें ।। 'भोक्ष्यामहे' की सिद्धि में भी पूर्ववत् सब कार्य होकर- भुज् ष्या महिङ्' रहा। लघूपध गुण होकर—'भोज् ष्या महि' रहा। चो: कु: (८।२।३०) से ज् को ग्, तथा खरि च (८।४।५४) से ग् को क् होकर-'भोक् ष्या महि' रहा। टित आत्मने० (३।४।७९) से टि को एत्व होकर 'भोक्ष्यामहे' बन गया ।। 'अवसाम' की सिद्धि सूत्र ३।२।११३ में देखें ।।

अभुञ्ज्महि

'भुज' धातु से भी पक्ष में प्रकृत सूत्र से लङ् होकर, पूर्ववत् सब सूत्र लगकर- 'अट् भुज् महिङ्' रहा। रुधादिभ्य: श्नम् (३।१।७८), तथा मिदचोऽन्त्यात् पर: (१।१।४६) से अन्त्य अच् से परे श्नम् होकर-'अ भु श्नम् ज् महि=अ भु न ज् महि' रहा। श्नसोरल्लोप: (६।४।१११) से श्नम् के अ का लोप होकर--'अभ्न्ज् महि' रहा। नश्चापदान्तस्य झलि (८।३।२४), तथा अनुस्वारस्य ययि० (८।४।५७) लगकर 'अभुञ्ज्महि' बन गया ।।

—:०:—

परि० लट: शतृशा० (३।२।१२४)

पचन्तम् (पकाते हुये को)

डुपचष् भूवादयो० (१।३।१), वर्त्तमाने लट् (३।२।१२३), प्रत्यय:, परश्च (३।१।१,२)।

पच् लट् लट: शतृशानचावप्रथ० से लट् के स्थान में शतृ हुआ।

पच् शतृ=पच् अत् तिङ्शित्० (३।४।११३), कर्त्तरि शप् (३।१।६८)।

पच् शप् अत्=पच् अ अत् अतो गुणे (६।१।९४) लगकर—

पचत् कृत्तद्धित० (१।२।४६)। पूर्ववत् 'अम्' विभक्ति आकर—

पचत् अम् सुडनपुंसकस्य (१।१।४२), उगिदचां सर्व० (७।१।७०), मिदचो० (१।१।४६)।

पच नुम् त् अम् = पचन्त् अम् = पचन्तम् बन गया ॥

पचमानम् (पकाते हुए को)

डुपचष् पूर्ववत् लट के स्थान में 'शानच्' आदेश हुआ।

पच् शप् शानच् = पच आन पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर आने मुक् (७।२।८२), आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) सूत्र लगे।

पच मुक् आन = पच म् आन पूर्ववत् 'अम्' विभक्ति आकर—

पचमान अम् अमि पूर्वः (६।१।१०३) लगकर—

पचमानम् बन गया ॥

—:o:—

परि० लक्षणहेत्वोः० (३।२।१२६)

'शीङ्' धातु से प्रकृत सूत्र से 'शानच्' होकर 'शी शानच्' रहा। पूर्ववत् शप् विकरण होकर उसका अदिप्रभृतिभ्यः० (२।४।७२) से लुक् भी हो गया। शीङः सार्वधा० (७।४।२१) से गुण, एवं अयादेश होकर 'शय् आन' = 'शयानः' बन गया ॥

शतृ परे रहते 'स्था' को पाघ्राध्मास्थाम्ना० (७।३।७८) से तिष्ठ आदेश होकर—'तिष्ठ शप् अत्' रहा। नुम् आगम पूर्ववत् होकर—'तिष्ठ अ अ नुम् त्' = 'तिष्ठ अ अ न् त् रहा'। संयोगान्तस्य लोपः (८।२।२३) से 'त्' का लोप, तथा अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप होकर 'तिष्ठन्' बन गया ॥ 'उप पूर्वक दिश' धातु से 'उपदिशन्' पूर्ववत् ही समझें ॥

'अधि पूर्वक इङ् अध्ययने' धातु से 'अधि इ शप् आन' रहा। अदिप्रभृ० (२।४।७२) से शप् का लुक्। तथा अचि श्नुधातु० (६।४।७७) से इयङ् होकर—'अधि इयङ् आन' रहा। सवर्ण दीर्घ होकर—अधीय् आन = 'अधीयानः' बन गया ॥

—:o:—

परि० ताच्छील्य० (३।२।१२९)

मुण्डयमानाः (मुण्डं करोति मुण्डयति = मुण्डन किये हुये)

मुण्ड अर्थवदधातु० (१।२।४५), तत्करोतीत्युपसङ्ख्यानं सूत्रयत्याद्यर्थम् (वा० ३।१।२६) इस वार्त्तिक से णिच् आकर—

मुण्ड णिच् — णाविष्ठवत् प्राति० (वा० ६।४।१५५) से टि भाग का लोप हुआ। अचोन्त्यादि टि (१।१।६३) लगकर—

मुण्ड इ — सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२), धातोः (३।१।९१)।

मुण्डि — अब मुण्डि धातु बनकर ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु० से 'चानश्' प्रत्यय होकर, प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) लगकर—

मुण्डि चानश् = आन शेष परि० ३।२।१२४ के समान मुक् होकर—

मुण्डि शप् मुक् आन सार्वधातुकार्धधा० (७।३।८४) लगकर—

मुण्डे अम् आन — एचोयवायावः (६।१।७५) से अयादेश।

मुण्डय् अम् आन — कृत्तद्धित० (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा होकर, पूर्ववत् सब सूत्र लगकर 'जस्' विभक्ति आई।

मुण्डयमाना जस् = अस् प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८), तथा रुत्व विसर्जनीय पूर्ववत् होकर—

मुण्डयमानाः — बना॥

इसी प्रकार 'भूष' धातु से हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् आकर—भूष इ 'भूषि' धातु बनकर 'भूषयमाणाः' (सजे हुए) पूर्ववत् समझें। अट् कुप्वाङ्० (८।४।२) से केवल यहाँ आन के न को ण हुआ है, यही विशेष है॥

पर्यस्यमानाः

परि असु — भूवादयो० (१।३।१), प्रादयः उपसर्गाः० (१।४।५८)।

परि अस् — पूर्ववत् सारे सूत्र लगकर चानश् हुआ—

परि अस् चानश् — दिवादिभ्यः श्यन् (३।१।६९) से दिवादिगण को होने से श्यन् विकरण होकर—

परि अस् श्यन् आन यणादेश होकर, तथा सब सूत्र पूर्ववत् लगकर—

पर्यस्यमानाः — बना॥

इसी प्रकार 'वह्' तथा 'पच' धातु से बिना णिच् लाये सारे सूत्र वही लगकर 'वहमानाः, पचमानाः' भी बन गया॥

निघ्नानाः

नि हन — भूवादयो० (१।३।१), प्रादय उपसर्गाः० (१।४।५८), ताच्छील्यवयोवचन० से चानश् प्रत्यय। तिङ्शित्सार्व० (३।४।११३), कर्त्तरि शप् (३।१।६८)।

नि हन् शप् चानश् अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२) से शप् का लुक् ।

नि हन् आन सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से अपित् सार्वधातुक चानश् के ङित्वत् हो जाने से गमहनजनखनघसां० (६।४।९८) से उपधा का लोप हो गया ।

निह्न् आन हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु (७।३।५४), स्थानेन्तरतमः (१।१।४९) ।

निघ्न् आन पूर्ववत् प्रातिपदिक संज्ञा होकर जस् विभक्ति आई ।

निघ्नान जस् पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीयादि होकर—

निघ्नानाः बना ॥

—:०:—

परि० णेश्छन्दसि (३।२।१३७)

'धृङ् अवस्थाने' (तुदा० आ०) तथा 'पॄ पालनपूरणयोः' (जुहो० प०) से हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् प्रत्यय होकर, तथा अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि होकर—'धारि पारि' धातुएँ (३।१।३२) बनीं । तब प्रकृत सूत्र से इष्णुच् प्रत्यय हुआ । णेरनिटि (६।४।५१) के अपवाद अयामन्ताल्वाय्येत्० (६।४।५५) से णि को अयादेश होकर—'धारय इष्णु; पारय इष्णु' बना । पूर्ववत् जस् विभक्ति आकर जसि च (७।३।१०९) से गुण एवं अवादेश होकर—'धारयिष्णवः; पारयिष्णवः' बन गया ॥

—:०:—

परि० शमित्यष्टा० (३।२।१४१)

शमी (शान्त)

शमु उपशमे भूवादयो० (१।३।१), शमित्यष्टाभ्यो घिनुण्; प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२) ।

शम् घिनुण्=शम् इन् अब यहाँ अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि प्राप्त हुई । पर नोदात्तोपदेश० (७।३।३४) से निषेध हो गया ।

शमिन् सु सौ च (६।४।१३), हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) ।

शमीन् नलोपः प्रा० (८।२।७) लगकर—

शमी बना ॥

इसी प्रकार 'तमु काङ्क्षायाम्', 'दमु उपरमे', 'श्रमु तपसि खेदे च', 'भ्रमु अनवस्थाने', 'क्षमूष् सहने', 'क्लमु ग्लानौ' इन धातुओं से तमी (आकाङ्क्षा करने-

वाला); दमी (दमन करनेवाला); श्रमी (श्रम करनेवाला); भ्रमी (भ्रमण करनेवाला); क्षमी (सहन करनेवाला); क्लमी (ग्लानि करनेवाला) की सिद्धियाँ जानें ।।

'मदी हर्षे' धातु से वृद्धि आदि होकर प्रमादी (प्रमाद करनेवाला); उन्मादी (उन्माद करनेवाला) बना है। उन्मादी में उद् के 'द्' को 'न्' यरोऽनुनासिके० (८।४।४४) से हो जाता है।

—:०:—

परि० आदृगमहन० (३।२।१७१)

पपि:

पा भूवादयो० (१।३।१), धातो: (३।१।९१), आदृगमहनजन: किकिनौ० से 'कि' प्रत्यय करें वा 'किन' एक ही रूप बनता है।

पा कि लिट्वत् कार्यातिदेश करने से लिट् लकार के कार्य द्वित्वादि होते हैं। आतो लोप इटि च (६।४।६४) लगकर—

प् इ लिटि धातोरन० (६।१।८), द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८)।

पा प् इ पूर्वोऽभ्यास: (६।१।४), ह्रस्व: (७।४।५९)।

पपि पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, एवं रुत्व विसर्जनीय होकर—

पपि: बना ।।

इसी प्रकार 'डुदाञ्' धातु से ददि: बनेगा ।।

ततुरि:

तॄ भूवादयो० (१।३।१), धातो:(३।१।९१), आदृगमहनजन: किकिनौ० लगकर—

तॄ कि बहुलं छन्दसि (७।१।१०३) से उत्व प्राप्त, उरण्रपर: (१।१।५०) से रपर हुआ।

तुर् इ लिट्वत् अतिदेश होने से लिटि धातोरन० (६।१।८), द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) लगकर द्वित्व हुआ।

तॄ तुर् इ पूर्वोऽभ्यास: (६।१।४), उरत् (७।४।६६), उरण्रपर: (१।१।५०)।

तर् तुर् इ हलादि: शेष: (७।४।६०) लगकर—

त तुर् इ — पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति, तथा विसर्जनीय होकर—
ततुरिः — बना ॥

इसी प्रकार 'गॄ निगरणे' धातु से 'जगुरिः' बनेगा ॥

जग्मिः

गम् कि — पूर्ववत् सब लगकर—
गम् इ — गमहनजनखनघसां० (६।४।९८), अलोन्त्यात् पूर्व० (१।१।६४), लिटि धातोरनभ्या० (६।१।८), द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८)।
गम् ग्म् इ — पूर्ववत् अभ्यासकार्य, कुहोश्चुः (७।४।६२) आदि होकर—
जग्मि — शेष पूर्ववत् कृत्तद्धित० (१।२।४६) आदि लगकर—
जग्मिः — बना ॥

इसी प्रकार 'हन्' धातु से जघ्नि: में सब पूर्ववत् ही जानें। 'ज्ञा' धातु से जज्ञिः में भी पूर्ववत् द्वित्व, अभ्यासकार्य जानें ॥

—:०:—

परि० भ्राजभास० (३।२।१७७)

विभ्राट् (प्रकाशवान्)

भ्राजृ दीप्तौ — भूवादयो० (१।३।१), भ्राजभासधुर्वि० से क्विप् होकर—
भ्राज् क्विप्=व् वेरपृक्तस्य (६।१।६५)। पूर्ववत् सु आकर।
विभ्राज् सु — हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६)।
विभ्राज — व्रश्चभ्रस्जसृजमृज० (८।२।३६), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१)।
विभ्राष् — झलां जशोऽन्ते (८।२।३९), वावसाने (८।४।५५) लगकर—
विभ्राट् — बना ॥

'औ' विभक्ति में 'विभ्राजौ' बनेगा। 'भास्' धातु से पूर्ववत् सब होकर 'भास् क्विप् सु' रहा। पूर्ववत् ही क्विप् के व् तथा सु का लोप होकर—'भास्' रहा। स को रुत्व विसर्जनीय होकर 'भाः' (प्रकाश) बन गया। 'विद्युत्' (बिजली) में कुछ भी विशेष नहीं है ॥

'ऊर्ज्' धातु से क्विप्, चोः कुः (८।२।३०) से ग्, तथा वावसाने (८।४।५५) से ग् को क् होकर 'ऊर्क्' (बलवान्) बन गया ॥

'जु' सौत्र धातु है। उसको इसी सूत्र के निपातन से दीर्घ भी होकर 'जूः'

(गतिशील) बनता है ।। ग्रावस्तुत् (ऋत्विग्-विशेष) में 'ग्राव' उपपद रहते 'स्तु' धातु से क्विप् हुआ है । ह्रस्वस्य पिति० (६।१।६९) से तुक् आगम हो ही जायेगा ।।

धूः (मारनेवाला)

धुर्वी भूवादयो० (१।३।१), भ्राजभास०से क्विप् होकर—
धुर्व् क्विप् राल्लोप: (६।४।२१) से रेफ से उत्तर 'व्' का लोप होकर—
धुर् व् सु वेरपृक्तस्य (६।१।६५), हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) लगकर—
धुर् वोंरुपधाया दीर्घ इक: (८।२।७६),खरवसानयो०(८।३।१५) होकर—
धूः बना ।।

'पृ' धातु को उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७।१।१०२), उरण्रपर: (१।१।५०) से उत्व रपरत्व होकर 'पुर्' बना । पूर्ववत् दीर्घत्वादि होकर 'पूः' (पालन करनेवाला) बन गया ।।

—:०:—

परि० दाम्नीशस० (३।२।१८२)

दा ष्ट्रन, यहां ष: प्रत्ययस्य (१।३।६) से ष् की इत् संज्ञा हो जाने पर ष्टुत्व होकर जो त् को ट् हो गया था, वह भी 'त्' रह गया । तो दात्र सु='दात्रम्' बन गया ।।

'योक्त्रम्' में चो: कु:(८।२।३०) से युज् के 'ज्' को ग् होकर, खरि च(८।४।५४)से 'क्' हुआ है ।।

मेढ्रम् (बादल)

मिह भूवादयो० (१।३।१), दाम्नीशस० से ष्ट्रन् प्रत्यय होकर—
मिह् ष्ट्रन् =मिह् त्र पुगन्तलघू० (७।३।८६)। हो ढ: (८।२।३१) ।
मेढ् त्र झषस्तथोर्धोऽध: (८।२।४०) लगकर—
मेढ ध्र ष्टुना ष्टु: (८।४।४०) ।
मेढ् ढ्र ढो ढे लोप: (८।३।१३) । पूर्ववत् 'सु' आकर, सु को अम् होकर—
मेढ्रम् बना ।।

'दंष्ट्रा' में ष्ट्रन् के षित् होने से स्त्रीलिङ्ग में षिद्गौरा० (४।१।४१) से ङीष् की प्राप्ति थी । परन्तु दंष्ट्रा का अजादिगण में पाठ होने से अजाद्यतष्टाप्(४।१।४) से टाप् हो जाता है ।।

नद्ध्रम

नह् ष्ट्रन्=नह् त्र नहो धः (८।२।३४), झषस्त० (८।२।४०)।
नध् ध्र झलां जश् झशि (८।४।५२) लगकर —
नद् ध्र सु=नद्ध्रम् बन गया ॥

—:०:—

तृतीयः पादः

परि० कर्मव्यतिहारे णच्० (३।३।४३)

व्यावक्रोशी (आपस में चिल्लाना)

कुश भूवादयो० (१।३।१), कर्मव्यतिहारे णच्०, प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।
कुश णच् पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से गुण।
वि अव क्रोश कुगतिप्रादयः (२।२।१८), इको यणचि (६।१।७४)।
व्यवक्रोश णचः स्त्रियामञ् (५।४।१४) से णजन्त व्यवक्रोश शब्द से अञ् प्रत्यय होकर व्यवक्रोश अञ् बना ॥
व्यवक्रोश् अ अव न य्वाभ्यां पदा० (७।३।३) से यहाँ ऐच् आगम आदि अच् को प्राप्त हुआ। पर न कर्मव्यतिहारे० (७।३।६) से निषेध हो गया। तब तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७) से वृद्धि होकर—
व्यावक्रोश कृत्तद्धितस० (१।२।४६), टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से ङीप्।
व्यावक्रोश ङीप् सु=व्यावक्रोश ई स् यस्येति च (६।४।१४८), हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) लगकर—
व्यावक्रोशी बन गया ॥

इसी प्रकार 'लिख अक्षरविन्यासे' धातु से व्यावलेखी (आपस में मिलकर लिखना); 'हसे हसने' से व्यावहासी (आपस में मिलकर हँसना) की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० अभिविधौ० (३।३।४४)

सांकूटिनम् (चारों ओर से जलाना)

कूट दाहे भूवादयो० (१।३।१), अभिविधौ भाव इनुण् से इनुण् प्रत्यय।
कूट इनुण्=कूट इन् कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से सम् तथा कूटिन् का समास हुआ।
समकूटिन् कृत्तद्धितसमा० (१।२।४६), अणिनुणः (५।४।१५), प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२)।
समकूटिन् अण् नस्तद्धिते (६।४।१४४) से टि भाग (इन्) का लोप अण् परे रहते प्राप्त हुआ। जिसका इनण्यनपत्ये (६।४।१६४) से प्रकृतिभाव अर्थात् निषेध हो गया। तद्धितेष्वचा० (७।२।११७), मोऽनुस्वारः (८।३।२३) से अनुस्वार।
सांकूटिन पूर्ववत् सु आकर, सु को अतोऽम् (७।१।२४) से अम् होकर—
सांकूटिनम् बन गया॥

इसी प्रकार 'रु' धातु को इनुण् परे रहते अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि, एवं आवादेश होकर—'राविन्' बना। शेष सब पूर्ववत् होकर सांराविणम् (चारों ओर से शोर होना) की सिद्धि जानें। अट् कुप्वाङ्नु० (८।४।२) से यहाँ णत्व भी हो जायेगा॥

—:o:—

परि० कृञः श च (३।३।१००)

क्रिया

डुकृञ् भूवादयो० (१।३।१), कृञः श च से श प्रत्यय भाव में हुआ।
कृ श भाव में होने से सार्वधातुके यक् (३।१।६७) से यक् प्रत्यय हुआ है।
कृ यक् श=कृ य अ, रिङ् शयग्लिङ्क्षु (७।४।२८), ङिच्च (१।१।५२)।
क् रिङ् य अ अजाद्यतष्टाप् (४।१।४) से टाप्।
क् रि य अ टाप्=क्रिय अ आ, अतो गुणे (६।१।९४), अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७)।
क्रिया बना॥

प्रकृत सूत्र में 'भावे' तथा 'अकर्त्तरि च कारके' दोनों का अधिकार है। सो भाव में यक् करके सिद्धि प्रदर्शित कर दी। इसी प्रकार कर्म में भी सार्वधातुके० (३।१।६७) से यक् होकर पूर्ववत् कार्य होते हैं। परन्तु जब करणादि कारकों में 'श' होगा, तब यक् न होकर निम्न प्रकार सिद्धि होगी—

कृ श पूर्ववत् रिङ् आदेश होकर—
क्रि अ अचि श्नुधातुभ्रुवां० (६।४।७७), ङिच्च (१।१।५२)।
क्रियङ् अ अजाद्यतष्टाप् (४।१।४) से टाप्।
क्रिय् अ टाप् = क्रिया बना ॥

क्यप् पक्ष में ह्रस्वस्य पिति० (६।१।६९) से तुक् आगम होकर 'कृत्या' बना है। महाभाष्य वचन से क्तिन् प्रत्यय करने पर 'कृतिः' बन ही जायेगा ॥

—:०:—

परि० रोगाख्यायां० (३।३।१०८)

'प्र पूर्वक छर्द वमने', 'वि पूर्वक चर्च अध्ययने' से सत्याप···चुरादिभ्यो णिच् (३।१।१२५) से णिच् होकर, प्रकृत सूत्र से ण्वुल होगा। णेरनिटि (६।४।५१) से णि का लोप हो ही जायेगा। शेष सिद्धि परि० ३।२।१६ के 'शायिका' के समान होकर 'प्रच्छर्दिका' (वमन रोग); 'विचर्चिका' (दाद) बना है। प्रच्छर्दिका में छे च (६।१।७१) से तुक् आगम, एवं श्चुत्व भी हो जायेगा। 'वह प्रापणे' से इसी प्रकार 'प्रवाहिका' (पेचिश) की सिद्धि जानें। केवल यहाँ हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् प्रत्यय होगा, यही विशेष है ॥

शिरोर्त्तिः (सिर पीड़ा का रोग)

प्रकृत सूत्र में बहुल कहने से जब रोग की आख्या गम्यमान होने पर भी ण्वुल् नहीं हुआ, तो 'अर्द' धातु से स्त्रियां क्तिन् (३।३।९४) से क्तिन् प्रत्यय, तितुत्र० (७।२।९) से इट् निषेध, तथा खरि च (८।४।५४) से द् को त् होकर 'अर्त्तिः' बना। पश्चात् शिरस् शब्द के साथ शिरसः अर्त्तिः = 'शिरोर्त्तिः' ऐसा विग्रह करके षष्ठीसमास हो गया। शिरस् के स् को ससजुषो रुः (८।२।६६) से रु, तथा अतो रोरप्लुतादप्लुते (६।१।१०९) से उत्व, एवं आद् गुणः (६।१।८४), एङः पदान्तादति (६।१।१५०) लगकर 'शिरोर्त्तिः' बन गया ॥

—:०:—

परि० पुंसि संज्ञायां० (३।३।११८)

दन्तच्छदः (होठ)

छद अपवारणे भूवादयो० (१।३।१), सत्याप···चुरादिभ्यो णिच् (३।१।२५)।

छद् णिच् अत उपधाया: (७।२।११६), सनाद्यन्ता धातव: (३।१।३२)।
दन्त शस् छादि पुंसि संज्ञायां घ:०, उपपदमतिङ् (२।२।१६)।
दन्तच्छादि घ छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य (६।४।९६) से छाद् अङ्ग की उपधा को ह्रस्व होकर—
दन्तछदि अ णेरनिटि (६।४।५१), छे च (६।१।७१), स्तो: श्चुना० (८।४।३९) होकर—
दन्तच्छद सु=दन्तच्छद: बन गया ॥

इसी प्रकार 'उरस्' उपपद रहते स् को श्चुत्व होकर 'उरश्छद:' (कवच) की सिद्धि जानें ॥ आङ् पूर्वक 'कृ' धातु से 'आकर:' (खान), तथा 'लीं श्लेषणे' धातु से 'आलय:' (घर) की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० विभाषा कथमि० (३।३।१४३)

क्रोशेत् की सिद्धि परि० (३।१।६८) के पठेत् के समान, तथा अक्रोशत् की सिद्धि अपठत् के समान जानें ॥

क्रोक्ष्यति

क्रुश आह्वाने रोदने च यहाँ परि० १।३।९२ के वर्त्स्यति के समान सब कार्य होकर—
क्रुश् स्य ति पुगन्तलघू० (७।३।८६) से गुण होकर—
क्रोश् स्य ति व्रश्चभ्रस्जसृजमृज० (८।२।३६), अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१)।
क्रोष् स्य ति षढो: क: सि (८।२।४१) लगकर—
क्रोक् ष्य ति=क्रोक्ष्यति बना ॥

लुट् लकार में 'क्रोष्टा' की सिद्धि परि० १।१।६ के समान ही जानें। केवल ८।२।३६ से षत्व, तथा ष्टुना ष्टु: (८।४।४०) से ष्टुत्व करना ही यहाँ विशेष है ॥

लुङ् लकार के 'अक्रुक्षत्' में शल इगुपधादनिट: क्स: (३।१।४५) से च्लि के स्थान में 'क्स' होकर—'अट् क्रुश् क्स त्= अ क्रुष् स त्' रहा। पूर्ववत् ही ष् को 'क्' होकर 'अक्रुक् स त्' रहा। षत्व होकर 'अक्रुक्षत्' बन गया ॥

लिट् लकार में णल् परे रहते 'चुक्रोश' की सिद्धि परि० १।१।५८ के चक्रतु:

के समान ही जानें। केवल यहाँ द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) की प्राप्ति नहीं। एवं लघूपध गुण होता है, यही विशेष है ॥

—:०:—

परि० अधीष्टे च (३।३।१६६)

अध्यापय

अधि इङ् परि० २।४।५१ के अध्यापिपत् के समान 'अध्यापि' धातु बनकर प्रकृत सूत्र से लोट् प्रत्यय हुआ।

अध्यापि लोट् पूर्ववत् लोट् के स्थान में लादेश 'सिप्' तथा शप् होकर—

अध्यापि शप् सिप् सेर्ह्यपिच्च (३।४।८७), सार्वधातुका० (७।३।८४)।

अध्यापे अ हि एचोयवायाव: (६।१।७५), अतो हे: (६।४।१०५) लगकर—

अध्यापय बन ॥

'हु' धातु से परि० १।१।६२ के जुहुत: के समान लोट् लकार में 'जु हु सि' बनकर, पूर्ववत् सि को 'हि' हो गया। तत्पश्चात् हुझल्भ्यो हेर्धि: (६।४।१०१) से हि को धि होकर 'जुहुधि' बन गया ॥

—:०:—

परि० क्तिच्क्तौ च० (३।३।१७४)

तन्ति: (लम्बी फैली हुई रस्सी)

तनु विस्तारे भूवादयो० (१।३।१), क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् से क्तिच्।

तन् क्तिच्=तन् ति अनुनासिकस्य क्विझलो:० (६।४।१५) से यहाँ 'तन्' अङ्ग को दीर्घ, तथा अनुदात्तोपदेश० (६।४।३७) से अनुनासिक लोप प्राप्त हुआ। जिनका न क्तिचि दीर्घश्च (६।४।३९) से निषेध हो गया। तो पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर—

तन्ति: बन गया ॥

'षणु दाने' धातु से धात्वादे ष: स: (६।१।६२) से स् को स, तथा पूर्ववत् सब होकर 'सन् ति' बना। सन: क्तिचि लोपश्चा० (६।४।४५) से 'न्' के स्थान में आत्व होकर 'साति:' (दान) बन गया ॥

इसी प्रकार भूति: (अणिमादि आठ ऐश्वर्य) की सिद्धि भी जानें ॥ डुदाञ्' धातु से प्रकृत सूत्र से क्त प्रत्यय होकर दा क्त=दात रहा। दो दद् घो: (७।४।४६) से

'दा' को दद् आदेश, तथा खरि च (८।४।५५) से चर्त्व होकर 'दत्तः' बना है। देवैः दत्तः=देवदत्तः, तृतीया तत्पुरुष समास होकर बन गया ॥

—:o:—

चतुर्थः पादः

परि० भव्यगेयप्रवच० (३।४।६८)

'भू' धातु से अचो यत् (३।१।९७) से यत् प्रत्यय। तथा गुण होकर 'भो य' रहा। धातोस्तन्निमि० (६।१।७७) से अवादेश होकर 'भव्यम्' बना है ॥

'गेयम्' की सिद्धि परि० ३।१।९७ में देखें ॥ 'उप पूर्वक स्था' धातु तथा 'प्र पूर्वक वच' धातु से तव्यत्तव्यानीयरः(३।१।९६)से अनीयर प्रत्यय होकर उपस्थानीयः, प्रवचनीयः बना है ॥

'जन्यः' में तकिशसिचतियतिजनीनामुपसङ्ख्यानम् (वा० ३।१।९७) इस वार्त्तिक से यत् प्रत्यय हुआ है। 'आप्लाव्यः' में 'आङ् पूर्वक प्लु' धातु से ओरावश्यके (३।१।१२५) से ण्यत् प्रत्यय हुआ है। प्लु को प्लौ वृद्धि होकर पूर्ववत् आवादेश धातोस्तन्नि० (६।१।७७) से हो गया ॥

'आङ् पूर्वक पत्लृ' धातु से ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) से ण्यत प्रत्यय होकर 'आपात्यः' बना है ॥ प्रकृत सूत्र से ये शब्द कर्त्ता में, तथा पक्ष में भाव कर्म में होते हैं ॥

—:o:—

परि० गत्यर्थाकर्म० (३।४।७२)

'गतः' में 'गम्' के अनुनासिक का लोप अनुदात्तोपदे० (६।४।३७)से हो जाता है ॥ व्रज इट् क्त='व्रजितः' बना है ॥ 'ग्लै' धातु को आदेच उप० (६।१।४४) से आत्व होकर क्त प्रत्यय होता है। पुनः निष्ठा के त् को संयोगादेरातो० (८।२।४३) से न् होकर 'ग्लानः' बना है ॥ 'श्लिष' धातु से 'उपश्लिष्टः' में ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से ष्टुत्व करना ही विशेष है ॥ 'शीङ्' धातु से परे निष्ठा प्रत्यय निष्ठा शीङ्स्विदि० (१।२।१९) से कित् नहीं माना जाता। अतः 'शी' को सार्वधातु० (७।३।८४) से गुण, एवं अयादेश होकर 'शयितः' बना है ॥

'उपस्थितः' में 'स्था' धातु के आ को द्यतिस्यतिमास्था० (७।४।४०) से इत्व होकर 'उप स्थित'=उपस्थितः बना है ।।

'अनु पूर्वक वस' धातु से वचिस्वपि० (६।१।१५) से सम्प्रसारण, तथा वसतिक्षुधोरिट् (७।२।५२) से इट् आगम होकर 'अनु उस् इट् त' रहा । शासिवसिघसी० (८।३।६०) से षत्व, तथा सवर्ण दीर्घ होकर 'अनूषितः' बना है ।।

'अनुजातः' में जनसनखनां० (६।४।४२) से जन् के 'न्' को आत्व हो जाता है ।।

आरूढः

रुह भूवादयो० (१।३।१), निष्ठा (३।२।१०२) ।
आङ् रुह् क्त हो ढः (८।२।३१), झषस्तथोर्धो० (८।२।४०) ।
आ रुढ् ध ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) लगकर—
आ रुढ् ढ ढो ढे लोपः (८।३।१३), ढ्लोपे पूर्वस्य० (६।३।१०६) लगकर—
आरूढ सु=आरूढः बन गया ।।

'जॄ' धातु को ॠत इद् धातोः (७।१।१००) से इत्व, एवं उरण्रपरः (१।१।५०) से रपरत्व होकर 'जिर् त' रहा । हलि च (८।२।७७) से दीर्घ, एवं रदाभ्यां निष्ठातो० (८।२।४२) से निष्ठा को नत्व होकर 'अनुजीर्न' बना । रषाभ्यां नो० (८।४।१) से णत्व होकर 'अनुजीर्णः' बन गया ।।

सर्वत्र प्रकृत सूत्र से क्त प्रत्यय कर्त्ता एवं यथाप्राप्त भाव कर्म में हुआ है, यही प्रयोजन है ।।

—:०:—

परि० ब्रुवः पञ्चानां० (३।४।८४)

आत्थ (तुम बोलते हो)

ब्रूञ् लट्=ब्रू शप् सिप् प्रकृत सूत्र से सिप् को थल्, तथा ब्रू को 'आह' आदेश होकर, अदिप्रभृ० (२।४।७२) से शप् का लुक् हुआ ।
आह थल् आहस्थः (८।२।३५) से ह को 'थ्' होकर—
आथ् थ खरि च (८।४।५४) लगकर—
आत्थ बना ।।

ब्रवीति (बोलता है)

'ब्रू शप् तिप्' पूर्ववत् होकर अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२) से शप् का लुक्

हो गया। ब्रुव ईट् (७।३।९३) से हलादि पित् सार्वधातुक 'तिप्' को ईट् आगम होकर 'ब्रू ईट् ति' रहा। गुण एवं अवादेश होकर 'ब्रवीति' बन गया॥

इसी प्रकार ब्रवीषि, ब्रवीमि में भी जानें। ब्रुवन्ति में अचि श्नुधातु० (६।४।७७) से उवङ् आदेश होता है॥

—:०:—

परि० सेर्ह्यपिच्च (३।४।८७)

लुनीहि (तुम काटो)

लूञ्　भूवादयो० (१।३।१)। पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

लू सिप्　क्र्यादिभ्यः श्ना (३।१।८१) लगकर—

लू श्ना सि　सेर्ह्यपिच्च से सि को हि आदेश, तथा सिप् के पित् होने से स्थानिवत् से जो हि को पित् प्राप्त था, उसको यहाँ अपित् कर दिया। प्वादीनां ह्रस्वः (७।३।८०) लगकर—

लु ना हि　हि के अपित् हो जाने से सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से 'हि' ङिद्वत् हो गया। तो ई हल्यघोः (६।४।११३) से 'ना' के 'आ' को ईत्व होकर—

लुनीहि　बन गया॥

इसी प्रकार 'पुनीहि' में भी जानें। 'राध' धातु स्वादिगण की है, सो स्वादिभ्यः श्नुः (३।१।७३) से श्नु विकरण, तथा शेष पूर्ववत् होकर, 'राध्नुहि' बना है। तनूकरणे तक्षः (३।१।७६) से 'तक्ष्णुहि' में श्नु विकरण होता है। रषाभ्यां० (८।४।१) से णत्व भी यहाँ हो जायेगा॥

—:०:—

परि० आडुत्तमस्य पिच्च (३।४।९२)

करवाणि

डुकृञ्　भूवादयो० (१।३।१)। पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—

कृ मिप्　तनादिकृञ्भ्य उः (३।१।७९)। आडुत्तमस्य पिच्च।

कृ उ आट् मि सार्वधातुका० (७।३।८४), उरण्रपरः (१।१।५०), मेर्निः (३।४।८९)।

कर् उ आ नि पुनः 'आनि' को निमित्त मानकर 'उ' को गुण हुआ।

कर् ओ आ नि एचोयवायाव: (६।१।७५), अट् कुप्वाङ्० (८।४।२) लगकर—
कर् अव् आ णि=करवाणि बन गया ॥

वस् मस् में इसी प्रकार 'करवाव करवाम' की सिद्धि जानें। केवल यहां प्रकृत सूत्र से आट् के पित् माने जाने से सार्वधातुकमपित् (१।२।४) नहीं लगता। अतः गुण हो जाता है ॥

—:०:—

परि० आत ऐ (३।४।९५)

एधिषैते

एध भूवादयो० (१।३।१), धातोः(३।१।९०), लिङर्थे लेट् (३।४।७)।
एध् लेट् लस्य (३।४।७७), तिप्तस्झि० (३।४।७८) आदि पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
एध् आताम् सिब्बहुलं लेटि (३।१।३४), आर्धधातुकं शेषः(३।४।११४)।
एध् सिप् आताम् आर्धधातुस्येड० (७।२।३५), आद्यन्तौ० (१।१।४५)।
एध् इट् सिप् आताम् लेटोऽडाटौ (३।४।९४) लगकर—
एध् इ स् अट् आताम् आत ऐ से आताम् के 'आ' को 'ऐ' होकर—
एधिस् अ ऐ ताम् टित आत्मनेपदानां० (३।४।७९), आदेशप्र० (८।३।५९)।
एधिष ऐ त् ए =एधिष ऐ ते वृद्धिरेचि (६।१।८५) लगकर—
एधिषैते बना ॥

जिस पक्ष में लेटोऽडाटौ (३।४।९४) से आट् आगम हुआ, उस पक्ष में पूर्ववत् ही सब कार्य होकर आट् के 'आ' एवं 'ऐ' को वृद्धि एकादेश होकर एधिषैते' ही रूप बनेगा। 'आथाम्' में भी इसी प्रकार सिद्धि होकर 'एधिषैथे' रूप बनेगा। जिस पक्ष में सिप् नहीं होगा, उस पक्ष में शप् विकरण होकर पूर्ववत् सारे कार्य होकर 'एध् शप् अट् ऐ त ए=एध अ ऐ ते' रहा। वृद्धि एकादेश होकर 'एधैते' बन गया। आट् पक्ष में भी 'एधैते' ही रूप बनेगा ॥

—:०:—

परि० वैतोऽन्यत्र (३।४।९६)

एधिषतै

एध् इट् सिप् अट् त पूर्ववत् होकर टित आत्मनेपदानां० (३।४।७९)।

एधिस् अ ते वैतोऽन्यत्र से टित आत्मनेपदा० (३।४।७९) सूत्र से किये हुए ए को 'ऐ' होकर—

एधिस तै आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) लगकर—
एधिष तै=एधिषतै बना ॥

आट् पक्ष में 'एधिषातै' बना। जब सिप् नहीं हुआ, तो शप् होकर 'एध् शप् अट तै'=एध् अ अ तै रहा। अतो गुणे (६।१।९४) लगकर 'एधतै' बना। आट् पक्ष में 'एधातै' बनेगा। इसी प्रकार झ (अन्त), थास् आदि में समझें। सर्वत्र टित आत्म० (३।४।७९) से किये हुये ए को ऐ होगा ॥

वैतोऽन्यत्र से जिस पक्ष में टित आत्मने० से किये हुए 'ए' को 'ऐ' नहीं होता, उस पक्ष में 'एधिषते, एधिषाते' आदि रूप पूर्ववत् बने हैं। कोई विशेष नहीं है ॥

ईशै

ईश पूर्ववत् शप् पक्ष में उत्तम पुरुष का इट् आकर—
ईश् शप् अट् इट् अदि प्रभृति० (२।४।७२) से शप् लुक्। टित आत्मनेपदानां० (३।४।७९) लगकर—
ईश् अ ए वैतोऽन्यत्र लगकर—
ईश् अ ऐ वृद्धिरेचि (६।१।८५) होकर—
ईशै बना ॥

इसी प्रकार 'शीङ्' धातु से गुण होकर 'शयै' बनेगा ॥

गृह्यान्तै

ग्रह उपादाने पूर्ववत् सब सूत्र लगकर—
ग्रह् आट् अन्त कर्मवाच्य में सार्वधातुके यक् (३।१।६७) से यक् प्रत्यय हुआ।
ग्रह् यक् आट् अन्त टित आत्मनेपदानां० (३।४।७९) से टि को एत्व।
ग्रह् य आ अन्ते वैतोऽन्यत्र, अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) लगकर—
ग्रह्य आन्तै यक् के कित् होने से ग्रहिज्यावयि० (६।१।१६) से सम्प्रसारण हुआ। इग्यणः सम्प्रसारणम् (१।१।४४)।
ग् ऋ अ ह् य आन्तै सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४), अकः सवर्णे० (६।१।९७) लगकर—
गृह्यान्तै बना ॥

इसी प्रकार 'वच परिभाषणे' धातु से 'उच्यान्तै' में समझें ॥

दधसे

धा	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर जब सिप् नहीं हुआ, तो शप् होकर—
धा शप् थास्	लेटोऽडाटौ (३।४।९४), जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२।४।७५)।
धा अट् थास्	श्लु अर्थात् अदर्शन होकर श्लौ (६।१।१०) से द्वित्व।
धा धा अ थास्	अभ्यासकार्यादि होकर—
द धा अ थास्	थासः से (३।४।८०) लगकर—
द धा अ से	अब यहाँ वैतोऽन्यत्र से 'से' के ए को ऐ होना चाहिए। पर सूत्र में विकल्प कहने से नहीं हुआ। घोर्लोपो लेटि वा (७।३।७०) से 'धा' के 'आ' का लोप होकर—

दध् अ से=दधसे बना॥

दधसे उत्तरम्	एचोयवायावः (६।१।७५) लगकर—
दधसय् उत्तरम्	लोपः शाकल्यस्य (८।३।१९) से लोप होकर—
दधस उत्तरम्	रहा॥

—:०:—

परि० सिजभ्यस्त० (३।४।१०९)

'डुकृञ्' तथा 'हृञ्' धातुओं से लुङ् लकार में झि आकर, प्रकृत सूत्र से सिच् से उत्तर झि को जुस्, एवं रुत्व विसर्जनीयादि होकर 'अकार्षुः' 'अहार्षुः' बना है। शेष सिद्धि परि० १।१।१ के अकार्षीत् के समान जानें॥

'ञिभी' धातु से 'अबिभयुः', तथा 'हु' धातु से 'अजुहवुः' की सिद्धि लङ् लकार में जानें। परि० १।१।६२ के जुहुतः के समान यहाँ सब द्वित्वादि कार्य होंगे। द्वित्व कर लेने पर उभे अभ्यस्तम् (६।१।५) से द्वित्व किये हुये दोनों की अभ्यस्त संज्ञा हुई। सो प्रकृत सूत्र से अभ्यस्त से उत्तर 'झि' को जुस् हो गया। जुसि च (७।३।८३) से गुण होकर 'अ बि भे उस्' बना। अयादेश होकर 'अबिभयुः' (वे डरे) बना। अवादेश होकर 'अजुहवुः' (उन्होंने दिया) भी इसी प्रकार बना॥

'जागृ' धातु के शप् का लुक् अदिप्रभृतिभ्यः० (२।४।७२) से होकर—'अट् जागृ झि' रहा। जक्षित्यादयः षट् (६।१।६) से जागृ की अभ्यस्त संज्ञा होती है। इस प्रकार अभ्यस्त से उत्तर 'झि' हो जाता है। अतः प्रकृत सूत्र से झि को

जुस् होकर 'अ जागृ उस्' बना। जुसि च (७।३।८३) से गुण पूर्ववत् ही होकर 'अजागरुः' बना ॥

'अट विद् शप् झि' यहाँ भी पूर्ववत् शप् का लुक् होकर 'अविदुः' बन गया ॥

—:o:—

परि० लिट् च (३।४।११५)

'डुपचष्' धातु से 'पेचिथ' तथा 'शक्लृ' धातु से 'शेकिथ' में थल् परे रहते परि० १।१।५८ के चक्रतुः के समान द्वित्वादि कार्य होकर—'प पच् थल्'; 'श शक् थल्' रहा। ऋतो भारद्वाजस्य (७।२।६३) के नियम से इट् आगम, तथा थलि च सेटि (६।४।१२१) से थल् परे रहते अभ्यास-लोप, एवं 'अ' को एत्व होकर 'पेचिथ; शेकिथ' बना है। प्रकृत सूत्र से आर्धधातुक संज्ञा करने का यही प्रयोजन है कि ७।२। ६३ से इट् आगम हो जाये ॥

'ग्लै म्लै' धातु से 'जग्ले मम्ले' की सिद्धि में द्वित्वादि कार्य पूर्ववत् ही हैं। 'त' को लिटस्तझयो० (३।४।८१) से एश् होकर—'ज ग्ला एश्'; 'म म्ला एश्' रहा। प्रकृत सूत्र से एश् की आर्धधातुक (स्थानिवत् होने से) संज्ञा होने से आतो लोप इटि च (६।४।६४) से आकार-लोप होकर जग्ल् ए=जग्ले; मम्ल् ए=मम्ले बना है ॥

—:o:—

परि० छन्दस्युभयथा (३।४।११७)

वर्धन्तु

'वृधु' धातु से वर्धन्तु में हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् आकर, एवं गुण होकर 'वर्धि लोट्=वर्धि झि' रहा। झोऽन्तः (७।१।३), तथा एरुः (३।४।८६) लगकर—'वर्धि अन्तु' रहा। यहाँ प्रकृत सूत्र से अन्तु की आर्धधातुक संज्ञा होने से णेरनिटि (६।४।५१) से णि का लोप हो गया। तथा शप् विकरण नहीं हुआ, तो 'वर्ध् अन्तु'=वर्धन्तु बन गया ॥

स्वस्ति

'अस्' धातु से स्त्रियां क्तिन् (३।३।९४) से क्तिन् प्रत्यय होकर—'सु अस् क्तिन्' रहा। यणादेश होकर 'स्वस्ति' बन गया। यहाँ क्तिन् की आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४) से आर्धधातुक संज्ञा प्राप्त थी, पर छन्द में प्रकृत सूत्र से सार्वधातुक संज्ञा ही हुई। तो अस्तेर्भूः (२।४।५२) से अस् को भू आदेश नहीं हुआ। साथ ही आर्द्धधातुक संज्ञा भी होने से श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) से अकार लोप नहीं हुआ ॥

विश्रृण्विरे

'श्रु' धातु से लिट् लकार में 'विश्रृण्विरे' रूप बना है। लिट् की लिट् च (३।४।११५) से आर्धधातुक संज्ञा प्राप्त थी। पर प्रकृत सूत्र से सार्वधातुक हो जाने से श्रुवः शृ च (३।१।७४) से श्रु को शृ आदेश तथा श्नु विकरण हो गया, तो 'वि शृ न इरेच्' रहा। हुश्नुवोः० (६।४।८७) से यणादेश एवं णत्व होकर 'विश्रृण्विरे' बन गया। 'सुन्विरे' में पूर्ववत् ही सार्वधातुक संज्ञा होने से श्नु विकरण हो गया है। यहाँ विकरण का व्यवधान होने से धातु से अव्यवहित लिट् परे नहीं है। अतः लिटि धातो० (६।१।८) से द्वित्व नहीं होता॥

उपस्थेयाम

पूर्ववत् लिङ् लकार में सब कार्य होकर—'उप स्था यासुट् मस्' रहा। प्रकृत सूत्र से आर्धधातुक संज्ञा होने से एर्लिङि (६।४।६७) से स्था के आ को एत्व होकर—'उप स्थे यास् मस्' रहा। यहाँ छान्दस प्रयोग होने से लिङ्याशिष्यङ् (३।१।८६) से प्राप्त अङ् नहीं होता। लिङाशिषि (३।४।११६) से यहाँ भी लिङ् की आर्धधातुक संज्ञा प्राप्त थी। पर प्रकृत सूत्र से सार्वधातुक संज्ञा होने से लिङः सलोपो० (७।२।७९) से सकार लोप हो गया, तो 'उपस्थेयाम' बन गया॥

इति तृतीयाध्याय-परिशिष्टम्॥

—:०:—

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित

वेदांग वाङ्मय

१. **शिक्षासूत्राणि-आपिशल-पाणिनीय-चान्द्र** १०.००
२. **निघण्टु-निर्वचनम्**- देवराजयज्वाकृत १५०.००
३. **निरुक्त-श्लोकवार्त्तिकम्**- नीलकण्ठ १५०.००
४. **निरुक्त-समुच्चयः**- वररुचिकृत ३०.००
५. **अष्टाध्यायीसूत्रपाठः** १२.००
६. **अष्टाध्यायीभाष्य**- (संस्कृत-हिन्दी) पाणिनीय-अष्टाध्यायी-सूत्र-वृत्ति (पदच्छेद-समास-अर्थ-उदाहरण-सिद्धि) प्रथमभाग १४०.००
द्वितीयभाग ८०.००, तृतीयभाग १००.००
७. **पारिभाषिकः**-व्याख्याकार-आचार्य प्रद्युम्न। व्याकरण की परिभाषाओं की प्रामाणिक व्याख्या- ६०.००
८. **काशिका**-वामनजयादित्य- सं०- आचार्य विजयपाल जी ५००.००
९. **माधवीया धातुवृत्तिः**- सं०- आचार्य विजयपाल जी ५००.००
१०. **महाभाष्य**-यु०मी० कृत हिन्दीव्याख्यासहित- (दो अध्याय)प्रथमभाग(१) ६५.००, (२) ६०.००, द्वितीयभाग ८०.००, तृतीयभाग ८०.००
११. **वैदिक स्वरमीमांसा**- पं० युधिष्ठिर मीमांसक ६०.००
१२. **अष्टाध्यायी-शुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः**- ५०.००
१३. **धातुपाठः** (धातुसूचीसहित) १०.००
१४. **क्षीरतरंगिणी** (धातुपाठ-व्याख्या) ८०.००
१५. **धातुप्रदीप-धातुपाठवृत्ति**- मैत्रेयरक्षित ६०.००
१६. **संस्कृत-धातु-कोष**-युधिष्ठिर मीमांसक ३०.००
१७. **संस्कृतपठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि**
प्रथमभाग, ३५.००, द्वितीयभाग ५०.००
प्रथमभाग का अंग्रेजी अनुवाद ८०.००
१८. **उणादिकोष**-ऋषि दयानन्द ४०.००
१९. **दशपाद्युणादिवृत्ति-संग्रह**-प्रथमभाग (माणिक्यदेव विरचित अति प्राचीन वृत्ति, अनेक परिशिष्टों के साथ) सं०- यु०मी०, चन्द्रदत्त शर्मा ६०.००
द्वितीय भाग में तीन प्राचीन वृत्तियों का संग्रह ६०.००
२०. **संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास**- प्रथमभाग २००.००,
द्वितीयभाग २००.००
२१. **वैदिकवाङ्मय में प्रयुक्त स्वरांकन प्रकार**- पं० यु० मी० १२.००